THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_176761
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5.000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H294.592 A66G Accession No. P. G. H469

Author अरविंद

Title गीता प्रबन्ध . प्र. भा. 1948.

This book should be returned on or before the date last marked below.

गीता-प्रबंध

(ESSAYS ON THE GITA)

प्रथम भाग

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द-ग्रंथमाला
पांडीचेरी

प्रकाशक
चन्द्रदीप
श्रीअरविन्द-ग्रन्थमाला
पांडीचेरी

२४ अप्रेल १९४८

द्वितीय संस्करण
१०००

मूल्य
६॥) साढ़े छः रुपया

प्रकाशकका वक्तव्य

गीतापर श्रीअरविन्दकी एक लेखमाला "एसेज आन दी गीता" शीर्षक 'आर्य' पत्रिकामें सन् १९१६ से सन् १९२० तक प्रकाशित हुई थी जो पीछे पुस्तकाकार दो भागोंमें छपी। इसी पुस्तकके प्रथम भागका यह हिन्दी रूपांतर है। इससे पाठकोंको गीतामें एक नया प्रकाश मिलेगा, दार्शनिक परिभाषाके रूपमें नहीं, बल्कि जीवनके, उच्चतम आध्यात्मिक जीवनके पथप्रदर्शकके रूपमें। श्रीअरविन्दकी व्याख्याके अनुसार गीताकी शिक्षा जगत् और उसकी वास्तविकतासे मुंह मोड़नेको नहीं कहती न यही कहती है कि नैतिक और मानसिक भावोंसे परिचालित कर्म ही जीवनका लक्ष्य है, बल्कि गीताका आदर्श है कामनारहित होकर तथा भागवत चेतनाके साथ एक होकर इस पृथ्वीपर भगवान्के संकल्पको चरितार्थ करनेके लिये कर्म करना।

हमें विश्वास है कि सत्यके जिज्ञासु पाठकोंको इस पुस्तकसे यथेष्ट लाभ होगा।

"गीता नीतिशास्त्र या आचारशास्त्रका ग्रंथ नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक जीवनका ग्रंथ है।...वास्तवमें यह ग्रंथ मूलतः एक योगशास्त्र है और जिस योगका यह उपदेश करता है उसकी इसमें व्यावहारिक पद्धति बतायी गयी है, और जो तात्त्विक विचार इसमें आये हैं वे इसके योगकी व्यावहारिक व्याख्या करनेके लिये ही लिये गये हैं।...इसमें ज्ञान और भक्तिके भवनको कर्मकी नींवपर खड़ा किया गया है और कर्मको भी कर्मकी जो परिसमाप्ति है उस ज्ञानमें ऊपर उठाकर रखा गया है तथा कर्मका पोषण उस भक्तिद्वारा किया गया है जो कर्मका प्राण है और जहांसे कर्म उद्भूत होते हैं।"

—श्रीअरविन्द

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
गीतासे हमारी आवश्यकता और माग	...	३
भगवान् गुरु	...	१६
मानव-शिष्य	...	२८
उपदेशका सारमर्म	...	४२
कुरुक्षेत्र	...	५७
मनुष्य और जीवन-संग्राम	...	६९
आर्यक्षत्रियधर्म	...	८४
सांख्य और योग	...	१००
साख्य योग और वेदात	...	११८
बुद्धियोग	...	१३६
कर्म और यज्ञ	...	१५१
यज्ञ-रहस्य	...	१६४
यज्ञके अधीश्वर	...	१७८
दिव्य कर्मका सिद्धात	...	१९३
अवतारकी सभावना और हेतु	...	२१०
भगवान्की अवतरण-प्रणाली	...	२२८
दिव्य जन्म और दिव्य कर्म	...	२४३
दिव्य कर्मी	...	२५६
समत्व	...	२७२
समत्व और ज्ञान	...	२८९
प्रकृतिका नियंतृत्व	...	३०७
त्रैगुणातीत्य	...	३२५
निर्वाण और ससारमे कर्म	...	३३९
कर्मयोगका सारतत्त्व	...	३५७

गीता-प्रबंध

प्रथम भाग

गीतासे हमारी आवश्यकता और मांग

ससारमे कितने ही सद्ग्रथ है वैदिक और लौकिक भी, कितने ही आगम-निगम और स्मृति-पुराण है, कितने ही धर्म और दर्शन-शास्त्र है, कितने ही मत, पंथ और सप्रदाय है। इन सबमे अध-कचरे ज्ञानी अथवा सर्वथा अज्ञानी मनुष्योके विविध मन ऐसी अनन्यबुद्धि और आवेशसे अपने-आपको आबद्ध किये हुए है कि जो कोई जिस ग्रंथ या मतको मानता है उसीको वह सब कुछ जानता है, उसके परे और भी कुछ है इसको देख ही नही पाता, और अपने चित्तमे ऐसा हठ पकडे रहता है कि बस यही एकमात्र ग्रथ भगवान्का सनातन वचन है और बाकी सब ग्रंथ या तो केवल ढोग हैं या यदि उनमे कही कोई भगवत्प्रेरणा या भाव है तो वह अधूरा है, और इसी तरहसे ऐसा हठ कि हमारा यह अमुक दर्शन ही बुद्धिकी पराकाष्ठा है—बाकी सब दर्शन या तो केवल भ्रम है अथवा उनमें यदि कही कोई आशिक सत्य है तो वह उतना ही है जितना कि हमारे इस एकमात्र सच्चे दार्शनिक संप्रदायके अनुकूल है। भौतिक विज्ञानके आविष्कारोंका भी एक संप्रदाय-सा ही बन गया है और उसके नामपर धर्म और अध्यात्मको अज्ञान और अंधविश्वास, तथा दर्शनशास्त्रोको कूड़ाकरकट और ख्याली पुलाव कहकर उड़ा दिया गया है। और बड़े मजेकी बात तो यह है कि बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग भी, प्रायः इन स्वमताग्रही नान्यद्वादों और व्यर्थके झगड़ोंमें पड़कर इन्हें पुष्टि देते रहे हैं, कोई तमोभाव ही उनके निर्मल सात्विक ज्ञानके प्रकाशमें मिलकर उसे बौद्धिक अहंकार या आध्यात्मिक अभिमानसे आच्छन्न करके उन्हें इस प्रकार विपथगामी बनाता

रहा है। अब अवश्य ही मनुष्य-जाति पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक विनयशील और समझदार होती हुई देख पड़ती है; अब हम लोग अपने भाइयोको ईश्वरीय सत्यके नामपर कत्ल नही करते, न इसलिये मार डालते है कि इनके अत.करणोकी शिक्षा-दीक्षा हम लोगोकी शिक्षा-दीक्षासे भिन्न है या इन अत.करणोका साचा-ढाचा कुछ और ही प्रकारका है, अब हम लोग अपने पडोसियोको, अपनी रायसे भिन्न राय रखनेकी हिमाकत या जुर्रत करनेपर, कोसते या भला-बुरा कहते कुछ सकुचते ही है; अब तो हम लोग यह भी स्वीकार करने लगे है कि सत्य सर्वत्र है, केवल हम ही उसके ठेकेदार नही; अब तो हम दूसरे धर्मो और दर्शनोको, इसलिये नही कि उन्हे केवल झूठा साबित करके बदनाम करे, बल्कि इसलिये देखने लगे है कि देखे इनमे कहा क्या सदुपदेश है और उससे अपनेको क्या सहायता मिल सकती है। परन्तु फिर भी यह कहनेका अभ्यास तो हम लोगोका अभीतक बना ही हुआ है कि हम लोग जिसे सत्य कहते और मानते है वही वह परम ज्ञान है जो अन्य धर्मो या दर्शनोको नही मिला है और यदि मिला भी है तो अशमात्र और अधूरे तौरपर ही, अर्थात् उनमें सत्यके केवल उन गौण और अधस्तन अगोका ही निरूपण है जो निम्न कोटिके अधिकारियोंके लिये ही उपयोगी है या जो हम लोगोंकी इस उच्च कोटिको कालातरमे प्राप्त करानेवाला निम्न साधन मात्र है। और अभीतक हम लोगोकी प्रवृत्ति ऐसी ही बनी हुई है कि जिस किसी सद्ग्रंथ या सदुपदेशका हम लोग आदर करते है उसीको सर्वागसे सर्वथा ब्रह्मवाक्य मानते और सिर आखों उठा लेते है तथा इसी रूपमे उसे दूसरोपर भी जबर्दस्ती लाद देना चाहते है इस आग्रहके साथ कि यह सारा-का-सारा ही इसी रूपमे स्वत.प्रमाण सनातन सत्य है, इसका एक रंच या स्वर भी इधर-से-उधर नही हो सकता, क्योंकि ये सभी उसी एक अपरिमेय प्रेरणाके ही अंश है।

इसलिये, वेद, उपनिषत् अथवा गीता जैसे प्राचीन सद्ग्रथका विचार करनमे प्रवृत्त होते हुए, आरंभमें ही यह बतला देना बहुत

अच्छा होगा कि हम किस विशिष्ट भावसे इस कार्यमें प्रवृत्त हो रहे है और हमारी समझमें इससे मानव-जाति तथा उसकी भावी सन्तति-का क्या वास्तविक लाभ होगा। सबसे पहली बात यह है कि हम निश्चय ही उस परम सत्यको ढूढ रहे है जो एक है और सनातन है जिससे अन्य सब सत्य उद्भूत होते है, जिसके प्रकाशमे ही अन्य सब सत्य परम ज्ञानकी योजनामे अपने-अपने स्थानपर स्थित, निरूपित और सुसंबद्ध दिखायी देते है। परन्तु इसी कारणसे वह परम सत्य किसी एक पैने मूत्रके अदर आबद्ध होकर नही रह सकता अर्थात् यह सभव नही है कि वह परम सत्य सर्वाशमे या सर्वार्थके साथ किसी एक दर्शनशास्त्र या किसी एक सद्ग्रथमे प्राप्त हो जाय, न यही सभव है कि किसी एक गुरु, मनीषी, पैगम्बर या अवतारके मुखसे वह सदाके लिये सर्वाशसे उक्त हुआ हो। और यदि उस परम सत्यके विषयमें हमारी कल्पना या भावना कुछ ऐमी हो कि जिससे अपनेसे इतर संप्रदायोके आधारभूत सत्योके प्रति असहिष्णु होकर हमें उनका बहिष्कार करना पड़ता हो तो यह समझना चाहिये कि हमे उस परम सत्यका पूरा पता चला ही नही, कारण जब हम इस प्रकार अंध आवेशमे आकर किसी सिद्धातका बहिष्कार करनेपर तुल जाते है तब इसका मतलब केवल इतना ही होता है कि हम उसको समझने या समझानेकी पात्रता नही रखते। दूसरी बात यह है कि यह परम सत्य जो यद्यपि है तो एक ही और सनातन, पर वह अपने-आपको इस कालके अदरसे और मनुष्यकी मन-बुद्धिमेसे होकर ही प्रकट करता है, और इसलिये प्रत्येक सद्ग्रथमे दो तरहकी बातें हुआ ही करती है, एक अचिर, नश्वर, देशविशेष और कालविशेषसे ही सबध रखनेवाली, और दूसरी शाश्वत, अविनश्वर, सब कालों और देशोंके लिये समान रूपसे उपयोगी और व्यवहार्य। फिर यह भी बात है कि परम सत्यके विषयमें जब जो कुछ कहा जाता है वह जिस रूपमे, जिस विचार-पद्धति और अनुक्रमसे, जिस आध्यात्मिक और बौद्धिक साचेमें ढालकर कहा जाता है, उसके लिये जो विशिष्ट

शब्दप्रयोग किये जाते है वे सब अधिकांशमें कालकी ही गतिके अधीन होते है और इसलिये उनकी शक्ति सदा एक-सी ही नही बनी रहती, कारण मानव-बुद्धि सदा बदलती रहती ह; यह सदा ही विविध तथ्योंको एक दूसरेसे पृथक् करके देखती और फिर उन्हें एक साथ जुटाती हुई अपने व्यतिरेको और समन्वयोका क्रम सदा ही बदला करती है; सदा ही प्राचीन शब्दप्रयोगो और संकेतोंको पीछे छोड़ती और नये शब्द और संकेत गढ़ा करती है, अथवा, यदि प्राचीन प्रयोगों-को पुनः प्रयुक्त करती भी है तो उनके अर्थ या कम-से-कम उनके गर्भित आशय या अर्थ-साहचर्यको इतना बदल देती है कि किसी ऐसे प्राचीन सद्ग्रथको हम आज समझना चाहे तो यह पूर्ण निश्चय नही किया जा सकता कि जिस समयका यह ग्रथ है उस समयके लोगोने इसे जिस भावसे देखा या इससे जो अर्थ ग्रहण किया ठीक उसी भाव और अर्थको हम भी इससे ग्रहण कर रहे है। इसलिये ऐसे सद्ग्रथोमे संपूर्ण रूपसे चिरतन महत्त्वका विषय वही है जो सर्वदेशीय होनेके अतिरिक्त स्वानुभूत हुआ हो, जो अपने जीवनमे आ गया हो और जो बुद्धिकी अपेक्षा किसी परादृष्टिके द्वारा देखा गया हो।

इसलिये गीताकी किस शास्त्रीय परिभाषासे उस समयके लोग कौनसा अर्थ ग्रहण करते थे, यह यदि यथावत् जानना किसी प्रकारसे संभव भी हो तो भी, मेरे विचारमें, इसका कोई विशेष महत्त्व नही है। फिर यह जानना किसी तरहसे संभव भी नही, यह बात आज-तक जो भाष्य इसपर लिखे गये और अभी भी लिखे जा रहे है उनके परस्पर मतभेदसे स्पष्ट ही प्रकट है; ये सब-के-सब एक दूसरेसे विमत होनेमे ही एकमत है, प्रत्येक भाष्यको गीतामे अपनी ही आध्या-त्मिक रीति और धार्मिक विचार-धारा दिखायी देती है। इस विषयमे चाहे कोई कितना ही प्रचंड प्रयास करे, कितना भी तटस्थ होकर समीक्षण करे और भारतीय तत्त्वज्ञानके विकासक्रमके सबध-में चाहे जैसे उद्बोधक सिद्धात प्रस्थापित करनेमें प्रयत्नवान हो, पर यह विषय ही ऐसा है कि इसमे भूलका होना अपरिहार्य है।

इसलिये गीताके विषयमें अपने करनेकी जो बात है जिससे कुछ लाभ हो सकता है वह यही है कि हम गीतामें शास्त्रीय परिभाषाके फेरमें न पड़कर इसमें जो प्रकृत जीते-जागते तथ्य है उन्हे ढूढ़ें, हम गीतासे वह चीज ले जो हमें या ससारको सहायता पहुचा सकती है और उसे, जहांतक हो सके, ऐसी स्वाभाविक और जीती-जागती भाव-भाषामें प्रकट करें जो वर्तमान मानव-जातिकी मनोवृत्तिके अनुकूल हो और जिससे उसकी पारमार्थिक आवश्यकताओकी पूर्तिमे मदद मिले। इस प्रयासमें हो सकता है कि हम बहुत-सी ऐसी भूलोको मिला दे जो अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य और इस समयके अपने विशिष्ट सस्कारोसे उत्पन्न हुई हों, जिससे अपनेसे बहुत बड़े अपने पूर्वाचार्य भी नही बच पाये है, परंतु यदि हम इस महत् सद्ग्रथके भावमे अपने-आपको निमज्जित कर दें, और, सबसे बड़ी बात यह है कि यदि हम उस भावको अपने जीवनमे चरितार्थ करनेका प्रयत्न किये हुए हों तो, इसमे सदेह नही कि हम इस सद्ग्रंथमेसे उतनी सद्वस्तु तो ग्रहण कर ही सकेगे जितनेके हम पात्र या अधिकारी है और साथ ही हमे इससे वह पारमार्थिक प्रभाव और प्रकृत साहाय्य भी प्राप्त हो सकेगा जो व्यष्टिगत रूपसे हम इससे प्राप्त करना चाहते थे। और इसीको देनेके लिये सद्ग्रंथोकी रचना हुई थी; बाकी जो कुछ है वह वाग्विलास या वाचारंभणमात्र है। केवल ऐसे ही सद्ग्रंथ, धर्मशास्त्र और दर्शन मनुष्य-जातिके कामके बने रहते हैं जिनका इस प्रकारसे सतत नव-नव संस्करण होता चलता हो, जो पुनः-पुनः जीवनमें चरितार्थ किये जाते हों, जिनका आधारभूत शाश्वत तत्त्व निरतर नवरूपातरित और विकसनशील मनुष्य-जातिकी अंतर्विचारधारा और आध्यात्मिक अनुभूतिसे विकसित होता रहता हो। इसके सिवाय और जो कुछ है वह भूतकालका भव्य स्मारक तो है, पर उसमें भविष्यके लिये कोई यथार्थ शक्ति या सजीव प्रेरणा नही है।

गीतामें ऐसा विषय कि जो केवल उसी देश और कालसे संबंध

रखता हो बहुत ही कम है और इसका आशय इतना उदार, गंभीर और व्यापक है कि इसमें जो कुछ देशविशेष और कालविशेषसे संबंध रखनेवाली बात भी है इसे भी, बिना किसी विशेष आयासके और बिना किसी प्रकार इसकी शिक्षाका किंचित् भी अपलाप या अतिक्रम किये, व्यापक रूप दिया जा सकता है; यही नही, बल्कि ऐसा व्यापक रूप देनेसे उसका गांभीर्य, सत्तत्त्व और शक्तिमत्त्व ही संवर्धित होता है। स्वय गीतामें ही बारबार उस व्यापक रूपका संकेत किया गया है जो इस प्रकार देशकालमर्यादित भावना या संस्कार-विशेषको दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, "यज्ञ" संबंधी प्राचीन भारतीय विधि और भावनाको गीताने देवताओं और मनुष्योंका परस्पर आदान-प्रदान कहा है। यज्ञकी यह विधि और भावना स्वयं भारतवर्षमे ही बहुत कालसे लुप्तप्राय हो गयी है और सर्वसाधारण मानव-मनको इसमे कुछ भी तथ्य नही प्रतीत होता। परंतु गीतामे यह 'यज्ञ' शब्द इतना आलकारिक, सांकेतिक और सूक्ष्म तत्त्वका परिचायक है तथा देवताविषयक भावना देश-कालमर्यादा और किबदंतीसे इतनी विनिर्मुक्त और समष्टिमे इतनी व्यापक और दार्शनिक है कि हम इन यज्ञ और देवता दोनोको, मनोविज्ञान और प्रकृतिके साधारण विधानके व्यावहारिक तथ्यके रूपमे सहज ही ग्रहण कर सकते है और इन्हें, मनुष्यपशु-पक्षीतिर्यगादि प्राणियोंमें परस्पर होनेवाले आदान-प्रदान, एक-दूसरेके हितार्थ होनेवाले बलिदान और आत्मदानके विषयमे जो आधुनिक विचार है उनपर, ऐसे घटा सकते है कि इनके अर्थ और भी उदार और गंभीर हों, ये अधिक सच्चे आध्यात्मिक स्वरूप और गंभीरतर अत्यधिक विस्तीर्ण सत्यके प्रकाशसे प्रकाशित हो। इसी प्रकार शास्त्रविधानोक्त कर्म, चातुर्वर्ण्य, विभिन्न वर्णोंकी स्थिति-में तारतम्य, या अध्यात्म-विषयमें शूद्रों और स्त्रियोके अनधिकार, ये सब बातें पहली नजरमें तो देशविशेष या कालविशेषसे ही सबंध रखनेवाली प्रतीत होती है और इनका यदि एकमात्र शाब्दिक अर्थ

ही लिया जाय तो गीताकी शिक्षा उतने अशमे अनुदार ही हो जाती है और उससे गीताके उपदेशका व्यापकत्व और आध्यात्मिक गांभीर्य नष्ट होता और फिर समस्त मनुष्यजातिके लिये उसका उपयोग उतना नही रह जाता। परतु यदि हम इसके आभ्यतर भाव और अर्थको देखे, केवल देशविशिष्ट नाम और कालविशिष्ट रूप नही, तो यह देख पडेगा कि यहा भी अर्थ ूढ, गभीर और तथ्य-पूर्ण है और इसका आतरिक भाव दार्शनिक, आध्यात्मिक और विश्वव्यापक है। शास्त्र शब्दसे गीतामे वह विधान अभिप्रेत मालूम होता है जिसको मनुष्य-जातिने असस्कृत प्राकृत मनुष्यके केवल अहभावप्रेरित कर्मके स्थानमे अपने ऊपर आरोपित किया है, इस विधानका हेतु अहकारको हटाना है, और, मनुष्यकी जो यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी वासनाओकी तृप्तिको ही अपने जीवनका मान और उद्देश्य बना लेना चाहता है, ऐसी उस प्रवृत्तिका नियमन करना है। ऐसे ही चातुर्वर्ण्य भी एक आध्यात्मिक तथ्यका ही केवल एक स्थूल रूप है, जो स्वय उस स्थूल रूपसे स्वतत्र है। उसका अभिप्राय यह है कि सब कर्म उसको करनेवाले व्यक्तिगत प्राणीके स्वभावके अनुसार सम्यक् रूपसे सुसपादित हो और प्रकृति जिस-तिसके सहज गुण और स्वात्म-व्यजनात्मक व्यापारके अनुसार उसके जीवनकी धारा और क्षेत्रको निर्द्धारित करती रहे। इस-लिये जब गीतामे आये हुए देशकालविशिष्ट उदाहरण इसी गभीर और उदार भावसे प्रयुक्त हुए है तब हमारा भी बराबर इसी सिद्धात-का अनुसरण करना और इस गभीरतर सार्वत्रिक सत्यको, जो आपातत: देशकालविशिष्ट-सी प्रतीत होनेवाली प्रत्येक बातमें अवश्यमेव छिपा हुआ है, ढूढ़ना समुचित ही होगा। कारण यह बात पद-पदपर प्रत्यक्ष होगी कि यह गभीरतर तथ्य और तत्त्व गीताकी विवेचन-पद्धतिमे बीज-रूपसे वहा भी गर्भित है जहा वह स्पष्ट शब्दोमें व्यक्त नही किया गया है।

गीतामे तत्कालीन दार्शनिक परिभाषाओं और धार्मिक सकेतोके

प्रयुक्त होनेसे जो दार्शनिक सिद्धांत या धार्मिक मत आ गये है या किसी प्रकार संग हो लिये है उनका विवेचन भी हम उपर्युक्त भावसे ही करेगे। गीतामे जहा सांख्य और योगकी बात आती है वहा हम गीताके एक पुरुषका प्रतिपादन करनेवाले वेदातके सांचेमें ढले हुए साख्यका एक प्रकृति और अनेक पुरुषोका प्रतिपादन करनेवाले अनीश्वरवादी साख्यके साथ उतना ही तुलनात्मक विवेचन करेंगे और इसी प्रकार गीताके बहुविध, सुसमृद्ध, सूक्ष्म और सरल स्वाभाविक योगके साथ पातजल योगके शास्त्रीय सूत्रबद्ध और क्रमबद्ध मार्गका उतना ही तुलनात्मक विवेचन करेगे जितना कि हमारी व्याख्याके लिये आवश्यक होगा, उससे अधिक नही। गीतामे साख्य और योग एक ही वेदात-प्रतिपाद्य परम तात्पर्यकी ओर ले जानेवाले दो मार्ग है, बल्कि यह कहिये कि वेदातिक सत्यकी सिद्धिकी ओर ले जानेवाले दो परस्पर सहकारी साधन है, एक दार्शनिक, बौद्धिक और वैश्लेषणिक है और दूसरा अंतःस्फूरित, भक्तिभावमय, व्यावहारिक, नैतिक और समन्वयात्मक है, जो अनुभूतिद्वारा ज्ञान-तक पहुंचाता है। गीताकी दृष्टिमे इन दोनो शिक्षाओमे कोई वास्तविक भेद नही। बहुतसे लोग जो यह मानते है कि गीता किसी धार्मिक सप्रदाय या परपरा-विशेषका फल है उसके भी साधक-बाधक प्रमाणोका विचार करनेकी हमे यहा कोई आवश्यकता नही है। गीताका उपदेश सबके लिये है उसका मूल भले ही कुछ भी रहा हो।

गीताकी दार्शनिक पद्धति, इसमें जो सत्य है उसका व्यवस्थापन-क्रम इसके उपदेशका वह भाग नही है जो अत्यत मुख्य और चिरस्थायी कहा जाय, किंतु इसकी रचनाका अधिकाश विषय, इसके उद्बोधक और मर्मस्पर्शी प्रधान-प्रधान विचार जो इस ग्रथके जटिल सामजस्यमें पिरोये गये है उनका महत्त्व चिरतन है, उनका मूल्य सदा बना रहेगा। कारण ये केवल दार्शनिक बुद्धिकी कल्पनाकी चमक या चकित करने-वाली युक्ति नही है, बल्कि आध्यात्मिक अनुभवके चिरस्थायी सत्य

हैं, ये हमारी उच्चतम आध्यात्मिक संभावनाओके प्रमाणपूर्ण तथ्य है, और जो कोई इस जगत्के रहस्यकी तहतक पहुंचना चाहता है वह उनकी कदापि उपेक्षा नही कर सकता। विवेचनकी इसकी पद्धति कुछ भी हो, इसका हेतु किसी खास दार्शनिक मतका समर्थन करना या किसी विशिष्ट योगकी पुष्टि करना नही है, जैसा कि भाष्यकारगण प्रमाणित करनेकी चेष्टा करते है। गीताकी भाषा, इसके विचारोकी रचना, विविध भावनाओका इसमे सयोग और उनका सतुलन ये सब बाते इसमे ऐसी है जो किसी साप्रदायिक आचार्यके मिजाजमे नही हुआ करती न एक-एक पदको कसौटीपर कसकर देखनेवाली नैयायिककी बुद्धिमे ही आया करती है क्योकि उसे तो सत्यके किसी एक पहलूको ग्रहण कर बाकी सबको छाटकर अलग कर देनेकी ही पडी रहती है। परतु गीताकी जो विचारधारा है वह व्यापक है, उसकी गति तरगोकी तरह चढाव-उतारवाली और नानाविध भावोका आलिगन करनेवाली है जो किसी विशाल समन्वयात्मक बुद्धि और सुसपन्न समन्वयात्मक अनुभूतिका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह उन महान् समन्वयोमेसे एक है जिनकी सृष्टि करनेमे भारतकी आध्यात्मिकता उतनी ही समृद्ध है जितनी कि वह ज्ञानकी अत्यंत प्रगाढ और अनन्यसाधारण क्रियाओकी तथा धार्मिक साक्षात्कारोकी सृष्टि करनेमे है, जो किसी एक ही साधनसूत्रपर केद्रित होते है और एक ही मार्गकी पराकाष्ठातक पहुचते है। यह एक दूसरेको एक दूसरेसे अलग करनेवाला नही, बल्कि मिलानेवाला और एक करनेवाला है।

गीताका सिद्धात केवल अद्वैत नही है यद्यपि इसके मतसे एक ही अव्यय, विशुद्ध, सनातन आत्मतत्त्व ही अखिल ब्रह्माडकी स्थितिका आश्रय है; गीताका सिद्धात मायावाद भी नही है यद्यपि इसके मतसे सृष्ट जगत्मे त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी माया सर्वत्र फैली हुई है; गीताका सिद्धांत विशिष्टाद्वैत भी नही है यद्यपि इसके मतसे उसी एकमेवाद्वितीयं ब्रह्ममे उसकी जीवभूता सनातनी पराप्रकृति भी

मौजूद है और वह इस बातपर जोर देता है कि उस परब्रह्ममें लय नही बल्कि निवास ही आध्यात्मिक चेतनाकी परास्थिति है; गीताका सिद्धात सांख्य भी नही है यद्यपि इसके मतसे यह सृष्ट जगत् प्रकृति-पुरुषके संयोगसे ही है; गीताका सिद्धांत वैष्णवोका ईश्वरवाद भी नही है यद्यपि पुराणोके प्रतिपाद्य श्रीविष्णुके अवतार श्रीकृष्ण ही इसके परमाराध्य देवाधिदेव है और इनमे और अनिर्देश्य निर्विशेष ब्रह्ममे कोई तात्त्विक भेद नही न ब्रह्मका दर्जा किसी प्रकारसे भी इन "प्राणिना ईश्वरः" से ऊंचा ही है। गीताके पूर्व उपनिषदोंमें जैसा समन्वय हुआ है वैसा ही यह गीताका भी समन्वय है जो आध्यात्मिक होनेके साथ-साथ बौद्धिक भी है और इसलिये इसमें कोई भी ऐसा अनुदार सिद्धात नही आने पाता जो इसकी सार्वलौकिक व्यापकतामें बाधक हो। वेदातके प्रस्थानत्रयमेसे ही यह भी एक सर्वोपरि सर्वमान्य प्रमाण-ग्रंथ होनेके कारण स्वमतप्रस्थापनकुशल अनेक भाष्यकारोने इस ग्रंथका उपयोग स्वमनके मडनमे तथा अन्य मतों और सप्रदायोके खडनमें ढाल और तलवारके तौरपर किया है; परतु गीताका हेतु यह नही है, गीताका उद्देश्य ठीक इसके विपरीत है। गीता तर्ककी लडाईका हथियार नही है, यह वह महाद्वार है जिसमेसे समस्त आध्यात्मिक सत्य और अनुभूतिके जगत्की झाकी होती है और इस झाकीमे उस परम दिव्य धामके सब ठाम यथास्थान देख पड़ते है। गीतामे इन स्थानोका विभाग या वर्गीकरण तो है, पर कही भी एक स्थान दूसरे स्थानसे विच्छिन्न नही है न किसी चहारदीवारी या बेड़ेसे ऐसे घिरा हुआ है कि हमारी दृष्टि आरपार कुछ देख न सके।

भारतीय तत्त्वज्ञानके बृहद् इतिहासमें और भी अनेक समन्वय हुए हैं। सबसे पहले वैदिक समन्वय देखिये। वेदमे मनुष्यका मन-बुद्धिमय पुरुष दिव्य ज्ञान, शक्ति, आनद, जीवन और महिमामें ऊंची-से-ऊंची उड़ान लेता हुआ और विशालतम क्षेत्रोमे विहार करता हुआ देवताओंकी विश्वव्यापी स्थितिके साथ समन्वित हुआ है, इन

देवताओको उसने जड़प्राकृतिक जगत्के प्रतीकोका अनुसरण करते हुए उन श्रेष्ठतम लोकोमे पाया है जो भौतिक इद्रियो और स्थूल मन-बुद्धिसे छिपे हुए है। इस समन्वयकी चरम शोभा वैदिक ऋषियोके उस अनुभवमे है जिसमे वे उस देवाधिदेवका, उस परात्पर पुरुषका, उस आनदमयका साक्षात्कार करते है जिसकी एकतामे मनुष्यका वर्द्धमान आत्मा तथा विश्वव्यापी देवताओकी पूर्णता, पूर्णतया मिलते और एक-दूसरेको चरितार्थ करते है। उपनिषत् पूर्व ऋषियोकी इस चरम अनुभूतिको ग्रहण कर इससे आध्यात्मिक ज्ञान-का एक महान् और गभीर समन्वय साधनेका उपक्रम करते है; सनातन पुरुषके अतर्ज्ञानी और मुक्त वेत्ताओने एक सुदीर्घ और सफल कालके आध्यात्मिक अनुसधानमे जो कुछ दर्शन और अनुभव किया उन सबको उपनिषदोने एकत्र करके एक महान् समन्वयके अदर ला रखा। इस वेदात-समन्वयसे गीताका उपक्रम है और इसके मूलभूत सिद्धातोके आधारपर गीताने प्रेम, ज्ञान और कर्म, इन तीन महान् साधनो और शक्तियोका एक और समन्वय साधित किया है। इसके द्वारा मानव जीव सीधे परम तत्त्वको प्राप्त कर तद्रूप बन सकता है। इसके बाद वह तान्त्रिक* समन्वय है जो सूक्ष्मदर्शिता और आध्यात्मिक गभीरतामे किसी कदर कम होनेपर भी साहसि-कता और बलवत्तामे भी गीताके समन्वयसे भी आगे बढ़ा हुआ है,—कारण आध्यात्मिक जीवनमें जो अन्तराय है उनको भी इसमें पकड लिया जाता है और इनसे और भी अधिक सुसमृद्ध आध्या-त्मिक विजयके साधनका काम लिया जाता है; इससे सारा-का-सारा जीवन ही भगवान्की लीला रूपसे हमारे लिये दिव्य जीवनकी प्राप्ति करानेका क्षेत्र बन जाता है। कुछ बातोमे यह समन्वय समधिक सद्य:पुष्टिकर और फलदायी है, क्योकि यह दिव्य ज्ञान,

*यह बात स्मरण रहे कि समस्त पौराणिक ऐतिह्यमें जो विशिष्ट श्रीशोभासंपन्नता है वह तन्त्रोंसे ही आयी हुई है।

दिव्य कर्म और दिव्य प्रेमयुक्त सुसमृद्ध सरस भक्तिके साथ-साथ हठयोग और राजयोगके गुह्य रहस्योको भी मैदानमे चौड़े ले आता है, जो कि दिव्य जीवनको उसके सभी क्षेत्रोमें उद्घाटित करानेके लिये शरीर तथा मानस तपका उपयोग है, और यह बात गीतामें केवल चलते-चलाते और किसी कदर अन्यमनस्कताके साथ ही कही गयी है। इसके अतिरिक्त इस समन्वयमे मनुष्यके भागवत पूर्णताको प्राप्त कर सकनेकी उस भावनाको अपनानेकी चेष्टा है जिसपर वैदिक ऋषि तो स्वत्व रखते थे पर पीछे बीचके कालमे जिसकी उपेक्षा ही होती गयी। अब उत्तर कालमे मानव विचार, अनुभव और अभीप्साका जो कोई समन्वय होगा उसमे निश्चय ही इस भावनाका बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उत्तर कालके हम लोग उस विकासोन्नतिके नवीन युगके पुरो-भागमे उपस्थित है जिसकी परिणति इस प्रकारके नूतन और महत्तर समन्वयमें होनेवाली है। हम लोगोका यह काम नही है कि वेदांतके तीन प्रधान संप्रदायोमेंसे किसी एक संप्रदायके या किसी एक तान्त्रिक मतके कट्टर अनुयायी बने या किसी प्राक्कालीन सेश्वर धर्मसंप्रदायकी लकीरके फकीर बने अथवा गीताकी ही शिक्षाकी चहारदीवारीके अंदर अपने-आपको बंद कर लें। ऐसा करना अपने-आपको एक सीमामें बाध लेना होगा। अपनी आत्मसत्ता और आत्मसंभावनाके बदले दूसरोकी, प्राक्कालीन लोगोकी सत्ता, ज्ञान और स्वभावमेसे अपना आध्यात्मिक जीवन निर्माण करनेका प्रयास करना होगा। हम अतीत उषःकालके नही है बल्कि हम भविष्यके मध्याह्न कालके हैं। नवीन साधन-सामग्रीका एक समूह-का-समूह हम लोगोके अंदर प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा है, हमें केवल भारतवर्षके और समस्त संसारके जो महान् आस्तिक संप्रदाय हैं उनके जो प्रभाव हम लोगोंपर पड़ रहे है उन्हे तथा बौद्धमतका जो खोया हुआ वास्त-विक अभिप्राय फिर अपने असली रूपमें प्रकट हो रहा है उसे ही आत्मसात करना होगा यह नहीं, बल्कि आधुनिक ज्ञान और अनु-

संधानके फलस्वरूप आज जो कुछ, मर्यादित रूपमें ही क्यों न हो पर विशेष क्षमता लिये हुए, प्रत्यक्ष हुआ है उसका भी पूर्ण समीक्षण करना होगा; और, इसके अतिरिक्त सुदूर और तिथिमितिरहित भूतकाल, जो मृत जैसा दिखायी देता था अब हमारे समीप आ रहा है और उसके साथमें उन ज्योतिर्मय गुह्योका तीव्र प्रकाश है जो मनुष्यकी चेतनासे एक जमाना हुआ लुप्त हो गया था किंतु अब जो परदेको चीरकर फिर बाहर निकल रहा है।

इन सब बातोंका पर्यालोचन करनेसे भविष्यमे होनेवाला एक नवीन, सुसमृद्ध और अति महत् समन्वय परिलक्षित होता है; भविष्यकी यह बौद्धिक और आध्यात्मिक आवश्यकता है कि अपने इन सब प्राप्त अर्थोका फिरसे एक नवीन और अति उदार परस्पर समालिगन-स्वरूप सामंजस्य सिद्ध हो। पर जिस प्रकार पूर्वके समन्वयोका उपक्रम पूर्वतर समन्वयोसे ही हुआ, उसी प्रकार भावी समन्वयको भी, वैसा ही स्थिर और सुप्रतिष्ठ होनेके लिये, वहीसे आरभ करना चाहिये जहा हमको पूर्वके संसिद्ध आध्यात्मिक तत्त्वविचार और अनुभवोके बृहत् सस्थानोने लाकर छोड़ा है। ऐसे संस्थानोंमें गीताका स्थान बहुमानास्पद है।

अस्तु! गीताके इस अध्ययनमे हमारा हेतु इसके विचारोंका पांडित्यपूर्ण या परिकल्पनात्मक पर्यालोचन करना अथवा इसके दार्शनिक सिद्धातको आध्यात्मिक अनुसधानके इतिहासके अदर ले आना न होगा, न हम इसके प्रतिपाद्य विषयको तर्ककी कसौटीपर रख-कर नैयायिकोंके ढंगसे ही निरूपित करेगे। हम इसके पास आते हैं साहाय्य और प्रकाश पानेके लिये और इसलिये इसमें हमारा हेतु यही होना चाहिये कि हमें इसमेसे इसका सच्चा अभिप्राय और जीता-जागता संदेश मिले, वह असली चीज मिले जिसका ग्रहण मनुष्य-जातिके पूर्णत्व और परम आध्यात्मिक कल्याणका कारण होगा।

भगवान् गुरु

संसारके अन्य सब महान् धर्मग्रथोंकी अपेक्षा गीताकी यह विलक्षणता है कि यह स्वत: कोई स्वतत्र ग्रंथ नही है; इसका निर्माण बुद्ध, ईसा या महम्मद जैसे किसी महापुरुषके आत्मिक जीवनके फलस्वरूप नही हुआ है न यह वेदो और उपनिषदोके समान किसी विशुद्ध आध्यात्मिक अनुसंधानके युगका ही फल है, बल्कि यह जगत्के राष्ट्रो और उनके सग्रामों तथा मनुष्यो और उनके पराक्रमोके ऐतिहासिक महाकाव्यके अदर एक उपाख्यान है जिसका प्रसग इसके एक प्रमुख पात्रके जीवनमे उपस्थित एक विकट सकट-कालसे उद्भूत हुआ है। प्रसंग यह है कि सामने वह कर्म उपस्थित है जिससे अबतकके सब कर्मोकी सागता और परिपूर्णता होनेवाली है; पर यह कर्म भयकर है, अति उग्र है और खून-खराबीसे भरा हुआ है और संधिकी वह घड़ी उपस्थित हो गयी है जब उसे या तो इस कर्मसे बिलकुल हट जाना होगा या उसको उसके अवश्यंभावी कठोर अंततक पहुंचाना होगा। कई आधुनिक समालोचकोंकी यह धारणा है कि गीता महाभारतका अंग ही नही है, इसकी रचना पीछे हुई है और इसके रचयिताने इसको महाभारतमें इसलिये मिला दिया कि इसको भी इस महान् राष्ट्रीय महाकाव्यकी प्रामाणिकता और लोकप्रियता मिल जाय, किंतु यह बात ठीक है या नहीं, इससे कुछ नहीं आता-जाता। मेरे विचारमें तो यह धारणा गलत है, क्योंकि इसके विपक्षमे बड़े प्रबल प्रमाण है और पक्षमें भीतरी-बाहरी जो कुछ प्रमाण है वह बहुत पोचा और स्वल्प है। परंतु यदि पुष्ट और यथेष्ट प्रमाण भी हो तो

भी यह तो स्पष्ट ही है कि ग्रंथकारने अपने इस ग्रंथको महाभारत-की बुनावटमे बुनकर इस तरह मिला दिया है कि इसके ताने-बाने महाभारतसे अलग नही किये जा सकते, यही नही बल्कि गीतामें ग्रथकारने बार-बार उस प्रसगकी याद दिलायी है जिस प्रसंगसे यह गीतोपदेश किया गया, केवल उपक्रमोपसहारमे ही नही बल्कि अत्यंत गभीर तत्त्वनिरूपणके मध्यमे भी उसीका स्मरण कराया है। ग्रथकारका यह आग्रह ग्रहण करना ही होगा और इस गुरु-शिष्य-सवादमे गुरु और शिष्य दोनोका ही जिस प्रसगकी ओर बारंबार ध्यान खिचता है उसे उसका पूर्ण महत्त्व प्रदान करना ही होगा। इसलिये गीताको सर्वसाधारण अध्यात्मशास्त्र या नीति-शास्त्रका एक ग्रथ मान लेनेसे ही काम न चलेगा बल्कि नीति-शास्त्र और अध्यात्मशास्त्रका मानव-जीवनमे प्रत्यक्ष प्रयोग करते हुए ही व्यवहारमे जो सकट उपस्थित होता है उसे दृष्टिके सामने रखकर इस ग्रथका विचार करना होगा। वह सकट क्या है, कुरुक्षेत्रके युद्धका आशय क्या है और अर्जुनकी अतःसत्तापर उसका क्या असर होता है, इन बातोको हमे पहले निश्चित कर लेना होगा, तब कही हम गीताके मतो और उपदेशोमे अनुस्यूत जो केद्रस्थ विचारधारा है उसे पकड़ सकेगे।

यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि कोई भी गूढ़ातिगूढ़ उप-देश किसी ऐसे सामान्य-से प्रसंगपर नही उक्त हुआ करता जिसके बाह्य रूपके पीछे कोई वैसी ही गहरी भावना और भयकर धर्म-संकट न हो और जिसका समाधान नित्यके सामान्य आचार-विचार-के मानसे किया जा सकता हो। गीतामें सचमुच ही तीन बातें ऐसी है जो आध्यात्मिक दृष्टिसे बड़े महत्त्वकी है, प्रायः प्रतीका-त्मक है और उनसे आध्यात्मिक और मानव-जीवनके मूलगत जो प्रगाढ़तम संबध और समस्याएं है वे प्रत्यक्ष होती है। वे तीन बातें है—श्रीगुरुका भागवत व्यक्तित्व, उनका अपने शिष्यके साथ विशिष्ट प्रकारका संबंध और उनके उपदेश करनेका प्रसंग। श्री-

गुरु स्वयं भगवान् है जो मानवजातिमें अवतरित हुए है; शिष्य अपने कालका श्रेष्ठ व्यक्ति है, जिसे हम आधुनिक भाषामें मनुष्य-जातिका प्रतिनिधि कह सकते है, और जो इस अवतारका अतरग सखा और चुना हुआ यत्र है, एक विशाल कार्य और सग्राममे प्रमुख पात्र है जिसका रहस्यमय उद्देश्य उस रंगभूमिके पात्रोंको ज्ञात नही, ज्ञात है केवल उन मनुष्यशरीरधारी भगवान्को जो अपने ज्ञानमय अथाह मानसके पीछे छिपे हुए यह सारा कार्य चला रहे हैं; और प्रसग है इस कार्य और संग्राममे उपस्थित अति विकट भीषण परिस्थितिकी वह घड़ी जिसमें इसकी बाह्य गतिका आतंक और धर्मसकट तथा अंध प्रचडता इस आदर्शभूत व्यक्तिके मानस-पर प्रत्यक्ष होकर इसको सिरसे पैरतक हिला देती है और वह सोचने लगता है कि आखिर इसका अभिप्राय क्या है, क्या आशय है जगदीश्वरका इस जगत्से, इसका क्या लक्ष्य है, यह किधर जा रहा है और मानवजीवन और कर्मका ही क्या मतलब है।

भारतवर्षमें प्राचीन कालसे ही बडे दृढ विश्वासके साथ यह मान्यता चली आयी है कि भगवान् वास्तवमे अवतार लिया करते है, अरूपसे रूपमें अवतरित हुआ करते है, मनुष्यरूपमें मनुष्योके सामने प्रकट हुआ करते है। पश्चिमी देशोमे यह विश्वास लोगोंके मन-पर कभी यथार्थ रूपसे जमा ही नही, क्योकि लौकिक ईसाई-धर्ममें इस भावका एक ऐसे धार्मिक मत-विशेषके रूपमे ही प्रतिपादन किया गया है जिसका युक्ति, सर्वसाधारण चेतना और जीवन-व्यवहारसे मानो कोई मूलगत संबंध ही न हो। परंतु भारतवर्षमें वेदातकी शिक्षा होनेसे यह विश्वास बराबर बढ़ता और जमता ही गया है और इस देशके लोगोंकी चेतनामे ही बद्धमूल हो गया है। यह सारा चराचर जगत् भगवान्की ही अभिव्यक्ति है, कारण भगवान् ही एकमात्र है जो है और बाकी सब कुछ उन्हीं एकमात्र सत्का या तो सत् और नही तो असत् रूप है। इसलिये प्रत्येक जीव और कुछ नहीं है बल्कि यह किसी-न-किसी अंशमें या

किसी-न-किसी विधिसे उन्ही एक अनन्तका नामरूपात्मक बाह्य सांतमे अवतरण मात्र है। परतु यह योगमायासमावृत प्राकटच है, और भगवान्का जो पर भाव है तथा सात रूपमे जीवकी यह जो पूर्णत· अथवा अशत: अविद्याच्छन्न चेतना है, इन दोनोके बीच-मे चेतनाका चढ़ता-उतरता हुआ क्रम लगा है। देहमे रहनेवाला चिन्मय आत्मा जिसे देही कहते है, भगवदग्निका स्फुलिग है और मनुष्यके अदर रहनेवाला यह आत्मा जैसे-जैसे आत्मविषयक अपने अज्ञानसे बाहर निकलकर अपनी आत्म-सत्तामे विकसित होता जाता है वैसे-वैसे वह स्वात्म-ज्ञानमे बढने लगता है। भगवान् भी इस विश्व-जीवनके नानाविध रूपोमे अपने-आपको ढालते हुए, सामान्यत., इसकी शक्तियोके उत्कर्षमे, इसके ज्ञान, प्रेम, आनन्द और विभूतिकी तेजस्विता और विपुलतामे, अपनी दिव्यताकी कलाओ और रूपोमे आविर्भूत हुआ करते है। परंतु जब भागवत चेतना और शक्ति मनुष्यके रूपको तथा कर्मकी मानव-प्रणालीको अपने-आपपर ले लेती है, और इसपर वह अपना स्वत्व केवल शक्ति-मत्ता और विपुलताद्वारा अथवा अपनी कलाओं और बाह्य रूपो-द्वारा ही नही रखती, बल्कि अपने शाश्वत ज्ञानके साथ रखती है, जब वे अजन्मा अपने-आपको जानते हुए मानव मन-प्राण-शरीर धारण कर, मानव-जन्मका जामा पहनकर कर्म करते है तब वह देशकालके अंदर भगवान्के प्रकट होनेकी पराकाष्ठा है: वही भगवान्-का पूर्ण और चिन्मय अवतरण है, उसीको अवतार कहते है।

वेदातके वैष्णव संप्रदायमें इस सिद्धातकी बड़ी मान्यता है और वहां मनुष्यमे रहनेवाले भगवान् और भगवान्में रहनेवाले मनुष्यका जो परस्पर संबंध है वह नर-नारायणके द्विविध रूपसे परिदर्शित किया गया है; इतिहासकी दृष्टिसे नर-नारायण एक ऐसे धर्म-संप्रदायके प्रवर्तक माने जाते है जिसके सिद्धांत और उपदेश गीताके सिद्धांतों और उपदेशोंसे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। नर मानव-आत्मा है, भगवान्का चिरंतन सखा है जो अपने स्वरूपको तभी

प्राप्त होता है जब वह इस सखा-भावमें जागृत होता है, तब यह जैसा कि गीतामे कहा है, उन भगवान्मे निवास करने लगता है। नारायण मानव-जातिमे सदा वर्तमान भागवत आत्मा है, वे सर्वांतर्यामी है, मानव-जीवके सखा और सहायक है, ये वे है जिनको गीताने कहा है "ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशे तिष्ठति"। हृद्देशके इस गूढाशयके ऊपरसे जब आवरण हटा लिया जाता है और ईश्वरका साक्षात् दर्शन कर यह उनसे प्रत्यक्ष सभाषण करता है, उनके दिव्य शब्द सुनता है, उनकी दिव्य ज्योति ग्रहण करता और उनकी दिव्य शक्तिसे युक्त होकर कर्म करता है तब इस देहेद्रियसयुक्त सचेतन मानव-जीवका परमोद्धार होकर उस अज अविनाशी शाश्वत स्वरूपको प्राप्त होना संभव होता है। तब वह भगवान्मे निवास और सर्वभावसे भगवान्मे आत्मसमर्पण करने योग्य होता है जिसे गीताने "उत्तम रहस्य" माना है। जब यह शाश्वत दिव्य चेतना जो मानव-प्राणिमात्रमे सदा विद्यमान है अर्थात् नरमे विराजनेवाले ये नारायण भगवान् जब इस मानव-चैतन्यको अशत:* या पूर्णत. अधिकृत कर लेते और दृश्यमान मानव-रूपमे जगद्गुरु, आचार्य या जगन्नेता होकर प्रकट होते है तब यह उनका प्रत्यक्ष अवतार कहा जाता है। यह उन आचार्यो या नेताओकी बात नही है जो सब प्रकारसे है तो मनुष्य ही पर कुछ ऐसा भी अनुभव करते है कि दिव्य प्रज्ञाकी ही शक्ति, ज्योति या भक्ति उनका पोषण कर रही है और उनके द्वारा सब कार्य करा रही है, बल्कि यह उन मानव-तनुधारी-की बात है जो साक्षात् उस दिव्य प्रज्ञासे, सीधे उस केंद्रीभूत शक्ति और पूर्णतासे पोषित और परिचालित होते है। मनुष्यके अंदर जो भगवान् है, वही नरमे नारायणका सनातन अवतार है; और

*नवद्वीपके अवतार श्रीचैतन्यके विषयमें यह कहा गया है कि वे अंशत: या कभी-कभी भागवत चैतन्य और चिच्छक्तिके द्वारा अधिकृत हो जाते थे।

नरमें जो यह अभिव्यक्ति है वही है बहिर्जगत्मे उनका चिह्न और विकास।

इस प्रकार जब अवतार-तत्त्व हमारी समझमे आ जाता है तब हमें यह दिखायी देता है कि चाहे गीताकी मूलगत शिक्षा,–जिसको जानना ही हमारा प्रस्तुत विषय है,–की दृष्टिसे हो या आम तौरपर आध्यात्मिक जीवनकी दृष्टिसे हो, इस ग्रथके बाह्य पहलूका महत्त्व गौण ही है। यूरोपमे ईसाकी ऐतिहासिकतापर जैसा वाद-विवाद चलता है वैसा वाद-विवाद, अध्यात्मचेता भारतवर्षके विचारमें, समयका प्रायः दुरुपयोग ही है, ऐसे वाद-विवादको वह ऐतिहासिक दृष्टिसे तो बड़ा महत्त्व देगा, पर उसकी दृष्टिमे इसका कोई धार्मिक महत्त्व नही है, क्योंकि ईसा नामक कोई मनुष्य युसुफ नामके किसी बढ़ईके पुत्र-रूपसे नजरथ या बेथलहममे पैदा हुए, पढ़े और राजद्रोहके किसी सच्चे या बनावटी अपराधमे मृत्युदण्डसे दण्डित हुए या नही, इन बातोसे आखिर क्या आता-जाता है जब कि हम आध्यात्मिक अनुभवसे अपने अन्तःस्थित ईसाको जान सकते है और ऊर्ध्व चेतनामे ऊपर उठकर उनकी शिक्षाकी ज्योतिमे निवास कर सकते हैं और भगवत्प्रीत्यर्थ अपने चित्तको उस प्रायश्चित्तके द्वारा जिसका कि क्रास बाह्य चिह्न है, शुद्ध करके दुरत्यय प्रकृति-विधानके दासत्वसे मुक्त हो सकते है ? ईसा अर्थात् मनुष्य-रूपको प्राप्त ईश्वर यदि हमारे अध्यात्मभावमे स्थित है तो मेरीके कोई पुत्र जूडियामे शरीरतः रहे हों, कष्ट झेले हो और अपने प्राणोंको न्योछावर किया हो या नही इससे प्रायः कुछ भी नहीं आता-जाता। इसी प्रकार जिन श्रीकृष्णसे अपना मतलब है वे श्रीभगवान्के शाश्वत अवतार है, कोई ऐतिहासिक गुरु या मनुष्योके नेता नही।

इसलिये गीतोपदेशके सारतत्त्वको ग्रहण करनेके लिये हमें महाभारतके उन मानव-रूप भगवान् श्रीकृष्णके केवल आध्यात्मिक मर्मके साथ ही मतलब रखना चाहिये जो इस कुरुक्षेत्रकी संग्राम-

भूमिमें हमारे सामने अर्जुनके गुरु-रूपमें अवस्थित है। ऐतिहासिक श्रीकृष्ण भी थे, इसमे कोई संदेह नही। छादोग्य उपनिषद्में, पहले-पहल, यह नाम आता है और वहां इनके बारेमे जो कुछ मालूम होता है वह इतना ही है कि आध्यात्मिक परम्परामें ब्रह्मवेत्ताके रूपमे उनका नाम सुप्रसिद्ध था, उनका व्यक्तित्व और उनका इतिवृत्त लोगोमें इतना प्रसिद्ध था कि केवल "देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण" कहनेसे ही लोग यह जान जाते थे कि किसकी चर्चा हो रही है। इसी उपनिषद्मे विचित्रवीर्यके पुत्र राजा धृतराष्ट्रका भी नामोल्लेख है। और चूकि यह परम्परा इन दोनो नामोंको महाभारत-कालमे भी इतने निकट सपर्कमे चलाये चली है, कारण ये दोनो-के-दोनो ही महाभारतके प्रमुख व्यक्ति है, इसलिये हम इस निर्णयपर भली प्रकार पहुंच सकते है कि ये दोनो वास्तवमे समकालीन थे और यह कि इस महाकाव्यमे बहुत करके ऐतिहासिक व्यक्तियोकी ही चर्चा हुई है और कुरुक्षेत्रके सबधमे किसी ऐसी ऐनिहासिक घटनाका ही उल्लेख है जिसकी छाप इस जातिके स्मृतिपटपर अच्छी तरह पडी हुई थी। यह बात भी ज्ञात है कि ईसाका जन्म होनेसे पहलेकी शताब्दियोमे श्रीकृष्ण और अर्जुन देवता-रूपसे पूजे जाते थे; और ऐसा मान लेनेका कुछ कारण है कि यह किसी धार्मिक या दार्शनिक परम्पराके कारण ही होता होगा, जहासे ही गीताने अपने बहुतसे तत्त्वोंको, यहातक कि उसके ज्ञान, कर्म और भक्तिके समन्वयकी भित्तिको भी लिया होगा, और शायद यह भी माना जा सकता है कि ये मानव श्रीकृष्ण ही इस सम्प्रदायके प्रवर्तक, पुनःसंस्थापक या कम-से-कम कोई पूर्वाचार्य रहे हों। इसलिये गीताका बाह्य रूप पीछे चाहे कुछ बदला भी हो तो भी यह है भारतीय विचारधाराके रूपमे श्रीकृष्णके ही उपदेशका फल, और इस उपदेशका ऐतिहासिक श्रीकृष्णके साथ तथा अर्जुन और कुरुक्षेत्रके युद्धके साथ संबंध केवल कविकी कोई कल्पना ही नही है। महाभारतमें श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं

और अवतार भी; इनकी उपासना और इनके अवतार होनेकी मान्यता देशमे उस समयतक प्रस्थापित हो चुकी थी जब कि (आपाततः ईसाके पूर्व पाचवी और पहली शताब्दीके बीचमे) भारतवर्शकी प्राचीन कहानियो, कविताओ और महाकाव्य परंपराने महाभारतका रूप धारण किया। इस काव्य-कथा या किंवदतीमे अवतारकी बाल-वृदावन-लीलाका भी कथचित् सकेत है जिसे पुराणोंने इतने प्रबल और सतेज आध्यात्मिक प्रतीकके रूपमे वर्णन किया है कि उसका भारतकी धार्मिक मन-बुद्धिपर बड़ा गहरा प्रभाव पडा है। हरिवंशमे श्रीकृष्णकी लीलाका वर्णन है, इसमे स्पष्ट ही प्राय. कल्पित कथाए ही भरी हुई है और शायद इसीके आधारपर सब पौराणिक वर्णन हैं।

परतु इतिहासकी दृष्टिसे इन सबका अत्यधिक महत्त्व होनेपर भी हमारे प्रस्तुत विषयके लिये इनका कुछ भी उपयोग नही है। हमारा तो यहा केवल भगवान् गुरुके उस रूपसे मतलब है जिसको गीताने हमारे सामने रखा है और मानव-जीवको आध्यात्मिक प्रकाश देनेवाली उस शक्तिसे मतलब है जिसको देनेके लिये ये गुरु आये हैं। मानव-रूपमे श्रीभगवान्के अवतार लेनेके सिद्धातको गीता मानती है, क्योकि भगवान् गीतामे मानवरूपमे बारबार युग-युगमे प्रकट होनेकी बात कहते हैं*। यह प्राकट्य तब होता है जब कि वे शाश्वत अजन्मा अपनी मायाके द्वारा, अपनी अनन्त चिच्छक्तिके द्वारा आपाततः सांत रूपोका जामा पहनकर भूत प्राणीकी अवस्थाओको—जिसको हम जन्म कहते हैं—धारण करते हैं। परतु गीतामे भगवान्के इस रूपपर नही, बल्कि परात्पर, विराट् और आतरिक रूपपर जोर दिया गया है, वे जो समस्त वस्तुओंके उद्गम है, सबके स्वामी हैं और मनुष्यके हृदयमें वास करते हैं। इन्ही अन्तःस्थित भगवान्से ही वहा मतलब है जहां

*बहूनि मे व्यतीतानि...............संभवामि युगे युगे।

गीतामें उग्र आसुर तपके करनेवालोंके विषयमें यह कहा गया है कि ये "अन्तःशरीरस्थं मां" मुझ भगवान्‌को कष्ट देते है या जहां यह कहा गया है कि ये असुर "मानुषी तनुमाश्रितं मां" मनुष्य-शरीरमें रहनेवाले मुझसे द्वेष करके पाप करते है अथवा जहां यह कहा गया है कि इनके अज्ञान-तमको "प्रज्वलित ज्ञानदीपके द्वारा" मै "नष्ट कर देता हूं" (नाशयामि ज्ञानदीपेन भास्वता)। अतएव ये सनातन अवतार, मानव-जीवमें सदा वर्तमान रहनेवाला यह चैतन्य, मनुष्यमें रहनेवाले ये भगवान् ही प्रत्यक्ष प्रकट होकर गीतामें मानव-आत्मासे बोल रहे है, उसको जीवनके आशयका और भागवत कर्मके गुह्य तत्त्वका बोध दे रहे है, और दे रहे है भागवत ज्ञान और जगदीश्वरके आश्वासक और बलदायक शब्द और कर रहे है उसका पथ-प्रदर्शन, और यह सब उस कालमे हुआ है जब कि मानव-आत्मा जगत्‌के दुःखमय रहस्यके आमने-सामने जा पड़ा है। यही वह है जिसे भारतकी धार्मिक चेतना अपने समीप ले आनेका प्रयत्न करती है, फिर चाहे उसका रूप कुछ भी क्यो न हो, चाहे वह रूप मंदिरोंमे स्थापित प्रतीकात्मक मानव-आकारकी मूर्त्ति हो अथवा अवतारोंकी उपासना हो या उस एक जगद्‌गुरुकी वाणीको सुनानेवाले गुरुकी भक्ति हो। इन सबके द्वारा वह उस आंतरिक वाणीके प्रति जागृत होनेकी चेष्टा करती है, उस अरूपके रूपको अनावृत करती है और उस अभिव्यक्त भागवत शक्ति, प्रेम और ज्ञानके आमने-सामने आ जाती है।

दूसरी बात यह है कि इन मानव श्रीकृष्णका एक लाक्षणिक, प्रायः प्रतीकात्मक मर्म है. यही महाभारतके महान् कर्मके प्रवर्तक है, नायक-रूपसे नही, बल्कि उसके गुप्त केंद्र और अज्ञात संचालकके रूपसे। यह कर्म एक विराट् कर्म है जिसमें मनुष्यो और राष्ट्रोंका सारा-का-सारा संसार सम्मिलित है, इनमें कुछ लोग और राष्ट्र ऐसे है जो केवल इस कर्म और इसके परिणामके सहायक होकर ही आये है, जिससे उनका अपना कोई लाभ नहीं है, श्रीकृष्ण इनके

नेता है; कुछ लोग ऐसे है जो इस कर्मके विरोधी है और उनके, श्रीकृष्ण भी विरोधी है, उनकी चालोको उलटानेवाले और उनका संहार करनेवाले है; और कुछ लोग तो यहांतक समझते है कि इस सारे अनर्थके मूल श्रीकृष्ण है, जो पुरानी व्यवस्था, सुपरिचित जगत् और पुण्य और धर्मकी सुरक्षित परंपराको मिटाये दे रहे है; इनमे फिर कुछ लोग ऐसे है जिनके द्वारा यह कर्म सिद्ध होनेवाला है और श्रीकृष्ण उनके उपदेष्टा और सुहृद् है। जहा यह कर्म अपनी प्राकृतिक गतिसे हो रहा है और इस कर्मके करनेवालोको उसके शत्रुओसे पीड़ा पहुंचती है और उन्हे उन अग्निपरीक्षाओको पार करना पडता है जो उनको प्रभुत्व लाभ करनेके लिये तैयार करती है वहा अवतार अप्रकट है अथवा प्रसंग-विशेषपर उतनी ही सात्वना और सहायता भरके लिये आन प्रकट होते है, कितु प्रत्येक सकटमे उनके सहायक हाथोका अनुभव होता है, फिर भी यह अनुभव इतना हलका है कि इस विराट् कर्मके सभी कर्त्ता अपने-आपको ही कर्त्ता मानते है और अर्जुन भी, जो उनका अति प्रिय सखा और उनके हाथका मुख्य यत्र या उपकरण है वह भी, यह अनुभव नही करता कि मै उपकरण हू और उसे यह बात अतमे स्वीकार करनी पड़ती है कि अबतक मैने अपने सखा सुहृद् भगवान्को सचमुचमें जाना ही नही था। अर्जुनको उनके ज्ञानसे बराबर मत्रणा मिलती रही, उनकी शक्तिसे सहायता भी मिलती रही, अर्जुन उन्हे प्यार करता रहा और उनसे प्यार पाता भी रहा, अवतारके भगवत्स्वरूपको जाने बिना अर्जुन उन्हे पूजता भी रहा; पर यह सब और सब लोगोकी तरह अर्जुनके अहकारमेसे ही होकर होता रहा और अर्जुनको जो मंत्रणा, सहायता और आदेश दिया गया वह अज्ञानकी ही भाषामें दिया गया और अर्जुनने उसे अज्ञानके विचारोके द्वारा ही ग्रहण किया। और यह सब उस समयतक चलता रहा जबतक कि सब कुछ कुरुक्षेत्रके मैदानमे इस संघर्षकी भीषण अवस्थाको प्राप्त नही हुआ, और तब अवतार सामने आये, अभी भी योद्धा

बनकर नही, बल्कि युद्धकी भवितव्यताको वहन करनेवाले रथके ऊपर विराजमान सारथी बनकर; तबतक उन्होंने अपने स्वरूपको अपने चुने हुए उपकरणोंके आगे भी प्रकट नही किया।

इस प्रकार श्रीकृष्ण यहां मनुष्योके साथ भगवान्के व्यवहारोके ही प्रतीक होकर उपस्थित है। इस जगत्मे हम लोगोके द्वारा जो सपूर्ण कर्म कराया जाता है वह हम लोगोके अहंकार और अज्ञानके रास्तेसे ही कराया जाता है और हम लोग यह समझते है कि हम ही अपने सब कर्मोंके कर्त्ता है, और इनका जो कुछ फल होता है उसके हम ही असली कारण है ऐसा समझकर हम अपने लिये गर्व करते रहते हैं, पर यथार्थमे जो चीज हमसे यह सब कराती है वह कुछ और ही है और उसे हम लोग यदा-कदा प्रसगवशात् ही ज्ञान, अभीप्सा और शक्तिके किसी अस्पष्ट स्रोतके रूपमे या फिर किसी मानव और पार्थिव स्रोतके रूपमे भी देख पाते है या किसी सिद्धात या प्रकाश या सामर्थ्यके रूपमे भी जानते और मानते है और उसके वास्तविक रूपको जाने बिना ही उसे पूजते भी है, वह चीज वास्तवमे क्या है यह हमे तबतक नही मालूम होता जबतक वह प्रसंग नही उपस्थित होता जो हमे बलात् इस रहस्यके सामने लाकर खड़ा कर दे। भगवान् श्रीकृष्ण मानव-जीवनके समस्त विशाल कर्मके अदर क्रियाशील है, केवल उसके आभ्यतर जीवनमे ही नहीं बल्कि जगत्के उस सारे अज्ञान अधकारमय क्रमके अंदर भी, जिसका निर्णय हम अपनी बुद्धिके उतनेसे टिमटिमाते हुए प्रकाशमे ही करते है जितना कि हमारी अनिश्चित अग्रगतिके आगे यह एक छोटेसे दायरेको अस्पष्ट रूपसे खोलकर दिखा देती है। गीताकी यही विशेषता है कि यह ऐसे ही एक कर्मका पर्यवसान है, उसीसे गीतोक्त उपदेशका प्रादुर्भाव हुआ है और उसीसे गीतोक्त कर्म-सिद्धांतको इतना महत्त्व प्राप्त हुआ और उसका इतना सुस्पष्ट और जोरदार प्रतिपादन हुआ है कि वैसा अन्य किसी भी भारतीय धर्मग्रंथमें नहीं देख पड़ता। केवल गीतामे ही नही, महाभारतके अन्य स्थानोंमें

भी श्रीकृष्णने कर्मकी आवश्यकताकी बडे जोरके साथ घोषणा की है; पर उसका रहस्य और हमारे कर्मोंके पीछे छिपी हुई दिव्य सत्ता तो गीतामे ही प्रकट की गयी है।

अर्जुन और श्रीकृष्णके अर्थात् मानव-आत्मा और भागवत आत्माके साथ सख्यका रूपक अन्य भारतीय ग्रथोंमें भी वर्णित है, जैसे एक स्थानमे यह वर्णन है कि इद्र और कुत्स एक ही रथपर बैठे हुए स्वर्गकी ओर यात्रा कर रहे है, जैसे उपनिषदोमे दो पक्षी एक ही वृक्षपर बैठे हुए मिलते है, अथवा जैसे यह वर्णन आता है कि नर-नारायण ऋषि ज्ञानार्थ एक साथ तपस्या कर रहे है। पर इन तीनो ही उदाहरणोमे वह ज्ञान ही लक्ष्य है जिसमे, जैसा कि गीताने कहा है, "सारा कर्म परिसमाप्त होता है", परतु गीतामें वह कर्म लक्ष्य है जो उस ज्ञानको प्राप्त कराता है और जिसमे ज्ञाता भगवान् ही कर्मके कर्त्ता बनकर सामने आते है। यहा अर्जुन और श्रीकृष्ण, अर्थात् मनुष्य और भगवान् ऋषि-मुनियोके समान किसी तापस आश्रममे ध्यान करने नही बैठे है, बल्कि रणभेरियोके तुमुल निनादसे आकुल समरभूमिमे शस्त्रोकी खनखनाहटके बीच युद्धके रथपर रथी और सारथीके रूपमे विद्यमान है। अतएव गीताके उपदेष्टा गुरु केवल मनुष्यके वे अतर्यामी ईश्वर ही नही है जो केवल ज्ञानके वक्ताके रूपमे ही प्रकट होते हो बल्कि मनुष्यके वे अतर्यामी ईश्वर है जो सारे कर्म-जगत्के सचालक है, जिनसे और जिनके लिये समस्त मानव-जातिकी स्थिति है, जिनसे और जिनके लिये ही वह संघर्ष और श्रम कर रही है और जिनकी ओर ही समस्त मानव-जीवन यात्रा कर रहा है। वे सब कर्मो और यज्ञोके छिपे हुए स्वामी है और सबके सुहृद् है।

मानव-शिष्य

सो, ऐसे है गीताके भगवान् गुरु, सनातन अवतार, स्वय श्री-भगवान् जो मानव-चैतन्यमें अवतीर्ण हुए हैं, ये वे महाप्रभु है जो प्राणिमात्रके हृद्देशमें अवस्थित है, ये वे है जो परदेकी आडमे रहकर हमारे समस्त चितन, कर्म और हृदयकी खोजका भी उसी प्रकार संचालन करते है जैसा कि ये दृश्यमान और इन्द्रियग्राह्य रूपों, शक्तियो और प्रवृत्तियोंकी ओटमे रहकर इस जगत्के,–जिसको कि उन्होंने अपनी सत्तामे अभिव्यक्त किया है,–महान् विश्वव्यापी कर्मका संचालन करते है। उन्नत होनेकी हमारी संपूर्ण चेष्टा और खोज शांत, तृप्त और परिपूर्ण हो जाती है जब हम इस परदेको फाड़ सकें और अपने इस बाह्य आत्माके परे अपने वास्तविक आत्माको प्राप्त हों, अपनी सत्ताके इन सच्चे स्वामीके अंदर अपनी समग्र सत्ताको अनुभव कर सके, अपना व्यक्तित्व इन एक वास्तविक पुरुषपर उत्सर्ग करके उनके होकर रहें, अपने मनकी सदा छितरी हुई और सदा चक्कर काटनेवाली कर्मण्यताओंको उनके पूर्ण प्रकाशमें मिला दें, अपने प्रमादशील बेचैन सकल्प और चेष्टाओंको उन्हीके महत्, ज्योतिर्मय और अखड दिव्य सकल्पके भट कर दे, अपनी नानाविध बहिर्मुखीन वासनाओं और उमंगोंको उन्हीके स्वतःसिद्ध स्वानंदकी परिपूर्णतामें त्याग कर परितृप्त करें। यही जगद्गुरु हैं जिनके सनातन ज्ञानके ही बाकी सब उत्तमोत्तम उपदेश केवल विभिन्न प्रतिबिब और आंशिक शब्दमात्र हैं। यही वह ध्वनि है जिसे सुननेके लिये जीवको जगाना होगा।

अर्जुन—जो इन गुरुका शिष्य है और जिसने युद्धक्षेत्रमे दीक्षा ली है—इस धारणाका दूसरा भाग है; अर्जुन नमूना है संघर्षमे पड़े हुए उस मानव-आत्माका जिसे अभीतक ज्ञान प्राप्त नही हुआ है, पर जो मानव-जातिमे विद्यमान उन श्रेष्ठतर तथा भागवत आत्माके उत्तरोत्तर अधिकाधिक समीपमे रहने तथा उनका अतरग सखा होनेके कारण इस ज्ञानको कर्म-जगत्मे प्राप्त करनेका अधिकारी हो गया है। गीताके प्रतिपादनकी एक ऐसी पद्धति भी है जिससे केवल यह उपाख्यान ही नही बल्कि सपूर्ण महाभारत मनुष्यके आंतरिक जीवनका एक रूपकमात्र बन जाता है, और फिर उसमे हमारे इस बाह्य जीवन और कर्मका कोई सबध नही रहता, बल्कि इसका सबध अतरात्मा और शक्तियोके युद्धोसे रह जाता है जो हमारे अदर स्वत्वके लिये लडती है। इस प्रकारके विचारकी पुष्टि इस महाकाव्यके साधारण स्वरूप और इसकी यथार्थ भाषासे तो नही होती और यदि इस विचारपर बहुत अधिक जोर दिया जाय तो गीताकी सीधी-सादी दार्शनिक भाषा आदिसे अंततक क्लिष्ट, कुछ-कुछ निरर्थक दुर्बोधतामे बदल जायगी। वेदकी और कम-से-कम पुराणोके कुछ अशकी भाषा स्पष्ट रूपसे रूपात्मक है, ये दृश्यमान जगत्की ओटमे रहनेवाली वस्तुओके वर्णनसे और उनके स्थल दिग्दर्शनसे भरे पड़े है, पर गीतामे जो कुछ कहा गया है, साफ-साफ कहा गया है और मनुष्यके जीवनमे जो बड़ी-बड़ी नैतिक और आध्यात्मिक कठिनाइया उपस्थित होती है उन्हीको हल करना इसका हेतु है, इसलिये इसकी स्पष्ट भाषा और सुस्पष्ट विचारोको एक ओर धरकर अपने मनके अनुसार तोड़-मरोड़कर उनका अर्थ लगाना ठीक नही। परंतु इस विचारमे इतना-सा सत्य तो है ही कि गीताकी शिक्षाको जितने सुन्दर ढंगसे यहां बैठाया गया है वह यदि प्रतीकात्मक न भी हो तो भी उसको एक विशिष्ट प्रकारका नमूना अवश्य ही कहा जा सकता है, और वास्तवमें गीता जैसे ग्रथकी शिक्षाको इसी प्रकार बैठाना ही चाहिये नही तो यह जो कुछ रचना

कर रही है उसके साथ इसका कोई संबध नही रह जाय । यहां अर्जुन एक महान् जगत्व्यापी संघर्षमे राष्ट्रो और मनुष्योके भगवत्-परिचालित कर्मको करनेवाला एक प्रतिनिधि-पुरुष है; गीतामें यह उस कर्मनिष्ठ मानव-जीवका नमूना है जो अपने कर्मके द्वारा कर्मके उस उत्कट और अति भीषण सकटके समय इस समस्याके सामने आ पडा है कि मनुष्यके जीवनमे और आत्मस्थितिमे, यहां-तक कि पूर्णतासबधी शुद्ध नैतिक आदर्शमे भी आपातत जो यह असगति दिखायी देती है वह आखिर क्या बात है।

अर्जुन इस युद्धमे रथी है और भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथी। वेदमे भी एक जगह यह वर्णन आता है कि मानव-आत्मा और देव एक रथपर बैठे लड़ाई लड़ते हुए किसी महान् गंतव्य स्थानकी ओर जा रहे हैं। पर वहा वह वर्णन केवल आलकारिक है, रूपक है। देव वहा इद्र है जो ज्योतिर्लोक और अमृतके स्वामी हैं, दिव्य ज्ञानकी शक्ति हैं और वे असत्य, तमस, परिच्छिन्नता और मृत्युके सतानोके साथ युद्ध करनेवाले सत्यान्वेषी मनुष्योकी सहायताके लिये नीचे अवतरित होते है, युद्ध आत्माके शत्रुओके साथ है जो हमारी सत्ताके उच्चतर लोकका रास्ता रोके हुए है, और गंतव्य स्थान है वह बृहत् लोक जो परम सत्यके आलोकसे आलोकित है और जो सिद्ध आत्माके चिन्मय अमृतत्वका धाम है, जहाके इंद्र स्वामी है। मानव-आत्मा कुत्स है, वह अपने कुत्स नामके अनुरूप सतत साक्षी चैतन्य-के ज्ञानका साधक है, वह अर्जुन या अर्जुनीका पुत्र है, शुक्ल है, शुक्ल माता स्वित्राका शिशु है, अर्थात् ऐसा सात्त्विक विशुद्ध और प्रकाश-मय अन्तःकरणवाला जीव है कि जो दिव्य ज्ञानकी अटूट गरिमा-महिमाकी ओर सदा उन्मुख है। और जब रथ अपने गंतव्य स्थानको पहुंचता है अर्थात् इद्रके अपने लोकमें, तब मानव कुत्स उन्नत होते-होते अपने देव सखाके साथ इतना सादृश्य लाभ करता है कि कौन इंद्र है और कौन कुत्स, इसकी पहचान इंद्रकी अर्द्धांगिनी शचीके कारण ही हो पाती है, क्योंकि शची "ऋत-प्रज्ञा" है। यह

रूपक स्पष्ट ही मनुष्यके आतरिक जीवनका है; ज्ञानका प्रकाश जैसे-जैसे बढता है वैसे-वैसे मनुष्य सनातन भगवान्का सादृश्य लाभ करता है, यही बात इस रूपकके द्वारा दिखायी गयी है। परतु गीताका उपक्रम कर्मसे होता है और अर्जुन कर्मी है, ज्ञानी नही, योद्धा है, ऋषि-मुनि या तत्त्व-जिज्ञासु नही।

गीतामे आरभमे ही शिष्यकी यह विशिष्ट मनोभूमि स्पष्ट करके बतला दी गयी है और अथमे इनितक इसका पूर्ण निर्वाह हुआ है। सबसे पहले उसकी यह विशिष्ट मनोभूमि प्रकट होती है उसके अपने कार्यके सबधमे, अर्थात् जिस महान् सहार-कार्यका वह प्रधान यत्र बनने जा रहा है उसके सबधमे जिस ढगसे होश आया है उसमे, इस होशके आते ही जो विचार उसके जीमे उठते है उनमें और जिनके कारण उसमे इस महाभयानक विपत्तिसे पश्चात्पद होनेकी इच्छा होती है वैसे उसके दृष्टिकोण और प्रेरक-भावमे। ये विचार, यह दृष्टिकोण और ये प्रेरक-भाव किसी दार्शनिक या किसी गभीर विचारशील व्यक्तिके अथवा इस प्रसगमे या वैसे ही किसी अन्य प्रसगके सम्मुख आ पडे हुए किसी आध्यात्मिक वृत्तिवाले पुरुषके नही हो सकते। इनको हम व्यावहारिक या मत-विशेषमे विश्वास रखनेवाले मनुष्यकी उपज कह सकते है, वैसे मनुष्यकी जो भावुक, रागद्वेषयुक्त, नैतिक और चतुर है, जिसे किसी गभीर और मौलिक भावको पकड़ने अथवा किसी गहराईकी थाह लेनेका अभ्यास नही, अभ्यास है ऊचे पर बधे-बधाये विचारोंको सोचने और वैसे ही कर्मको करनेका तथा सकटो और कठिनाइयोंको विश्वासपूर्वक पार करनेका, किंतु अब वह यह पाता है कि उसके सारे-के-सारे पैमाने उसके काम नही आ रहे है तथा उसको अपनेमें और अपने जीवनमें जो विश्वास था वह लहरके एक ही झोंकेमे बहा जा रहा है। अर्जुनके सामने जो संकट-काल उपस्थित है वह ऐसा है।

गीताकी भाषामें अर्जुन त्रिगुणके अधीन है और त्रिगुणके इसी क्षेत्रमे अबतक वह निश्चित होकर चला है जैसे कि सब लोग होते

और चलते है। उसका नाम अर्जुन इतने ही अंशमें चरितार्थ है कि वह यहांतक शुचि और सात्विक है कि उसका जीवन ऊचे और स्पष्ट सिद्धातो और आवेगोसे परिचालित होता है और वह स्वभावत: अपनी निम्न प्रकृतिको उस महत्तम धर्मके अधीन रखता है जिसको वह जानता है। वह उद्दड आसुरी प्रवृत्तिवाला पुरुष नही है, अपने मनोविकारोका दास नही है, प्रत्युत शांत, दात, कर्तव्यनिष्ठ है, देशकालमान्य उत्कृष्ट मर्यादाओंका, जिनमे उसका जीवन बीता है, तथा जिस धर्म और सदाचारके अंदर वह पला है उनका पालन करनेवाला है। पर अन्य मनुष्योके समान उसमें भी अहंकार है, उसका अहंकार अवश्य ही शुद्धतर और सात्विक अहकार है जो मुख्यत: अपने ही स्वार्थो, वासनाओ और मनोविकारोके दासत्वमे धसा न रहकर धर्म, समाज और दूसरोके हितका भी विचार रखता है। शास्त्रोके अनुसार ही वह रहा और चला है। उसके चित्तमे जो सबसे प्रधान भाव या विचार है, मनुष्यके जिस मानदंडके अनुसार वह चलता है वह है धर्म, अर्थात् सामूहिक भारतीय धारणाके अनुसार मानव-जातिका परिचालन करनेवाला धार्मिक सामाजिक और नैतिक नियम, विशेषकर स्वजातिधर्म अर्थात् क्षात्रधर्म, क्योकि वह क्षत्रिय है, धीर वीर उदार राजपुत्र है, योद्धा है, आर्योंका नेता है। इसी क्षात्रधर्मके अनुसार सदा पुण्यमार्गपर चलता हुआ वह यहांतक आया है और अब यहां आकर अकस्मात् वह यह देखता है कि इसने उसको एक अति भीषण, अभूतपूर्व संहार-कर्मके सामने, उस कार्यके प्रमुख पात्ररूपसे ला पटका है, ऐसे भयानक गृहयुद्धके सामने ला पटका है जिसमे सभी सुसंस्कृत आर्यराष्ट्र सम्मिलित है और उसमे उनके समस्त मानवमुकुटमणि नष्ट हो जायंगे और भय है कि उनकी व्यवस्थित सभ्यतामें विश्रृंखला छा जायगी और वह विनाशको प्राप्त हो जायगी।

फिर अर्जुनका कर्मी होना इस बातसे भी सिद्ध होता है कि वह अपने सवेदनोंके द्वारा ही अपने कर्मके आशयके प्रति सचेत होता है।

अर्जुनने अपने सखा और सारथीसे कहा, मेरा रथ दोनो सेनाओके बीच ले चलिये, किसी गभीर भावनासे नही बल्कि दर्पके साथ उन करोडो मनुष्योका मुह एक निगाह देख लेनेके लिये जो अधर्मका पक्ष लेकर वहा आये थे और जिनका अर्जुनको इस रणरगमे सामना करना है, जिन्हे जीतना और मारना है इसलिये कि धर्मकी विजय हो। परतु उस दृश्यको देखनेके साथ ही उसकी आख खुलती है और इस गृहकलह और पारस्परिक युद्धका अर्थ उसकी समझमें आता है—यह वह युद्ध है जिसमे एक ही जाति, एक ही राष्ट्र, एक ही वशके नही, बल्कि एक ही कुल और एक ही घरके लोग एक-दूसरेके शत्रु बन आमने-सामने खड़े है। जिन लोगोको यह सामाजिक मनुष्य परम प्रिय और पूज्य मानता है उन्ही सब लोगोका उसे शत्रुके नाते सामना करना और बध करना होगा, पूज्यपाद और गुरु आचार्य, पुराने सगी, साथी, मित्र, सहयोद्धा, दादा, चाचा, और वे लोग जो रिश्तेमे पिताके समान, पुत्रके समान, पौत्रके समान है, वे लोग जिनके साथ रक्तका सबध है या जो साले-सबधी है,—ये सब सबध यहा तलवारके घाट उतार डालने है। इन बातोको अर्जुन पहले न जानता हो सो नही, पर इनका उसको अनुभव नही हुआ था, क्योकि उसको तो अपने दावोकी, उनपर जो अत्याचार हुए थे उनकी, उसके जीवनके जो सिद्धान्त थे उनकी और न्यायके लिये लडना होगा, न्याय और धर्मकी रक्षा करनी होगी तथा अधर्म और अत्याचारसे युद्ध करके उनको मार भगाना होगा इन सब बातोकी धुन सवार थी और इसलिये उसने इस युद्धके इस पहलूको न तो कभी गहराईके साथ सोचा न अपने हृदयके अंतस्तलमे अनुभव ही किया। यह बात अब उसकी अंत:दृष्टिके सामने भगवान् सारथी ले आते है, उसकी आखोके आगे सनसनीखेज तरीकेसे उपस्थित करते है और इससे उसकी संवेदनात्मक, प्राणमय और भावमय सत्ताके मर्मस्थानोमें एक गहरा धक्कासा लगता है।

इसका पहला परिणाम यह होता है कि उसकी इन्द्रियां और उसका शरीर भयानक संकटमें पड़ जाते है, जिससे उपस्थित कर्म और उसके वैषयिक फलसे और फिर जीवनसे ही उसका चित्त उचाट हो जाता है। अहभावयुत मानवजातिके प्राण जिस सुख और भोगके पीछे पड़े रहते है उनसे अर्जुन अपना मुह फेर लेता है और क्षत्रियोके प्राणोमें विजय, राज्य, अधिकार और मनुष्यों-पर शासन करनेकी जो प्रधान लालसा रहती है, अर्जुन यहा उसका भी त्याग कर देता है। यह धर्मयुद्ध आखिर है किसलिये, इस बातको इसके व्यावहारिक अर्थोंमे यदि विचारा जाय तो सिवाय इसके इसका और हेतु ही क्या ह कि हम, हमारे भाई और हमारे दलवालोंकी बन आवे, हम लोग अधिकाराम्ढ हों, नाना प्रकारके भोग भोगें और संसारमें राज करें? पर इन चीजोके लिये यदि इतनी बड़ी कीमत देनी पड़ती हो तो ये व्यर्थ है। इन चीजोका स्वयं अपना मूल्य कुछ भी नही है, ये तो सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनको सुसंपन्न बनाये रखनेके साधनमात्र है और मै जो अपने परिवार और जातिके लोगोका संहार करने जा रहा हूं इस बातसे तो ये उद्देश्य ही नष्ट होते है। तब माया-ममता पुकार उठती है, अरे, जिन्हे तुम शत्रु मानकर मारना चाहते हो वे तो अपने ही लोग है जिनके लिये ही तो जीवनकी और सुखकी कामना की जाती है। सारी पृथिवीका राज लेकर, या तीनों लोकोंका राज लेकर भी भला इन्हे कौन मारना चाहेगा? इन्हें मारकर फिर यह जीवन ही क्या होगा? उसमें सुख ही क्या होगा? संतोष भी किस बात-से कर सकेगे? ओफ! यह सब तो एक महापापमय कांड है! अब वह नैतिक बोध जाग उठता है संवेदनों और माया-ममताओंके विद्रोहका समर्थन करनेके लिये, यह पाप है, आपसके लोगोंकी मार-काटमें न कहीं न्याय है न धर्म; विशेषतः तब जब कि जिन्हें मारना है वे तो वे लोग हैं जो स्वभावतः ही पूज्य और प्रेमभाजन है, जिनके बिना जीना भार होता है, और इन पवित्र भावनाओंकी हत्या करना

कभी पुण्य नही हो सकता, यही नही यह पाप है, दारुण पाप है। माना कि अपराध उनका है, आक्रमणका आरंभ उनकी ओरसे हुआ, पाप उनसे शुरू हुआ, लोभ और स्वार्थाधताके पातकी वे है जिसके कारण यह दशा उत्पन्न हुई; फिर भी जैसी परिस्थिति है उसमें अन्यायका जवाव खगसे देना खुद ही एक पाप होगा और यह पाप उनके पापसे भी बढ़कर होगा, क्योकि वे तो लोभसे अन्धे हो रहे हैं और अपने पापका उन्हे ज्ञान नही, पर हम लोग तो जानते है कि यह लड़ाई लडना पाप है। लडाई भी किसलिये? कुलधर्मकी रक्षाके लिये, जातिधर्मकी रक्षाके लिये, राष्ट्रधर्मकी रक्षाके लिये? पर इन्ही धर्मोका ही तो इस गृहयुद्धमे नाश होगा; कुल नष्टप्राय होगा, जातिका चरित्र कलुषित होगा और उसकी शुद्धता नष्ट होगी, सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट होगे। जाति ध्वंस होगी, परंपरा टूट जायगी, लोग आचार-भ्रष्ट होगे और इस अपराधके अपराधियोंको नरक मिलेगा; इस भयंकर गृहयुद्धके प्रत्यक्ष परिणाम ये ही तो होंगे। "इसलिये" अर्जुन गाण्डीव धनुष और कभी खाली न होनेवाला तरकस, जिनको देवताओंने उसको इस विषम घड़ीके लिये दिया था, नीचे रखकर पुकार उठता है, "मेरा कल्याण तो इसीमें है कि धृतराष्ट्रके पुत्र मुझ शस्त्रहीन और अप्रतीकारको मार डालें! मै तो युद्ध नही करूंगा।"

अतएव अर्जुनके ऊपर जो यह आतरिक संकट आया उसका कारण किसी तत्त्वजिज्ञासुके अंदर उठनेवाला कोई प्रश्न नही है, न यह इस कारणसे ही पैदा हुआ है कि अर्जुन जीवनके दृश्योसे घबराकर अपनी दृष्टिको वस्तुओंके सत्यकी खोजमें, स्थितिके यथार्थ आशयकी खोजमें और इस जगत्की अंधेरी पहेलीको सुलझाने या उससे बचनेके लिये अंतर्मुखी करना चाहता हो। यह तो उस मनुष्यके इंद्रिय, मन, प्राण, हृदय और धर्मबुद्धिका विद्रोह है जो अबतक निश्चित भावसे कर्म ही करता और उसके प्रचलित मानदंडको मानता चला आया है। पर इस मानदंड और इन कर्मोंने

उसे एक ऐसे भीषण विप्लवमे लाकर झोंक दिया हैं कि यहां वे कर्म और उनके वे मानदंड एक-दूसरेके और स्वयं अपने भी भयकर विरोधी हो गये है और आचारका कोई आधार ही नही रह गया है जिसपर वह खड़ा हो सके, जिसके सहारे वह चल सके, अर्थात् कोई धर्म ही नही रह गया* । मनोमय कर्मी पुरुषके ऊपर आनेवाली सबसे वड़ी आपत्ति यही है, यही उसकी सबसे बड़ी च्युति और अवनति है। इस विद्रोहका स्वरूप सहज और स्वाभाविक है; इन्द्रियो और मनका विद्रोह यो कि इन्द्रिय और मन भय, अनुकपा और जुगुप्सासे विवश हो गये है; प्राणोका विद्रोह यो कि कर्मके इष्ट और सुपरिचित उद्देश्योमें और जीवनके ध्येयोमे कोई आकर्षण, कोई श्रद्धा नही रह गयी; हृदयका विद्रोह यो कि समाजके अगभूत मनुष्यमात्रके हृदयमे स्नेह, श्रद्धा, सबके लिये समान सुख और संतोषकी इच्छा आदि जो भाव होते हैं वे ही उस कठोर कर्तव्यके विरुद्ध आकर खडे हो गये, क्योकि उस कर्तव्यसे ये भाव कुचले जाने लगे; धर्मबुद्धिका विद्रोह यो कि पाप और नरककी मौलिक भावनाएं उठ खड़ी हुई और "रुधिरप्रदिग्ध भोग" कहकर युद्धसे हटनेका तकाजा करने लगी; प्रकृत व्यवहारकी दृष्टिसे विद्रोह यो कि धर्माधर्म-विचारके इस मानदडको माननेका यह फल देख पडा कि धर्मकर्मका जो प्रकृत उद्देश्य है वही इससे नष्ट हुआ जाता है। पर सबका तात्पर्य यह रहा कि अर्जुनके सर्वान्त.करणका दिवाला निकल गया और "कार्पण्य-दोषोपहतस्वभावः" कहकर अर्जुन अपनी इसी अवस्थाको प्रकट करता है, न केवल उसका विचार बल्कि उसका हृदय, उसकी प्राणगत वासनाएं, उसकी सपूर्ण चेतना ही "उपहत" हो गयी और वह "धर्मसमूढ़चेताः" हो गया—धर्मका उसे कहीं

---

*धर्म शब्दका धात्वर्थ धारण करना है—अर्थात् धर्म माने वह विधि, मान, नियम, कर्म और जीवन जिसका धारण किया जाता है और जो सब पदार्थोंको एक साथ धारण करता है।

पता नही चला, क्या करे और क्या न करे इसको स्थिर करनेका कोई पैमाना नही मिला। बस, इसीलिए वह शिष्य होकर श्रीकृष्णकी शरणमे आता है और वह यथार्थमे प्रार्थना करता है कि मुझे वह वस्तु दीजिये जिसको मैने खो दिया है, एक सच्चा धर्म दीजिये, कर्मका एक स्पष्ट विधान बता दीजिये, एक मार्ग दिखा दीजिये जिसके सहारे मै फिर दुबारा निश्चयके साथ चल सकू। वह इस जीवन या संसारके रहस्य और इन सबके उद्देश्य और हेतुको नही जानना चाहता, जानना चाहता है केवल धर्म।

तथापि वही रहस्य, जिसे जाननेकी कोई इच्छा अर्जुनने नहीं की, भगवान् उसे बतलाना चाहते है, कम-से-कम उसको उतना ज्ञान तो करा ही देना चाहते है जो उसे किसी उच्चतर जीवनकी ओर ले जानेके लिये आवश्यक है; क्योकि भगवान् यह चाहते है कि अर्जुन सब धर्मोका त्याग कर दे तथा उसका एक ही बृहत् और विशाल धर्म हो और वह हो भगवान्मे सचेतन होकर निवास करना तथा उसी चेतनासे युक्त होकर कर्म करना। इसलिये आचारके जो सामान्य मान है उनके प्रति अर्जुनके अतःकरणका जब विद्रोह हुआ तबसे उस विद्रोहको हर तरहसे जाचकर भगवान् उसे वह बात बतलाना आरम्भ करते है जिसका संबध आत्मिक अवस्थासे है, कर्मके किसी बाह्य विधानसे बिलकुल नही। अर्जुनको उपदेश किया जाता है कि तुम आत्माकी समतामे निवास करो, कर्मके फलोंकी इच्छा त्याग दो, पाप-पुण्य-संबधी जो बौद्धिक विचार है उनके ऊपर उठो, मनको समाहित करके योगस्थ होकर अर्थात् भगवान्में ही सर्वथा स्थित होकर रहो और कर्म करो। अर्जुनको सतोष नही होता, वह यह जानना चाहता है कि यह स्थिति प्राप्त होनेसे इसका मनुष्यके बाह्य कर्ममे क्या असर होगा, उसके भाषणपर, उसकी गतिविधिपर, उसकी अवस्थापर इसका क्या परिणाम होगा, इसके कारण इस कर्मनिष्ठ, सजीव मानवप्राणिमे क्या अंतर होगा। श्रीकृष्ण फिर भी, उन्ही ज्ञानकी बातोंको ही विशद

करते है जो वे यहांतक बता चुके, कर्मके पीछे रहनेवाले आत्माकी अपनी स्थितिका ही निर्देश करते है, स्वय कर्मकी कोई बात नहीं कहते और यह बतलाते है कि अपनी बुद्धिको वासनारहित समत्वकी अवस्थामें स्थिर निबद्ध करो, बस, यही एक करनेकी बात है। अर्जुन अधीर हो उठता है, क्योकि जो आचार वह जानना चाहता था उसका तो यहां कोई पता नही चलता, बल्कि यहा तो संपूर्ण कर्मका अभाव ही देख पड़ता है। अर्जुन बडी व्यग्रतासे पूछता है, "यदि बुद्धिको आप कर्मसे श्रेष्ठ बतलाते है तो मुझे इस घोर कर्ममें क्यों लगाते है ? आपकी दुतरफा मिली हुई बातसे मेरी बुद्धि घबरा जाती है, एक बात निश्चित रूपसे बताइये जिससे मै श्रेयकी प्राप्ति कर सकू।" सदा ही कर्मी मनुष्यके आगे आध्यात्मिक विचार तथा आंतरिक जीवनका कोई मूल्य नही होता यदि इनसे उसको उस धर्मकी प्राप्ति न होती हो तो जिसे कि वह खोजता होता है और उसकी खोज यही होती है कि वह सासारिक जीवनको सु-व्यवस्थित करनेके लिये कोई विधान पा जाय, फिर यदि आवश्यक हो तो भले ही यह विधान उसे संसारको छोड़ देनेके लिये कहे; कारण यह भी एक निश्चयात्मक बात होगी जिसको वह समझ सकेगा। परतु संसारमे रहकर कर्म करना और फिर उससे परे रहना, यह एक ऐसी "व्यामिश्र" (मिली हुई) और चक्करमें डालने-वाली बात है जिसे ग्रहण करनेके लिये उसमे धैर्य नही।

अर्जुनके शेष जितने भी प्रश्न है, उसका बाकीका जो कुछ भी कहना है वह उसके इसी कर्मी स्वभाव और चारित्र्यसे उत्पन्न हुआ है। जब उससे यह कहा जाता है कि आत्मस्थिति जब प्राप्त हो गयी तब यह कोई जरूरी बात नही कि कर्मका बाह्य रूप भी बदल जाय, कर्म सदा स्वभावके अनुसार ही करना होगा, चाहे वह कर्म दूसरेके कर्मकी तुलनामें सदोष और त्रुटिपूर्ण ही क्यो न प्रतीत हो, तब इस बातसे उसका चित्त घबरा उठता है। स्वभावके अनुसार कर्म करना होगा! किंतु अर्जुनका जो यहां मुख्य विषय है अर्थात्

इस कर्मको करनेसे पापकी जो आशका होती है उसका क्या हुआ ? क्या यह स्वभावके कारण ही नही होता कि मनुष्य मानो विवश होकर और अपनी मर्जीके खिलाफ भी पाप और अपराध करते है ? इसी प्रकार जब श्रीकृष्ण आगे चलकर यह कथन करते है कि मैंने ही पुराकालमे यह योग विवस्वानको बतलाया था, जो काल पाकर नष्ट हुआ और वही मै आज तुम्हे बता रहा हू, तब भी अर्जुनकी कर्मीस्वभावबुद्धि चकरा गयी और उसने जब इसका खुलासा मतलब तलब किया तब श्रीकृष्णने अवतार-तत्त्व और उसके सासारिक प्रयोजनके सबधमे वे प्रसिद्ध वचन कहे जिनका जहा-तहां पुनः-पुनः स्मरण किया जाता है। अर्जुन फिर श्रीकृष्णके शब्दोसे वहां घबरा जाता है जहा श्रीकृष्ण कर्म और कर्म-सन्यास दोनोका समन्वय करते है और वह वही बात फिर कहता है कि एक ही बात निश्चित रूपसे बताइये, यह 'व्यामिश्र' वाक्य नही। जिस योगको अपनानेके लिये अर्जुनसे कहा जा रहा है उस योगका स्वरूप जब पूरे तौरपर वह समझ लेता है तब उसका कर्मी स्वभाव जो अपने मनके संकल्प, मनकी पसद और मनकी इच्छासे ही कर्ममे प्रवृत्त होना जानता है, इस योगको बहुत कठिन जानकर उससे शकित होता है और इसीसे अर्जुन यह पूछता है कि उस पुरुषकी क्या गति होती है जो इस योगका साधन करता है पर योगसिद्धिको नही प्राप्त होता, क्या वह मानव कर्म विचार और भाववाले इस जीवनको जिसे उसने योगके लिये पीछे छोड़ दिया तथा उस ब्राह्मी स्थितिको जिसे पानेके लिये वह आगे बढ़ा, इन दोनोको ही तो नही खो बैठता और इस प्रकार उभय-विभ्रष्ट होकर छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नही हो जाता ?

जब उसकी सब शंकाओका समाधान हुआ और सब उलझनें सुलझ गयी और उसने जाना कि भगवान्को ही उसे अपना धर्म-कर्म मानना होगा, तब भी वह बार-बार और हर बार उसी सुस्पष्ट और सुनिश्चित ज्ञानकी ओर इशारा करता है, जो उसे इस मूलतक, इस भावी कर्म-विधानतक हाथ पकड़कर पहुंचा दे। सत्ताकी

विविध अवस्थाओंमें जिनमें हम सामान्यतया रहते हैं, उनमें भगवान्को कैसे परखें? संसारमें उनकी आत्मशक्तिकी वे कौनसी प्रधान अभिव्यक्तियां हैं जिनको वह ध्यानद्वारा पहचान सके और अनुभव कर सके? क्या अर्जुन इस क्षणमे भी उनके भागवत विश्वरूपको नही देख सकता जो मानव मन-बुद्धि और शरीरकी आड़मे छिपा रहकर उससे वास्तवमे बात कर रहा है? अर्जुनके अंतिम प्रश्न कर्म-संन्यास और यह सूक्ष्मतर संन्यास (त्याग) जो करनेको अर्जुनसे कहा जा रहा है, इन दोनोके स्पष्ट भेद, पुरुष और प्रकृति, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके बीच वास्तविक भेद जाननेके लिये हैं जिनका जानना भागवत संकल्पसे प्रेरित होकर निष्काम कर्म करनेके अभ्यासके लिये अत्यंत आवश्यक है; और फिर अंतमें अर्जुन प्रकृतिके तीन गुणोंके कर्म और उनके परिणाम सुस्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहता है क्योंकि इन तीनो गुणोको पार करनेके लिये उससे कहा गया है।

गीतामें भगवान् गुरु अपने ऐसे शिष्यको अपनी भागवत शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। अहंभावके साथ कर्म करते-करते शिष्य अपने अंतर विकासकी उस अवस्थाको प्राप्त हुआ है जिसमे उसके अहंता-ममतायुक्त जीवन और सामाजिक आचार-विचारका कोई मानसिक, नैतिक और भाविक मूल नही रह गया है, हठात् उनका दिवाला निकल गया, ठीक इसी संधिक्षणमे गुरु अपने शिष्यको पकड़ते हैं और वे उसे इस निम्न जीवनसे उठाकर पर-चैतन्यमे ले जाना चाहते हैं, कर्मकी इस अज्ञानमयी आसक्तिसे छुडाकर उस सत्ताको प्राप्त कराना चाहते हैं, जो कर्मके परे है, पर है कर्मका उत्पादन और व्यवस्थापन करनेवाली, अहंकारसे निकालकर आत्मामे ले जाना चाहते हैं, मन-बुद्धि, प्राण और शरीरके जीवनसे निकालकर मन-बुद्धिके परेकी उस परा प्रकृतिमे ले जाना चाहते हैं जो भागवत स्थिति है। इसके साथ ही भगवान्को उसे वह चीज भी देनी है जो वह चाहता है और जिसे चाहने और ढूंढ़नेकी स्फूर्ति उसे उसकी

अंत:स्थित सत्ताके निर्देशके द्वारा ही हो रही है अर्थात् इस जीवन और कर्मके लिये एक नवीन धर्म जो इस अपर्याप्त सामान्य मनुष्य-जीवनके परस्पर विग्रह, विरोध, उलझन और भ्रामक निश्चयोसे परिपूर्ण विधानसे कोई बहुत ऊपरकी चीज है, वह परम धर्म देना है जिससे जीव कर्मबंधसे मुक्त होता और फिर भी अपने भागवत स्वरूपकी बृहन्मुक्तस्थितिमे कर्म करने और विजय सपादन करनेकी शक्तिसे युक्त होता है। कारण कर्म तो करना ही होगा, जगत्को अपने कालचक्र पूरे करने ही होगे और मानवशरीरी आत्माका यह काम नही कि वह जिस कर्मको करनेके लिये यहा आया है उस अपने नियत कर्मकी ओर अज्ञानवश अपनी पीठ फेर दे। गीताकी शिक्षाका सपूर्ण क्रम, उसकी व्यापक-से-व्यापक परिक्रमामे भी, इन्ही तीन उद्देश्योके लक्ष्यमे ही बंधा और इसी लक्ष्यकी ओर ले जानेवाला है।

उपदेशका सारमर्म

गीतामें गुरु श्रीभगवान् है यह हमने जाना, और शिष्य मानव है यह देखा; अब यह बाकी है कि हमे गीताकी शिक्षाकी स्पष्ट धारणा हो जाय। यह स्पष्ट धारणा ऐसी होनी चाहिये कि गीताकी मुख्य शिक्षा, उसका सारमर्म हमारी समझमें आ जाय, क्योकि गीतामे बहुमूल्य और बहुमुखी विचार होनेके कारण तथा इसमें आध्यात्मिक जीवनके नानाविध पहलुओका समालिगन होनेके कारण और इसका प्रतिपादन वेगयुत चक्राकार गतिसे होनेके कारण सहज ही ऐसा हो जाता है कि लोग इसकी शिक्षाका, अन्य सद्-ग्रंथोकी अपेक्षा भी अधिक मात्रामे, पक्षपातयुत बुद्धिसे पैदा हुए एकपक्षीय भ्रात वर्णन करने लग जाते है। किसी तथ्य, शब्द या भावनाको ग्रथके अभिप्रेत तात्पर्यसे, जाने-बेजाने अलग करके उससे अपने किसी पूर्वगृहीत विचार या शिक्षा अथवा अपनी पसदका कोई सिद्धात स्थापित करना भारतीय नैयायिकोकी दृष्टिमे हेत्वाभासका एक बड़ा ही सुगम प्रकार है, और शायद यह प्रकार ऐसा है कि अत्यंत सावधान रहनेवाले दार्शनिकके लिये भी इससे बचना बडा ही कठिन होता है। कारण इस विषयमें मनुष्यकी बुद्धि अपना दोष आप ही ढूढ़ निकालनेकी सावधानी सदा रख सकनेमें असमर्थ होती है; उसका स्वभाव ही किसी एकतरफा सिद्धांत, विचार या तत्त्वको ग्रहण कर उसीका मंडन करने और उसीको संपूर्ण सत्यके पानेकी कुंजी बना लेनेका होता है और इस स्वभावमें अपने-आपको ही बढ़ानेकी वृत्ति होती है जिसका कोई अंत नही है अर्थात् मनुष्य-बुद्धिमें यह जो इसका स्वरूपगत और पाला-पोसा

हुआ दोष है इस दोषको अपने कार्यमे ढूढ़ निकालनेसे इसकी दृष्टि फिरी रहती है। गीताके संबंधमें इस प्रकारकी गलती सहज ही बनती है, क्योकि इसके किसी भी एक पहलूको लेकर उसीपर खास जोर देकर अथवा इसके किसी खास जोरदार श्लोकको ही लेकर उसीको आगे बढ़ाकर अठारहों अध्यायोको पीछे करके या उन्हे गौण और अर्थवादात्मक करार देकर गीताको अपने ही मत या सिद्धांतका पोषक बना लेना अनायास ही साध्य है।

इस प्रकारसे कुछ लोगोंका यह कहना है कि गीतामे कर्मयोगका प्रतिपादन ही नही है बल्कि वे इसकी शिक्षाको ससार और सब कर्मोके सन्यासके लिये तैयार करनेवाली एक साधना मानते है; नियत कर्मोंको अथवा जो कोई कर्म सामने आ पडे उसको उदासीन होकर करना ही वह साधन या साधना है; ससार और सब कर्मोंका अतमे सन्यास ही है एकमात्र साध्य। गीतासे ही जहा-तहाके श्लोक लेकर और गीताकी विचारपद्धतिमे जहा-तहा थोडी खीचतान करके इस बातको प्रमाणित करना सहज ही बन जाता है और जब गीतामे 'सन्यास' शब्दके प्रयोगके विशिष्ट प्रकारकी ओरसे हम अपनी आखे फेर लेते है तब तो यह काम और भी आसान हो जाता है। परतु इस मतका आग्रह तब नही ठहर सकता जब कोई पक्षपातरहित होकर यह देखता है कि ग्रथमे अततक बार-बार यही बात कही जा रही है कि अकर्मकी अपेक्षा कर्म हो श्रेष्ठ है और कर्मकी यह श्रेष्ठता इस बातमे है कि इसमे वास्तविक रूपसे समत्वके द्वारा आतरिक त्याग करके कर्म परम पुरुषको अर्पण करना होता है।

फिर कुछ लोग यह कहते है कि गीताका संपूर्ण अभिप्राय भक्तितत्त्वके प्रतिपादनमे है। ये लोग गीताके अद्वैत तत्त्वोकी और इसमे सबके एक आत्मा ब्रह्ममे शात भावसे निवास करनेकी स्थितिको जो ऊंचा स्थान दिया गया है उसकी, अवहेलना करते है। और इसमे संदेह नही कि गीतामें भक्तिपर बड़ा जोर दिया गया है,

फिर बारंबार इस बातको दुहराया गया है कि भगवान् ही ईश्वर और पुरुष है, और फिर गीताने पुरुषोत्तम-सिद्धांत प्रस्थापित कर यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् पुरुषोत्तम है, उत्तम पुरुष है अर्थात् क्षर पुरुषके परे और अक्षर पुरुषसे भी श्रेष्ठ है और ये ही है वे जिन्हे जगत्के संबंधसे हम ईश्वर कहते है, गीताकी ये सब बातें बडे मार्केकी है, मानो उसकी जान है। तथापि ये ईश्वर वह आत्मा है, जिनमें सपूर्ण ज्ञान परिसमाप्त होता है, ये ही यज्ञके प्रभु है जिनके समीप सब कर्म हमको ले जाते है और ये ही प्रेममय स्वामी है जिनमें भक्त-हृदय प्रवेश करता है। गीता इन तीनोको ही बराबर रखती है। कही ज्ञानपर जोर देती है तो कही कर्मपर और कही भक्तिपर, परंतु यह जोर देना उसके तात्कालिक विचार-प्रसंगसे है, इस मतलबसे नही कि इनमेसे कोई भी किसीसे सर्वथा श्रेष्ठ या कनिष्ठ है। जिन भगवान्मे ये तीनो ही मिलकर एक हो जाते है वे ही परम पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं।

परंतु आजकल, अर्थात् जबसे आधुनिकोने गीताको माना और उसका कुछ भी विचार करना आरभ किया है तबसे, गीताके ज्ञान-तत्त्व और भक्तितत्त्वको गौण मानकर, उसके कर्मविषयक लगातार आग्रहका लाभ लेकर उसे एक कर्मयोग-शास्त्र, कर्ममार्गमे ले जाने-वाला एक प्रकाश, कर्म-विषयक एक सिद्धांत ही माननेकी ओर लोगोंका झुकाव देखनेमे आता है। इसमे सदेह नही कि गीता कर्मयोग-शास्त्र है, पर उन कर्मोका जो ज्ञानमे अर्थात् आध्यात्मिक सिद्धिमें और शांतिमे परिसमाप्त होते है, उन कर्मोंका जो भक्ति-प्रणोदित है, अर्थात् यह वह ज्ञानयुक्त सचेतन शरणागति है जिस-में भक्त कर्मी अपने-आपको पहले भगवान्के हाथोमे सौप देता और पीछे भगवान्की सत्तामें प्रवेश करता है, यह उन कर्मोंका शास्त्र जरा भी नही है जिसे आधुनिक मन-बुद्धि कर्म मान बैठी है, उन कर्मोंका बिलकुल नहीं जो अहकार और परोपकारके भावसे किये जाते है या जो वैयक्तिक, सामाजिक और भूतदयाप्रयुक्त विचारों, सिद्धांतों

और आदर्शोसे प्रेरित होते है। फिर भी गीताके आधुनिक टीकाकार यही दिखाना चाहते है कि गीतामे कर्मका आधुनिक आदर्श ग्रहण किया गया है। कितने ही अधिकारी पुरुषोद्वारा लगातार यह कहा जाता है कि भारतीय विचार और आध्यात्मिकताकी जो सामान्य प्रवृत्ति है कि मनुष्यको वैरागी और शातिकामी निवृत्तिमार्गी बना देना, उसका गीता विरोध करती है, यह स्पष्ट शब्दोमे कर्मके मानव-सिद्धातका, अर्थात् सामाजिक कर्त्तव्योको निःस्वार्थ भावसे करनेके आदर्शका, इतना ही नही बल्कि समाजसेवाके सर्वथा आधुनिक आदर्शका भी, प्रतिपादन करती है। उन सब बातोका उत्तर मेरे पास इतना ही है कि गीतामे, स्पष्ट ही, और केवल इसका ऊपरी अर्थ ग्रहण करते हुए भी, इस तरहकी कोई भी बात नही है, यह केवल आधुनिकोकी समझका फेर है, कुछ-का-कुछ और ही समझ लेना है, एक प्राचीन ग्रथको अर्वाचीन बुद्धिसे समझनेका यह फल है, सर्वथा पुरातन, प्राच्य और भारतीय शिक्षाको वर्तमान यूरोपीय या यूरोपीकृत बुद्धिसे जाननेकी व्यर्थ चेष्टा है। गीता जिस कर्मका प्रतिपादन करती है वह मानव-कर्म नही बल्कि दिव्य कर्म है, सामाजिक कर्तव्योका पालन नही बल्कि कर्तव्य और आचरणके अन्य सब पैमानोका त्याग कर अपने स्वभावके द्वारा कर्म करनेवाले भागवत संकल्पका निरहकार निर्मम आचरण है, समाजसेवा नही बल्कि श्रेष्ठ, भगवत्-अधिकृत महापुरुषोका वह कर्म है जो नाहकृत भावसे ससारके लिये उन भगवान्की प्रीतिपूजाके तौरपर यज्ञ-रूपसे किया जाता है जो मनुष्य और प्रकृतिके पीछे सदा विद्यमान है।

तात्पर्य, गीता नीतिशास्त्र या आचारशास्त्रका ग्रथ नही है, बल्कि आध्यात्मिक जीवनका ग्रथ है। आधुनिकोकी बुद्धि वर्तमान समयमें युरोपीय बुद्धि है जो अपने मूल सूत्र-स्वरूप यूनानीरूमी संस्कृतिकी परमोच्च अवस्थाके दार्शनिक आदर्शवादका ही नही बल्कि मध्यकालीन युगके ईसाई भक्तिवादका भी परित्याग

कर अब ऐसी बन गयी है; इन दार्शनिक आदर्शवाद और भक्तिवादके स्थानमे इसने व्यावहारिक आदर्शवाद और समाजसेवा, देशसेवा और मानवसेवाका भाव लाकर बैठाया है। ईश्वरसे इसने छुटकारा पा लिया है अथवा यह कहिये कि ईश्वरको केवल रविवारकी छुट्टी-के लिये रख छोड़ा है और ईश्वरके स्थानमें प्रतिष्ठित किया है देव-रूपसे मनुष्यको और प्रत्यक्ष पूज्य प्रतिमा-रूपसे समाजको। इस-की सर्वोत्तम अवस्थामे यह व्यवहार्य है, नैतिक और सामाजिक है, इसमे कर्मनिष्ठा है, परोपकार और मनुष्यजातिको सुखी करनेकी अभिलाषा है। ये सब बातें बहुत अच्छी है, आजकल इनकी खास आवश्यकता भी है, और ये भगवत्सकल्पका ही अश है, क्योकि यदि ये भगवत्संकल्पके अंग न होती तो मनुष्यजातिमे इन्हे इतनी प्रधान-ता प्राप्त होती ही नहीं। और फिर यह भी कोई बात नही है कि जिस मनुष्यने भागवत स्वरूपको प्राप्त कर लिया हो, जो ब्राह्मी-स्थितिकी चिन्मय अवस्थामें तथा भागवत सत्तामे रहता हो, उसके कर्ममे ये सब बातें न हों; बल्कि ये सब बातें उसके कर्ममे अवश्य रहेंगी यदि ये ही युगधर्म है, उस कालकी सबसे उत्कृष्ट ध्येय वस्तुएं है, और इनसे भी बड़ी और कोई चीज उस समय यदि होने योग्य नही है, कोई महत् आमूल परिवर्तन यदि उस समय होना नही है। कारण, जैसा कि भगवान् अपने शिष्यसे कहते है, वह पुरुषश्रेष्ठ है और उसे ऐसा आचरण करके दिखाना है जो दूसरोके लिये प्रमाण-स्वरूप हो; और सचमुच ही अर्जुनसे जो बात कही जा रही है वह यही है कि वह अपने समयके सर्वोत्कृष्ट आदर्श और तत्कालीन संस्कृतिके अनुसार आचरण करे, पर ज्ञानयुक्त होकर करे, उस वस्तुको जानकर करे जो इन सबके पीछे है, सामान्य मनुष्योंकी तरह नहीं जो केवल बाह्य धर्म और विधिका ही अनुसरण करते है।

परंतु विचारणीय बात यहां यह है कि आधुनिकोंकी बुद्धिने अपनी व्यावहारिक प्रेरक शक्तिमेंसे जिन दो असली चीजोंको अर्थात् ईश्वर या सनातन ब्रह्मको और आध्यात्मिकता या परमात्म-

स्थितिको निकाल बाहर कर दिया है वे ही गीताकी सर्वोत्कृष्ट भावनाएं है। आधुनिकोंकी बुद्धि मानवताके दायरेके अदर ही रहती है और गीता कहती है कि भगवान्में रहो—यद्यपि जगत्का कल्याण करना होगा, पर भगवान्मे रहकर; इसका जीना केवल इसके प्राण, हृदय और बुद्धिमे है और गीता कहती है कि आत्मामे जीओ; इसकी शिक्षा है क्षर पुरुषमें, 'सर्वाणि भूतानि' मे रहनेकी और गीताकी शिक्षा है अक्षर और परम पुरुषमे भी रहनेकी, इसका कहना है सदा बदलनेवाले कालप्रवाहके साथ बहे चलो और गीताका आदेश है सनातनमे निवास करो। अथवा, गीताकी इन उच्चतर बातोकी ओर यदि आजकल कुछ-कुछ ख्याल दौडने भी लगा है तो वह केवल इसलिये कि मनुष्य और मनुष्य-समाजकी इनसे कुछ सेवा करायी जाय। परतु भगवान् और आध्यात्मिक जीवन ऐसी चीजें है जो अपनी सत्तासे है, किसीके पुछल्ले नही। और व्यवहारमे हमारे अंदर जो कुछ निम्न है उसको उच्चके लिय जीना सीखना होगा जिससे कि हममे जो कुछ उच्च है वह भी निम्नके लिये सचेतन रूपसे विद्यमान रहे ताकि वह उसको अपनी उच्च भूमिकाके अधिकाधिक समीप ले आवे।

इसलिये आजकलकी मनोवृत्तिके विचारसे गीताका अर्थ करना और गीतासे जबर्दस्ती यह शिक्षा दिलाना कि नि.स्वार्थ होकर कर्तव्यका पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वसंपूर्ण धर्म है, बिलकुल गलत रास्ता ह। जिस प्रसंगसे गीतोपदेश हुआ है उसका किंचित् मात्र विचार करनेसे ही यह स्पष्ट हो जायगा कि गीताका ऐसा अभिप्राय हो ही नहीं सकता। कारण, जिस प्रसंगसे गीताका आविर्भाव हुआ और जिस कारणसे शिष्यको गुरुकी शरण लेनी पड़ी उसका सारा मर्म तो कर्तव्यकी ही परस्पर संबद्ध विविध भावनाओंका बेतरह उलझा हुआ वह संघर्ष है जो मानव-बुद्धिके द्वारा खड़ी की गयी सारी उपयोगी, बौद्धिक और नैतिक इमारतको ढाह देता है। मनुष्य-जीवनमें किसी-न-किसी प्रकारका संघर्ष तो

प्रायः उत्पन्न हुआ ही करता है, जैसे कभी गार्हस्थ्य-धर्मके साथ देशधर्म या देशकी पुकारका, कभी देशके दावेके साथ मानव-जातिकी भलाईका या किसी वृहत्तर धार्मिक या नैतिक सिद्धातका। एक आतरिक परिस्थिति भी खड़ी हो सकती है, जैसी कि गौतम बुद्धके बारेमे हुई; इस परिस्थितिमे आ पडनेपर अन्तःस्थित भगवान्के आदेशका पालन करनेके लिये सभी कर्तव्योंको त्याग देना, कुचल डालना और एक ओर फेक देना पडता है। मै नही समझता कि इस प्रकारकी आतरिक परिस्थितिका समाधान, गीता कभी यो कर सकती है कि वह बुद्धको फिरसे अपनी पत्नी और पिताके पास भेज दे और उन्हे साक्य राज्यकी बागडोर हाथमे ले लेनेके लिये कहे। अथवा न यह परमहस रामकृष्णसे ही यह कह सकती है कि तुम किसी पाठशालामे जाकर पडित होकर रहो और छोटे-छोटे बच्चोको निष्काम होकर पाठ पढाया करो, न विवेकानन्दको ही मजबूर कर सकती है कि तुम जाकर अपने परिवारका भरण-पोषण करो और इसके लिये वीतराग होकर वकालत या डाक्टरी या अखबार-नवीसीका धधा करो। गीता निःस्वार्थ कर्तव्य-पालनकी शिक्षा नही देती बल्कि दिव्य जीवन बितानेकी शिक्षा देती है, सब धर्मोका परित्याग सिखाती है (सर्वधर्मान् परित्यज्य), एक परमात्माका ही आश्रय ग्रहण करनेको कहती है; और बुद्ध, रामकृष्ण या विवेकानदका भागवत कर्म गीताकी इस शिक्षाके सर्वथा अनुकूल था। इतना ही नही, गीता कर्मको अकर्मसे श्रेष्ठ बतलाती हुई भी कर्मसन्यासका निषेध नही करती, बल्कि इसे भी भवगत्प्राप्तिके साधनोमेसे एक साधन ही स्वीकार करती है। यदि कर्म और जीवन और सब कर्तव्योका त्याग करनेसे ही उसकी प्राप्ति होती हो और इस त्यागके लिये प्रबल आंतरिक पुकार हो तो सब कर्मोंका स्वाहा करना ही होगा, इसमें किसीका कोई बस नही चल सकता। भगवान्की पुकार अलंघ्य है, दूसरे कोई भी विचार उसके सामने नही ठहर सकते।

परतु यहा एक और कठिनाई यह है कि जो कर्म अर्जुनको करना है वह ऐसा कर्म है जिससे उसकी नैतिक बुद्धि पीछे हटती ह। आप कहते है कि युद्ध करना उसका धर्म है, पर वह धर्म ही तो इस समय उसकी बुद्धिमे भयकर पाप हो गया है। तुम्हे नि.स्वार्थ भावसे और विकाररहित होकर अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये, ऐसा कहनेसे उसकी क्या सहायता होती है या उसकी कठिनाईका क्या हल होता है ? वह यह जानना चाहेगा कि उसका कर्तव्य क्या है अथवा यह कि अपने गोतियो, जातिभाइयो और देशवासियोका आम तौरपर रक्त बहाना भला उसका कर्तव्य कैसे हो सकता है ? उससे यह कहा जा रहा है कि न्याय, धर्म, सत्य तुम्हारे पक्षमे है, पर इससे उसको सतोष नही होता, सतोष हो ही नही सकता, कारण उसका तो कहना ही यही है कि हमारा पक्ष न्यायका है सही, पर उसके लिये राष्ट्रका भविष्य बिगाड़नेवाला निर्दय रक्तपात करना न्याय नही है। तो क्या अर्जुनसे यह कहना होगा कि तुम्हे इन सब बातोसे क्या मतलब, तुम सैनिक हो–सैनिकका काम करो, लडो-कटो, मरो-मारो, चाहे पाप हो या पुण्य, चाहे इसका जो भी फल हो, उसका कुछ भी विचार न करके निर्विकार भावसे अपना कर्म करो। परंतु यह सीख किसी राज्यकी ओरसे हो सकती है, राजनीतिज्ञ, वकील, नैतिक धर्माधर्मविचारक ऐसा कह सकते है, पर कोई महान् धार्मिक और दार्शनिक ग्रथ, जिसका कि उद्देश्य ही जीवन और कर्मके प्रश्नको जड़मूलसे हल करना होता है, ऐसी शिक्षा नही दे सकता। और यदि नैतिक और अध्यात्मविषयक ऐसे मार्मिक प्रश्नके विषयमे गीता-को यही बात कहनी हो तो इसे ससारके महान् धर्मग्रथोकी सूचीसे अलग ही करना होगा और फिर यदि इसे कही रखना ही हो तो राज-नीतिशास्त्र और आचारशास्त्रकी किसी लाइब्रेरीमे रख सकते है।

निश्चय ही गीतामें, उपनिषदोके समान ही उस समताका उपदेश है जो पुण्य और पापके ऊपर, अच्छे और बुरेके परे है, पर वह समता केवल ब्राह्मी चेतनाका एक अंग है और उसका उपदेश उसीके लिये

है जो उस मार्गपर हो और उस परम धर्मको चरितार्थ करनेके लिये काफी आगे बढ़ चुका हो। यह मनुष्यके सामान्य जीवनके लिये अच्छे और बुरेसे उदासीन होनेका उपदेश नही करती, जहां इस प्रकारकी शिक्षाका बहुत ही हानिकारक परिणाम हो सकता है। वैसे जीवनके लिये तो गीताका यह निर्देश है कि बुरे कर्म करनेवाले कभी ईश्वरको नही पा सकते। इसलिये यदि अर्जुन केवल मनुष्य-जीवनके सामान्य धर्मको ही सर्वोत्तम प्रकारसे चरितार्थ करना चाहता हो तो जिस चीजको वह पाप समझता है, नरककी वस्तु समझता है उसीको नि.स्वार्थ होकर करनेसे उसका कुछ भी भला न होगा, चाहे एक सैनिकके नाते वह पाप उसका कर्तव्य ही क्यों न हो। उसकी विवेक-बुद्धि जिस कामसे घृणा कर रही है उससे उसे हटना ही होगा, चाहे उससे उसके हजार कर्तव्य-कर्म धूलमे मिल जायं।

हमे यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि कर्तव्य (Duty) वह भावना है जो व्यवहारमे सामाजिक धारणाओंपर निर्भर करती है। इस सामान्य अर्थसे हम इस शब्दको और अधिक व्यापक करके यह कह सकते है कि अमुक कर्म हमारा अपने प्रति कर्तव्य है अथवा इस व्याप्तिके भी आगे बढ़कर यह कह सकते है कि सर्वस्वका त्याग करना बुद्धका कर्तव्य था या यह भी कह सकते है कि गुहामें स्थिर होकर बैठना यतीका कर्तव्य है! पर यह सब, स्पष्ट ही, शब्दोके साथ खेलना है। कर्तव्य आपेक्षिक शब्द है और दूसरोके साथ अपने सबंधपर इसका अर्थ निर्भर करता है। पिताके नाते पिताका यह कर्तव्य है कि वह अपने बच्चोंका लालन-पालन करे और उन्हें सुशिक्षित करे; वकीलका यह कर्तव्य है कि वह अपने मुवक्किल-की पैरवी करनेमें पूरी कोशिश करे चाहे उसे यह ज्ञात भी हो कि मुवक्किल कसूरवार है और उसने जो जवाब लगाया है वह झूठा है; सिपाहीका यह कर्तव्य है कि वह लड़े, हुकुम पाते ही गोली मार दे चाहे उसका सामना करनेवाला उसका नाती-गोती या देशभाई ही क्यों न हो; जजका यह कर्तव्य ह कि वह अपराधीको

जेल भेजे और खूनीको सूलीपर चढ़वा दे। जबतक मनुष्य इन पदोपर रहना स्वीकार करता है तबतक उसका कर्तव्य स्पष्ट है, और जब इस कर्तव्यमे उसकी मर्यादा और ममताका सवाल न उठता हो तब भी उसके लिये अपने कर्तव्यका पालन करना एक व्यावहारिक बात हो जाती है और उसको अपने इस कर्तव्यका पालन करते हुए निरपेक्ष धार्मिक और नैतिक विधानका उल्लंघन करना पड़ता है। परतु यदि आतरिक दृष्टि ही बदल जाय, यदि वकील-की आख खुल जाय और वह यह देखने लगे कि झूठ सदा पाप ही है, यदि जजका यह विश्वास हो जाय कि किसी मनष्यको फासी-की सजा देना मानवताकी दृष्टिसे पाप करना है, समरभूमिमे सिपाहीका ही चित्त यदि आधुनिक समरातवादियोका-सा हो जाय या टालस्टायके समान उसके चित्तमे यह आ जाय कि किसी भी मनुष्यकी जान किसी भी हालतमे लेना वैसा ही घृणित काम है जैसा कि मनुष्यका मास भक्षण करना, तब क्या होगा? ऐसे प्रसगमें अपने अत:करणका धर्म ही, जो सब आपेक्षित धर्मोके ऊपर है, माना जायगा, यह बात बिलकुल साफ है, और यह धर्म कर्तव्यविषयक सामाजिक संबध या भावनापर निर्भर नही करता, बल्कि मनुष्यकी, नैतिक मनुष्यकी जागी हुई अंत.प्रतीतिपर निर्भर करता है।

ससारमे वस्तुत: दो प्रकारके आचार-धर्म है, दोनों ही अपने-अपने स्थानमें आवश्यक और समुचित है, एक वह आचार-धम ह जो मुख्यत: बाह्य अवस्थापर निर्भर करता है और एक वह है जो बाह्य पदमर्यादासे सर्वथा स्वतत्र और अपने ही सदसद्विवेक और विचारपर निर्भर करता है। गीताकी शिक्षा यह नही है कि श्रेष्ठ भूमिकाके आचार-धर्मको कनिष्ठ भूमिकाके आचार-धर्मके अधीन कर दो, गीता यह नहीं कहती कि अपनी जागृत नैतिक चेतनाको मारकर उसे सामाजिक पदमर्यादापर निर्भर करनेवाले धर्मकी वेदीपर बलि चढ़ा दो। गीता हमें ऊपर उठनेके लिये कहती है, नीचे गिरनेके लिये नही; दो क्षेत्रोंके संघर्षसे, गीता हमें ऊपर चढ़नेका,

उस परा स्थितिको प्राप्त करनेका आदेश देती है जो केवल व्यावहारिक, केवल नैतिक चैतन्यके ऊपर है, जो ब्राह्मी स्थिति है। समाज-धर्मके स्थानमे गीता यहा भगवान्के प्रति अपने कर्तव्यकी भावनाको प्रतिष्ठित करती है। बाह्य कर्मके अधीन होकर रहनेकी अवस्था यहा दूर हो जाती है और इसके स्थानपर कर्मकी गहना गतिसे मुक्त, पुरुषका अपने कर्मका स्वतः निर्धारित करनेका सिद्धात स्थापित हो जाता है। और जैसा कि आगे चलकर हम लोग देखेगे, यही ब्राह्मी चेतना, कर्मसे पुरुषकी मुक्ति और अत.स्थित तथा ऊर्ध्वस्थित परमेश्वरके द्वारा स्वभावमे कर्मकी नियति–यही कर्मके विषयमे गीताकी शिक्षाका मर्म है।

गीताको समझना, और गीता जैसे किसी भी महान् ग्रथको समझना तभी बनता है जब उसका आदिसे अततक और एक विकासात्मक शास्त्रके हिसाबसे अध्ययन किया जाय। परतु आधुनिक टीकाकारोने, बकिमचद्र चटर्जी जैसे उच्च कोटिके लेखकसे आरंभ कर जिन्होने पहले-पहल गीताको, आधुनिक अर्थमे कर्तव्यका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र बताया, गीताके पहले तीन-चार अध्यायोंपर ही प्रायः सारा जोर दिया है, और उनमे भी समत्वकी भावना और 'कर्तव्य कर्म' पर, और 'कर्तव्य' से इनका अभिप्राय वही है जो आधुनिक दृष्टिमे गृहीत है, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (कर्ममें ही तेरा अधिकार है, कर्मफलमे जरा भी नही)'–इसी वचनको ये लोग गीताका महावाक्य कहकर आम तौरपर उल्लेख करते है। और बाकीके अध्याय और उनमे भरा हुआ तत्त्वज्ञान इनकी दृष्टिमे गौण है; हां, ग्यारहवे अध्यायके विश्वरूपदर्शनकी मान्यता इनके यहां अवश्य है। आधुनिक मन-बुद्धिके लिये यह बिलकुल स्वाभाविक है क्योंकि तात्त्विक गूढ़ बातो और अतिदूरवर्ती आध्यात्मिक अनुसधानकी चेष्टाओंसे यह बुद्धि घबरायी हुई है या अभी कलतक घबरायी हुई रही है और अर्जुनके समान ही कर्मका ही कोई काममें लाने योग्य विधान, कोई धर्म, ढूढ़ रही है।

पर गीता जैसे ग्रंथके निरूपणका यह गलत रास्ता है।

गीता जिस समताका उपदेश देती है वह उदासीनता नहीं है—गीतोपदेशकी आधारशिला जब रखी जा चुकी और उसपर गीतोपदेशका प्रधान मंदिर जब निर्मित हो चुका तब जो महान् आदेश अर्जुनको दिया गया कि, "उठ, शत्रुओका संहार कर और समृद्ध राज्यका भोग कर।" उसमे कोरे परोपकारवादकी या किसी विशुद्ध विकाररहित सर्वत्यागके भावकी कोई ध्वनितक नही है; गीताकी समता एक आतरिक सतुलन और विशालताकी स्थिति है, जो आध्यात्मिक मुक्तिकी आधार-शिला है। इस सतुलनके साथ और इस प्रकारकी मुक्तिकी अवस्थामे हमे उस कर्मका सम्यक् आचरण करनेका आदेश मिलता है जो 'कार्य कर्म' है—'कार्य कर्म समाचर' गीताकी यह शब्दयोजना अत्यत व्यापक है, इसमे 'सर्वकर्माणि', सब कर्मोका समावेश है, यद्यपि सामाजिक कर्तव्य या नैतिक कर्तव्य भी इसमे आ जाते है, पर इतनेमे ही इसकी इति नही होती, 'कार्य कर्म' इन सबका समावेश करता हुआ भी इन सबका अतिक्रम कर बहुत दूर विस्तृत होता है। वह 'कार्यं कर्म' क्या है सो किसी व्यक्तिकी अपनी पसदमे निश्चित नही होता; और न कर्ममे ही अधिकार और कर्मफलका त्याग ही गीताका महावाक्य है, बल्कि यह एक प्राथमिक उपदेश है जो योगपर्वतपर चढना आरभ करनेवाले शिष्यकी प्राथमिक अवस्थापर लागू होता है। आगे चलकर इससे बडा उपदेश प्राप्त होता है। क्योकि बादमे गीता बडे जोरके साथ यह बतलाती है कि मनुष्य कर्मका कर्त्ता नही है; कर्त्री प्रकृति है, त्रिगुणमयी शक्ति ही उसके द्वारा कर्म करती है और शिष्यको यह साफ-साफ देख लेना सीखना होगा कि कर्मका कर्त्ता वह नही है। इसलिये "कर्मण्येवाधिकारः" की भावना तभीतकके लिये है जबतक हम इस भ्रममें है कि हम कर्त्ता है; ज्योंही हमें अपनी चेतनाके अंदर यह अनुभव होता है कि हम अपने कर्मोंके कर्त्ता नही है, त्योंही कर्मफलाधिकारके समान ही कर्माधिकार भी मन-बुद्धिसे तिरोहित हो

जाता है। तब कर्मविषयक सारे अहंकार, फलाधिकारके संबंधमें कहिये या कर्माधिकारके संबंधमें, समाप्त हो जाते है।

परंतु प्रकृतिका नियंतृत्व भी गीताका अतिम वचन नही है। बुद्धिकी समता और फलका त्याग, ये केवल साधन है मन, हृदय और बुद्धिके साथ भगवत्-चैतन्यमें प्रवेश करने और उसमे रहनेके, और गीताने इस बातको स्पष्ट रूपसे कहा है कि इनसे तबतक साधनका काम लेना होगा जबतक साधक इस योग्य नही हो जाता कि वह इस भगवत्-चैतन्यमें रह सके या कम-से-कम अभ्यासके द्वारा इस उच्चतर अवस्थाका वह अपनेमे क्रमविकास न कर ले। अच्छा, तो अब ये भगवान् कौन है जिन्हें श्रीकृष्ण कहते है कि 'हम' ही है? ये पुरुषोत्तम है, जो अकर्त्ता पुरुषके परे है, जो कर्त्री प्रकृतिके परे है, एकके ये आधार है और दूसरीके स्वामी है, ये वे प्रभु है जिनका ही यह सारा प्राकट्य है, जो हमारी इस वर्तमान मायावशताकी अवस्थामें भी अपने जीवोंके हृदयमे विराज रहे है और जो प्रकृतिके कर्मोके नियामक है, ये वे है जिनके द्वारा कुरुक्षेत्रकी समरभूमिकी सेनाएं जीवित होती हुई भी मारी जा चुकी है और जो अर्जुनको इस भीषण संहारकर्मका केवल यत्र या निमित्तमात्र बनाये हुए है। प्रकृति उनकी केवल कार्यकारिणी शक्ति है। साधकको इस प्रकृतिशक्ति और उसके त्रिविध गुणोके ऊपर उठना होगा, उसको त्रिगुणातीत होना होगा। उसे अपने कर्म प्रकृतिको नही समर्पित करने होगे. जिनपर अब उसका कुछ भी दावा या 'अधिकार' नही है, बल्कि उसे अपने कर्म समर्पित करने होगे उन परम पुरुषकी सत्तामे। अपना मन, अपनी बुद्धि, अपना हृदय, अपना सकल्प उन्हीमें रखकर, आत्म-ज्ञानके साथ, भगवत्-ज्ञानके साथ, जगत्सबधी ज्ञानके साथ, पूर्ण समता, अनन्य भक्ति और पूर्ण आत्म-दानके साथ उसे अपने कर्म करने होंगे उन प्रभुके भेंट-स्वरूप जो सारे आत्म-तप और समस्त यज्ञोके स्वामी है। उनके संकल्पके साथ अपने संकल्पका तादात्म्य कर लेना होगा, उनकी चेतनासे सचेतन होना होगा और

उन्हीको हमारे कर्मका निर्णय और आरभ करने देना होगा। भगवान् गुरु अपने शिष्यकी शकाओंका जो समाधान करते है वह यही है।

गीताका परम वचन, गीताका महावाक्य क्या है सो ढूढ़कर नहीं निकालना है; गीता स्वय ही अपने अतिम श्लोकोमे उस महान् सगीतका परम स्वर घोषित करती है:–

तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परा शाति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतर मया। .
सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परम वच. ।...
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अह त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' ॥

"अपने हृद्देशस्थित भगवान्की, सर्वभावसे, शरण ले, उन्हीके प्रसादसे तू पराशाति और शाश्वत पदको लाभ करेगा। जो ज्ञान गुह्य है उससे भी गुह्यतर यह मैंने तुझे बताया है। आगे उस गुह्यतम ज्ञानको, उस परम वचनको सुन जो मै अब तुझे बतलाता हू। मेरे मनवाला हो जा, मेरा भक्त बन, मेरे लिये यज्ञ कर, और मेरा ही नमन-पूजन कर, तू निश्चय ही मेरे पास आयेगा, क्योकि तू मेरा प्रिय है। सब धर्मोका परित्याग करके मुझ एककी शरण ले। मै तुझे सब पापोसे मुक्त करूंगा; शोक मत कर।"

गीताका प्रतिपादन अपने-आपको तीन सोपानोमे बांट लेता है, जिनपर चढकर कर्म मानव-स्तरसे ऊपर उठकर दिव्य स्तरमें पहुच जाता है और वह उच्चतर धर्मकी मुक्तावस्थाके लिये नीचेके धर्म-बंधनोको नीचे ही छोड़ जाता है। पहले सोपानमे कामनाका त्याग कर और पूर्ण समताके साथ मनुष्य कर्म करेगा, अपनेको कर्त्ता समझता हुआ यज्ञ रूपसे, यह यज्ञ वह उन भगवान्के लिये करेगा जो परम है और एकमात्र आत्मा है, यद्यपि अभीतक उसने इनको

स्वयं अपनी सत्तामें अनुभव नहीं किया है। यह आरंभिक सोपान है। दूसरा सोपान है केवल फलेच्छाका त्याग नही बल्कि कर्तृत्वाभिमानकी परिसमाप्ति इस उपलब्धिमें कि आत्मा सम, अकर्त्ता, अक्षर तत्त्व है और सब कर्म विश्व-शक्तिके, प्रकृतिके है जो विषम, कर्त्री और क्षर शक्ति है। अतिम सोपान है परम आत्माको वह परमपुरुष जान लेना जो प्रकृतिके नियामक है और प्रकृतिगत जो यह जीव है वह उन्हीकी आशिक अभिव्यक्ति है, वे ही अपनी पूर्ण परात्पर स्थितिमें रहते हुए भी प्रकृतिके द्वारा सारे कर्म कराते हैं। प्रेम, भजन, पूजन और कर्मोका यजन सब उन्हीको अर्पित करना होगा; अपनी सारी सत्ता उन्हीको समर्पित करनी होगी और अपनी सारी चेतनाको ऊपर उठाकर इस भागवत चैतन्यमें सन्निविष्ट करना होगा जिसमें मानव-जीव भगवान्‌की, प्रकृति और कर्मोसे परे जो दिव्य परात्परता है उसमे भागी हो सके और पूर्ण आध्यात्मिक मुक्तिकी अवस्थामें रहते हुए कर्म कर सके।

प्रथम सोपान है कर्मयोग, भगवत्प्रीत्यर्थ निष्काम कर्मोका यज्ञ; और यहां गीताका जोर कर्मपर है। द्वितीय सोपान है ज्ञानयोग, आत्म-उपलब्धि, आत्मा और जगत्‌के सत्स्वरूपका ज्ञान; यहां उसका ज्ञानपर जोर है, पर साथ-साथ निष्काम कर्म भी चलता रहता है, यहां कर्ममार्ग ज्ञानमार्गके साथ एक तो हो जाता है पर उसमें घुल-मिलकर अपना अस्तित्व नही खोता। तृतीय सोपान है भक्तियोग, परमात्माकी भगवान्‌के रूपमे उपासना और खोज; यहां भक्तिपर जोर है, पर ज्ञानका गौणत्व नही, यहां केवल ज्ञान उन्नत होता है, उसमें एक जान आ जाती है और वह कृतार्थ हो जाता ह, और फिर भी कर्मोका यज्ञ जारी रहता है; द्विविध मार्ग यहा ज्ञान, कर्म और भक्तिका त्रिविध मार्ग हो जाता है। और यज्ञका फल, एकमात्र फल जो साधकके सामने ध्येय रूपसे अभीतक रखा हुआ है, प्राप्त हो जाता है, अर्थात् भगवान्‌के साथ योग और परा भागवती प्रकृतिके साथ एकता।

कुरुक्षेत्र

अब गीताके उपदेशक गुरुके इस विशाल सोपान-क्रमके पीछे-पीछे चलते हुए हम लोग आगे बढे और मनुष्यके इस त्रिविध मार्ग-का उन्होने जिस प्रकार अकन किया है उसका निरीक्षण करे। यह मार्ग वही मार्ग है जिसपर चलनेवाले मनुष्यके मन, हृदय और बुद्धि उन्नत होकर उन परमको प्राप्त होते और उनकी सत्तामे सन्निविष्ट होते है जो समस्त कर्म, भक्ति और ज्ञानके परम ध्येय है। परतु इसके पूर्व फिर एक बार उस परिस्थितिका विचार करना होगा जिसके कारण गीताका प्रादुर्भाव हुआ है और इस बार इसे इसके अत्यत व्यापक रूपमे अर्थात् इसे मनुष्य-जीवनका और समस्त संसार-का भी प्रतीक मानकर देखना होगा। कारण यद्यपि अर्जुनको केवल अपनी ही परिस्थितिसे, अपने ही आतरिक सघर्ष और कर्म-विधानसे मतलब है, तथापि जैसा कि हम लोग देख चुके है, प्रश्न अर्जुनने उठाया है और जिस ढगसे उठाया है उससे वास्तवमे मनुष्य-जीवन और कर्मका ही सारा सवाल उपस्थित होता है। यह ससार क्या है और क्यो है और यह जैसा कुछ है इसमे कैसे यहाके इस सांसारिक जीवनका आत्मजीवनके साथ मेल बैठे? और इस गहरे, कठिन विषयको श्रीगुरु हल करना चाहते है, क्योकि उसीकी बुनियादपर वे उस कर्मका आदेश देते है जिसे सत्ताकी एक नवीन समतुल्य अवस्थासे और मोक्षप्रद ज्ञानके प्रकाशमे करना होगा।

तब फिर वह कौनसी चीज है जो उस मनुष्यके लिये कठिनाई उत्पन्न करती है जिसे इस ससारको, जैसा कि यह है, स्वीकार करना है और इसमें कर्म करना है और फिर भी रहना है अपने अंदरकी सत्ता-

में, आध्यात्मिक जीवनमे ? संसारका वह कौनसा पहलू है जो उसके जागृत मनको व्याकुल कर देता और उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है जिसके कारण गीताके प्रथम अध्यायका नाम बड़े ही अर्थगंभीर शब्दोमे "अर्जुन-विषाद-योग" पड़ा—वह विषाद और निरुत्साह जो मानव-जीवको तब अनुभूत होता है जब यह संसार जसा है ठीक वैसा ही अपने असली रूपमे उसके सामने आता है, और उसे उसका सामना करना पडता है, जब न्यायनीति और नेकीके भ्रमका परदा उसकी आंखोके सामनेसे, उसका और किसी बड़ी चीजके साथ मेल होनेसे पहले ही, फट जाता ह ? यह वही पहलू है जिसने बाह्यत: कुरुक्षेत्रके नरसहार और रक्तपातके रूपमे आकार ग्रहण किया है और अध्यात्मत: समस्त वस्तुओके स्वामीके कालरूप-दर्शनमे जो अपन सृष्ट प्राणियोको निगलने, चबा जाने और नष्ट करनेके लिये प्रकट हुए है। यह दर्शन अखिल विश्वके उन प्रभुका दर्शन है जो विश्वके स्रष्टा है पर साथ ही विश्वके सहारकर्त्ता भी, जिनका वर्णन प्राचीन शास्त्रकारोने बडी ही निर्दय प्रतिमाके रूपमे यो किया है कि "ऋषिमुनि और रथी-महारथी इनके भोज्य है और मृत्यु इनके जेवनारके लिये दी जानेवाली बघार है।" एक ही सत्यके दोनों रूप है, वही सत्य पहले जीवनके तथ्योमे अप्रत्यक्ष और अस्पष्ट रूपसे देखा गया, फिर वही सत्य अतरात्माकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूपमे उस तत्त्वके रूपमे देखा गया जो तत्त्व अपने-आपको जीवनमें व्यक्त किया करता है। इसका बाह्य पहलू जगत्-जीवन और मानव-जीवन है जो लड़ते-भिडते और मारते-काटते हुए आगे बढ़ते है; अतरग पहलू है विराट् पुरुष जो विराट् सर्जन और विराट् संहारके द्वारा अपने-आपको पूर्ण करते है। जीवन एक युद्ध है, सहार-क्षेत्र है, यही कुरुक्षेत्र है; ये भगवान् महारुद्र है, यही दर्शन अर्जुनको उस समरभूमिमे हुआ था।

हेराक्लिटसका कहना है कि, युद्ध सब वस्तुओंका जनक है, युद्ध सबका राजा है। इस ग्रीक तत्त्ववेत्ताके अन्य सूत्र-वचनोके समान

यह सूत्र-वचन भी एक बड़े गंभीर सत्यका सूचक है। जडप्राकृतिक या अन्य शक्तियोके सघर्षके द्वारा ही इस जगत्की प्रत्येक वस्तु जनमती हुई मालूम पड़ती है, शक्तियो, प्रवृत्तियो, सिद्धातो और प्राणियोके परस्पर सघर्षसे यह जगत् आगे बढता दीखता है, सदा नये पदार्थ उत्पन्न करते हुए और पुराने नष्ट करते हुए यह आगे बढा चला जा रहा है--किधर जा रहा है, किसीको ठीक पता नही; कोई कहते है यह अपना सपूर्ण नाश करनेकी ओर जा रहा है, और कोई कहते है यह व्यर्थके चक्कर काट रहा है और इन चक्करोका कोई अत नही; आशावादिताका सबसे बडा सिद्धात यह है कि ये चक्कर प्रगतिशील है और हर चक्करके साथ जगत् अधिकाधिक उन्नतिको प्राप्त होता है, रास्तेमे चाहे जो कष्ट और गडबडसा देख पडे, पर यह जगत् जा रहा है बराबर किसी दिव्य अभीष्ट-सिद्धिके अधिकाधिक समीप ही। यह जो कुछ हो, इसमे सदेह नही कि यहा सहारके बिना कोई निर्माण-कार्य नही होता, अनेकविध यथार्थ और सभावित बेसुरेपनको जीतकर परस्पर-विरोधी शक्तियोका सतुलन किये बिना कोई सामजस्य नही होता, केवल इतना ही नही, बल्कि जबतक हम निरतर अपने-आपको ही न खाते रहे और दूसरोके जीवनको न निगलते रहें तबतक इस जीवनका निरवच्छिन्न अस्तित्व भी नही रहता। हमारा शारीरिक जीवन भी ऐसा ही है जिसमे हमे बराबर मरना और मरकर जीना पडता है, हमारा स्वय शरीर भी फौजोसे घिरा हुआ एक नगर जैसा है, आक्रमणकारी फौजे इसपर आक्रमण करती है और सरक्षणकारी फौजे इसका सरक्षण करती है और इन फौजोका काम एक-दूसरीको खा जाना है--और यह तो हमारे सारे जीवनका केवल एक नमूना ही है। सृष्टिके आरभसे ही मानो यह आदेश चला है कि, "तू तबतक विजयी नही हो सकता जबतक अपने साथियोसे और अपनी परिस्थितिसे युद्ध न करेगा, बिना युद्ध किये, बिना सघर्ष किये और बिना दूसरोको अपने अदर हजम किये तू जी भी नही सकता। इस जगत्का पहला नियम जो

मैंने बनाया वह संहारके द्वारा ही सर्जन और संरक्षणका नियम है।"

प्राचीन शास्त्रकारोंने जगत्का सूक्ष्म निरीक्षण करके जो कुछ देखा उसके फलस्वरूप उन्होंने इस आरंभिक विचारको स्वीकार किया। अति प्राचीन उपनिषदोने इस बातको बहुत ही स्पष्ट रूपसे देखा और इसका एकदम साफ और निर्भूल शब्दोमें वर्णन किया। ये उपनिषद् सत्यके सबधमे किसी चिकनी-चुपड़ी बातको या किसी आशावादी मतमतांतरको सुनना भी नही पसद करते। भूख जो मृत्यु है, ये उपनिषद् कहते है कि वही इस जगत्का स्रष्टा और स्वामी है, और उन्होने प्राणमय जीवनको यज्ञके अश्वका रूपक दिया है। जड़तत्त्वको उन्होने अन्न कहा है, उनका कहना है कि हम इसे अन्न इसलिये कहते है कि यह खाया जाता है और प्राणियों-को यह खा जाता है। भक्षक भक्षण कर भक्ष्य होता है, यही इस जड़प्राकृतिक जगत्का मूल सूत्र है, और इसी बातका डारविन मत-वादियोने फिरसे आविष्कार किया है जब कि उन्होने यह कहा कि जीवन-सग्राम विकसनशील सृष्टिका विधान है। आधुनिक सायंसने उन्ही सत्योको केवल नवीन शब्दोमे ढालकर प्रकट किया है जो सत्य उपनिषदोके वर्णित रूपकोमे या हेराक्लिटसके वचनोमें बहुत अधिक जोरदार, व्यापक और ठीक-ठीक अर्थ देनेवाले सूत्रोमें बहुत पहले ही उक्त हो चुके थे।

नीतशेका यह आग्रहपूर्वक कहना है कि युद्ध जीवनका एक पहलू है और आदर्श मनुष्य वही है जो योद्धा है—आरभमे वह ऊँट-प्रकृति-वाला हो सकता है और उसके बाद शिशु-प्रकृतिवाला, पर मध्यमें उसे सिंह-प्रकृतिवाला मनुष्य होना पड़ेगा यदि उसे पूर्णत्व प्राप्त करना है। नीतशेने अपने इन मतोसे लोकाचार और व्यवहारके लिये जो सिद्धांत निकाले उनसे हमारा चाहे जितना मतभेद क्यों न हो, पर उसके इन लोकनिंदित मतोंमें कोई ऐसा तथ्य भी है जो अस्वीकार नहीं किया जा सकता, बल्कि उससे एक ऐसे सत्यका

स्मरण होता है जिसे हम लोग सामान्यतः अपनी दृष्टिकी ओट रखना पसद करते है। यह अच्छा है कि हम लोगोको उस सत्यकी याद दिलायी जाय; क्योकि एक तो, प्रत्येक बलवान् आत्मापर इसको देख लेनेका बड़ा ही बलवर्द्धक परिणाम होता है और खूब मीठी-मीठी दार्शनिक, धार्मिक या नैतिक भावुकताओके कारण जो सुस्ती छा जाती है उससे हम बच जाते है, इस प्रकारकी भावुकताका यह परिणाम होता है कि लोग प्रकृतिको प्रेम, सौदर्य और कल्याणस्वरूप ही देखना पसद करते है और उसके कराल कालरूपसे भागते है, ईश्वरको शिवरूपसे तो पूजते है, पर उसके रुद्र-रूपकी पूजा करनेसे इनकार करते है; दूसरे यह कि जीवन जैसा कुछ है उसको वैसा ही यथावत् देखनेकी सचाई और साहस यदि हममे न होगा तो इसमे जो विविध द्वन्द्व और परस्पर-विरोध है उनका समाधान करनेवाला कोई अमोघ उपाय हमे कभी प्राप्त नही हो सकता। पहले हमे यह देखना होगा कि यह जीवन क्या है और यह जगत् क्या है, तब इस बातको ढूढने चलना अधिक अच्छा होगा कि इस जीवन और जगत्को, जैसे ये होने चाहिये उस रूपमे रूपातरित करनेका ठीक रास्ता कौनसा है। यदि संसारके इस अप्रिय लगनेवाले पहलूमे कोई ऐसा रहस्य हो जो इसके अतिम सामजस्यको ले आनेवाला हो, तो इसकी उपेक्षा या अवहेलना करनेसे हम उस रहस्यको नही पा सकेगे और इस प्रश्नको हल करनेके हमारे सारे प्रयास, प्रश्नके वास्तविक तत्त्वोकी मनमानी उपेक्षा करनेके दोषके कारण, विफल हो जायगे। दूसरी ओर, यदि वह शत्रु ही हो और उसे मारने, कुचल डालने, जड़से उखाड़ फेकने या नष्ट करनेका ही काम हो तो भी जीवनभर उसका जो प्रभाव या दखल जमा हुआ है उसे एक मामूलीसी बात समझना अथवा पुर-असर भूतकालमे तथा जीवनके जो यथार्थतः कार्यकारी सिद्धांत है उनमें इसकी जड़ कितनी मजबूतीके साथ जमी हुई है इस बातको देखनेसे इनकार करना, इससे अपना कुछ भी लाभ नही है।

युद्ध और संहारका विश्वव्यापी सिद्धांत हमारे इस ऐहिक जीवन-के निरे स्थूल पहलूसे संपर्क रखता हो यही नही, बल्कि यह हमारे मानसिक और नैतिक जीवनसे भी संपर्क रखता है। यह तो स्वतः-सिद्ध ही हैं कि मनुष्यका जो वास्तविक जीवन है, फिर चाहे वह बौद्धिक हो या सामाजिक, राजनीतिक हो या नैतिक, उसमे हम बिना संघर्षके—अर्थात् जो कुछ है और जो कुछ होना चाहता है इन दोनोके बीचमें तथा इन दोनोके पीछे जो कुछ है उसमे जबतक परस्पर युद्ध न हो ले तबतक हम एक कदम भी आगे नही बढ सकते। मनुष्य और संसारकी अवस्था इस समय जैसी है, कम-से-कम तबतकके लिये तो आगे बढना, उन्नत होना और पूर्णावस्थाको प्राप्त करना तथा फिर भी, हमारे सामने अहिसाके जिस सिद्धातको मनुष्यका उच्चतम और सर्वोत्तम धर्म कहकर उपस्थित किया जाता है, उसका यथार्थतः और नितातत: पालन करना असंभव ही है। केवल आत्मबलका प्रयोग करेगे? युद्ध करके या भौतिक बलप्रयोगसे अपनी रक्षाका उपाय करके हम किसीका नाश नही करेगे? अच्छी बात है, और जबतक आत्मबल अमोघ न हो उठे तबतक चाहे मनुष्यों और राष्ट्रोंमें जो आसुरी बल है वह हमे रौदता रहे, हमारे टुकड़े-टुकड़े करता रहे, हमारा जबह करता रहे, हमे जलाता रहे, भ्रष्ट करता रहे, जैसा करते हुए आज हम उसको देख रहे है, और तब यही होगा कि इस कामको वह अपनी मौजसे और बिना किसी बाधा-विघ्नके करेगा और आपने अपने अप्रतीकारके द्वारा उतनी ही जानें गंवाई होंगी जितनी कि दूसरे हिसाका सहारा लेकर गंवाते हैं; फिर भी आपने एक ऐसा आदर्श तो रखा ही है जो कभी अच्छी दशा लावे या कम-से-कम जिसको अच्छी दशा लानी चाहिये। परंतु आत्मबल भी, जब वह अमोघ हो उठता है तब, नाश करता है। वे ही लोग इस बातको जानते है जिन्होंने आंखें खोलकर इसका प्रयोग किया है कि, तलवार और तोप-बंदूकसे भी आत्मबल कितना अधिक भयंकर और नाशकारी होता है; और जो लोग अपनी दृष्टिको

विशिष्ट कर्म और उसके सद्य.फलमे ही आबद्ध नही रखते वे ही यह भी देख सकते है कि आत्मबलके प्रयोगके बाद उसके जो परिणाम होते है वे कितने प्रचड होते है, उनसे कितना नाश होता है और उतने नाशसे ही वह जीवन कितना बरबाद होता है जो कि उसीपर निर्भर करता और उसीसे पलता था। बुराई अकेली नही मारी जाती, उसके साथ वे सब चीजे भी विनाशको प्राप्त होती है जो उससे पलती है; हम स्वय हिसाके सनसनाहट पैदा करनेवाले कर्मकी पीडासे भले ही बचे, पर इससे नाशका परिणाम कुछ कम नही होता।

फिर यह भी बात है कि जब-जब हम आत्मबलका प्रयोग करते है तब-तब हम अपने शत्रुके विरुद्ध एक बहुत ही प्रचड कर्मशक्ति खडी कर देते है, किंतु बादमे इस शक्तिकी क्रियाओको अपने बसमे रखना हमारे सामर्थ्यके बाहर होता है। विश्वामित्रके क्षात्र बलके मुकाबले वसिष्ठ आत्मबलका प्रयोग करते है और परिणाम यह होता है कि हूण, शक और पल्लव सेनाएं विश्वामित्रपर घहराकर टूट पड़ती है। आक्रमण और हिसाकी अवस्थामें आध्यात्मिक पुरुषका शात और निष्क्रिय रहना, ससारकी प्रचड शक्तियोको बदला लेनेके लिये जगा देता है; और इसलिये जो दुष्ट है उनको यो ही जगत्को पददलित करनेके लिये छोड़ न देकर, बलप्रयोग करके भी, उन्हें रोकना उनकी हानि करनेकी अपेक्षा उनपर दया करना ही है,—क्योकि छोड देनेसे उनके ऊपर एक ऐसा कहर गुजरेगा जिसकी हम कभी इच्छा भी नही कर सकते। हमारे अपने हाथ पाक और साफ रहे, हमारे आत्मामे कोई दाग न लगे, इतनेसे ही संघर्ष और विनाशका जो विधान है वह संसारसे मिट नही जाता; इसकी जो जड़ है वही मानव-जातिमेसे पहले उखड़ जानी चाहिये। केवल हाथपर हाथ धरके बैठ रहनेसे या जड़त्ववश बुराईका कोई प्रतीकार करनेकी अनिच्छा या अक्षमतासे यह विधान नष्ट नही होगा; वास्तवमें संघर्ष करनेकी राजसिक वृत्तिसे उतनी हानि नहीं होती जितनी कि जड़ता और तमस्‌से होती है, कारण राजसिक

सघर्ष जितना नाश नही करता उससे अधिक सर्जन करता है। इसलिय वैयक्तिक कर्मकी मीमांसाका जहांतक सबंध है वहांतक यह बात है कि संघर्ष-संग्रामसे तथा उसके फलस्वरूप होनेवाले नाशसे स्थूल और भौतिक रूपमे बचनेसे उसके अपने नैतिक भावकी सहायता हो सकती है, पर इस कामसे प्राणियोका संहारकर्त्ता तो ज्यों-का-त्यो बना रहता है।

इस विषयपर और अधिक कहनेकी आवश्यकता नही। यह संहार-तत्त्व जगत्‌के अदर जिस निर्मम प्राणशक्तिके साथ लगातार अस्तित्व रखता आया है, इस बातका साक्षी सारा-का-सारा मानव-जातिका इतिहास है। हम इसकी उग्रताको ढाकने और दूसरे-दूसरे पहलुओंपर अधिक जोर देनेका प्रयास करते है, यह हम लोगोके लिये स्वाभाविक ही है। युद्ध और विनाश ही सब कुछ नही है, यहां जैसी कि विच्छेद और परस्पर-संघर्षकी सहारक शक्ति है वैसी ही परस्पर सघ और साहाय्यकी सरक्षक शक्ति भी है, अपनी ही धाक जमानेवाली अहकारसे भरी हुई जैसी एक शक्ति है वैसी ही प्रेमकी भी एक शक्ति है; अपने लिय दूसरोको बलि चढ़ानेका जैसा एक आवेग होता है वैसा ही दूसरोके लिये अपना बलिदान करनेका भी एक आवेग होता है। पर जब हम यह देखेंगे कि इन सबके द्वारा कैसे क्या काम ससारमे हुआ है तब इनके जो परस्पर-विरोधी तत्त्व है उनकी ताकतपर मुलम्मा चढ़ाने या उनकी उपेक्षा करनेका लोभ हमें न होगा। संघशक्तिका उपयोग केवल पारस्परिक सहायताके लिये नही हुआ है बल्कि उसके साथ-साथ स्वसरक्षण और पराक्रमके लिये भी, इस जीवनसग्राममें जो कोई हमारे ऊपर आक्रमण करता या हमारा प्रतिरोध करता है उसके विरुद्ध अपने-आपको बलवान् बनानेमे भी इसका उपयोग हुआ है। संघशक्तिसे काम लिया गया है युद्धके सहायक सेवकका, अहकार-के दासका और एक प्राणीका दूसरे प्राणीपर स्वत्त्व स्थापित करने-वाले चाकरका। प्रेम स्वयं ही बारंबार मृत्युकी एक शक्ति बनकर

काम करता रहा है। विशेषतः शुभके प्रेमको और भगवान्के प्रेमको मानव-अहकारने जिस रूपमे गले लगाया उसके कारण बहुतसी लड़ाई-भिड़ाई, मार-काट और तबाही-बरबादी हुई है। आत्मबलिदान बहुत बडी चीज है, पर बड़े-से-बडे आत्मबलिदानका भी यही अर्थ होता है कि हम मृत्युके द्वारा जीवनके सिद्धातको ही सकारते है और इस भेटको हम उस शक्तिकी वेदीपर बलि चढ़ाते है जो बलि चाहती है इसलिये कि इष्ट कार्य सिद्ध हो। चिड़िया अपने बच्चोकी रक्षाके लिये घातक पशुका सामना करती है, देश-भक्त अपने देशकी स्वतत्रताके लिये अपने शरीरकी आहुति देता है, धर्मात्मा धर्मपर न्योछावर करता है और भावुक अपनी भावना-पर, ये सब प्राणी-जीवनकी कनिष्ठसे लेकर श्रेष्ठ कोटियोतकमें, आत्मबलिदानके सर्वोत्कृष्ट दृष्टात है, और यह स्पष्ट है कि ये किस बातकी गवाही देते है।

परतु यदि हम इन सबके पश्चात्-कालीन परिणामोपर ध्यान दे तो सुलभमी हमारी आशावादिता और भी अधिक दुर्लभ हो जाती है। देखिये, एक देशभक्त है, उसने अपने प्राण त्याग दिये इसलिये कि उसका देश स्वतत्र हो; वह देश स्वतंत्र हुआ, इसके लिये उस देशभक्तने जो रक्तदान किया और जो दु.ख उठाया उसकी कीमत कर्मके ईश्वरने उसे चुका दी; अब इसके ४०-५० वर्ष बाद उस देशको निहारिये, अब आप क्या देखते है—अब उसी देशकी बारी आयी है और वह अत्याचारी, लुटेरा और उपनिवेशो और मातहत देशोका विजेता बन बैठा है और दूसरोको इसलिये खाये जा रहा है कि वह जीता रहे और जीवनमे पराक्रमणके द्वारा आगे बढ़ता रहे। ईसाई शहीद साम्राज्य-शक्तिके मुकाबले आत्मशक्तिको लगाकर हजारोंकी संख्यामे मर मिटे, इसलिये कि ईसाकी जय हो, ईसाई-धर्मकी धाक जमे। आत्मबल विजयी हुआ, ईसाई-धर्मकी धाक जमी, पर ईसाकी नही; विजयी धर्म लड़ाकू और हुकूमत करनेवाला संप्रदाय बन गया, जिस मत और संप्रदायको हटाकर

इसने अपना प्रभुत्व जमाया, उससे भी अधिक आततायी और अत्याचारी यह बन बैठा। धर्म भी पारस्परिक सघर्ष-शक्तियोंमे संगठित हो जाते है और संसारमे रहने, बढने और उसपर अपनी धाक जमानेके लिये परस्पर भीषण संग्राम करते हैं।

इन सब बातोसे यही प्रकट होता है कि इस जगत्के जीवनमें कोई ऐसा तत्त्व है, कदाचित् वह आदि तत्त्व ही हो, जिसपर कैसे विजय प्राप्त होती है यह हम नही जानते और इसका कारण या तो यह है कि यह जीता ही नही जा सकता अथवा यह कि हमने इसको ऐसी बलवान् और पक्षपातरहित दृष्टिसे देखा ही नही कि हम इसको स्थिरता और निष्पक्षताके साथ पहचान सकें और यह जान लें कि यह क्या चीज है। यह जीवन कैसा है इसका हमे मुकाबला करना होगा यदि हमारा उद्देश्य प्रश्नका वास्तविक समाधान कराना है, फिर वह समाधान चाहे कुछ भी हो। और जीवनका मुकाबला करनेका अर्थ है ईश्वरके हर पहलूको देख सकना; कारण ईश्वर और जीवन एक दूसरेसे पृथक् नही किये जा सकते और न जगत्-जीवनसंबंधी विधानोंका उत्तरदायित्व उन भगवान्से हटाया जा सकता है जिन्होने कि इन्हें बनाया या 'उस'से अलग किया जा सकता है जो इसमें व्याप्त है। इस सबंध मे भी हम लोग वास्तविकताको मृदु, मधुर और भ्रामक रूप देकर दिखाना पसंद करते है। हम लोग एक ऐसे ईश्वरको गढ़ लेते हैं जो प्रेमस्वरूप है, दयामय हैं, एक ऐसे ईश्वरको जो न्याय, सद्गुण और सदाचार-संबंधी हमारी नैतिक धारणाओंके अनुसार न्यायकर्त्ता, सद्गुणी और सदाचारी है और बाकी जो कुछ है उसके संबंधमें हम यह कहते है कि वह ईश्वर नही है न ईश्वरका उससे कुछ वास्ता है, वह किसी शैतानकी सृष्टि है जिसे किसी कारणवश ईश्वरने उसकी दुष्ट इच्छा पूरी करने दी अथवा वह अंधकारके स्वामी अहिर्मनकी सृष्टि है जो शिव-स्वरूप अहुर्मज्दकी मंगलमय कृतिको धूलमें मिलाना चाहता है, अथवा यह स्वार्थी और पापी मनुष्यका ही काम है जो उसने ईश्वरकी

मूल निर्दोष सृष्टिको बिगाड़ डाला। मानो प्राणीजगत्में मृत्यु और ग्रसनका जो विधान है और यहा जो भीषण प्रक्रिया कार्य कर रही है जिसके द्वारा प्रकृति ही वास्तवमे सृष्टि करती है, उसकी स्थिति भी रखती है, पर उन्ही हाथों और अपने उसी गहन कर्मसे सहार भी करती है,—यह सब मनुष्यका ही रचा हुआ है। ससारमे कुछ ही धर्म ऐसे है जिन्होने भारतके इस आर्यधर्मके समान नि.सकोच यह कहनेका साहस किया हो कि यह जो रहस्यमय विश्वशक्ति है वह एक ही भगवत्तत्त्व है, एक ही त्रिमूर्त्ति है; यही धर्म यह कह सका है कि जो शक्ति इस जगत्-कर्ममे व्याप्त है वह केवल दुर्गतिहारिणी सर्वोपकारिणी दुर्गा ही नही बल्कि रणरगिनी संहार-नृत्यनर्त्तकी करालवदना काली भी है और "यह भी माता है;" इन्हें भी परमेश्वरी जानो और साहस हो तो इनका भी पूजन करो। यह बात बड़े मार्केकी है कि जिस धर्ममे ऐसी अचल सत्य-निष्ठा और ऐसा प्रचड साहस रहा, उसीमें यह भी सामर्थ्य हुआ कि उसने ऐसी गंभीर और व्यापक आध्यात्मिकताका निर्माण किया कि जैसा और किसीसे भी नही बन पड़ा। कारण सत्य ही वास्तविक आध्यात्मिकताका आधार है और साहस उसका प्राण। "तस्यै सत्यं आयतनम्।"

इन सब बातोंका यह अभिप्राय नही है कि सग्राम और विनाश ही जीवनका अथ और इति है या यह कि सामंजस्य संग्रामसे बड़ी चीज नही है, प्रेम मृत्युकी अपेक्षा भगवान्का अधिक प्रकट रूप नही है, या यह कि हम लोगोंको भौतिक बलका स्थान आत्मबलको, युद्धका स्थान शातिको, फूटका स्थान एकत्वको, ग्रसनका स्थान प्रेमको, अहंभावका स्थान विश्वभावको, मृत्युका स्थान अमर जीवनको न देना चाहिये। भगवान् केवल संहारकर्त्ता ही नही है बल्कि सब प्राणियोके सुहृद् है; केवल विश्वके त्रिदेव ही नही बल्कि परात्पर पुरुष है; करालवदना काली स्नेहमयी सर्वमंगला माता भी हैं; कुरुक्षेत्रके स्वामी दिव्य सखा और सारथी है, सब प्राणियोंके

मनमोहन है, अवतार श्रीकृष्ण हैं। वे इस संग्राम और संघात और विश्रृंखलामेंसे होकर हमें चाहे जिधर ले जा रहे हो, चाहे जिस लक्ष्य या देवस्वरूपकी ओर हमें खीच रहे हो इसमे सदेह नहीं कि वे हमें इन सब पहलुओंके परे ले जा रहे हैं जिनपर हम दृढ़ होकर बहुत अधिक आग्रह कर रहे थे। पर कहा, कैसे, किस प्रकारकी पारंगततासे, किन साधनोसे—यह हमे ढूढ़ना होगा, और इसे ढूढ़नेके लिये पहली आवश्यक बात यह है कि हम इस जगत्को जैसा कि यह है वैसा देखे, और उनकी क्रिया आरंभ-में और अब जैसे-जैसे दिखायी देती जाय वैसे-वैसे उसको देखते जायें और उसका ठीक-ठीक मूल्य आकते जायें, इसके बाद उनका मार्ग और लक्ष्य स्वयं प्रत्यक्ष हो जायगे। हमें कुरुक्षेत्रको मानना होगा; मृत्युके द्वारा जीवनका जो विधान है उसे स्वीकार करना होगा, तभी हम अमर जीवनके पथका अनुसंधान कर सकते है; हमें अपनी आंखे खोलकर—अर्जुनकी अपेक्षा कम व्यथित दृष्टिसे—ईश्वरके कालरूपका दर्शन करना होगा और इस विश्वसंहार-को अस्वीकार करने, उससे नफरत करने या उससे भय खाकर भागनेकी वृत्तिको छोड़ देना होगा।

मनुष्य और जीवन-संग्राम

इस प्रकार गीतोपदेशको यदि हम उसके व्यापक उदार रूपमें समझना चाहते है तो हमे जगत्के व्यक्त रूप और क्रमके संबंधमें गीताकी ही दृष्टि अपनी बुद्धिमे ले आनी होगी और उसी निर्भीकता-के साथ उसे देखना होगा। कुरुक्षेत्रके सारथी भगवान् एक ओर तो सर्वलोकमहेश्वर, सब प्राणियोके सुहृद् और सर्वज्ञ गुरु है और दूसरी ओर सहारक काल है जो "यहा इन सब लोगोंका संहार करने-में प्रवृत्त हुए है (लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः)।" गीताने उदार हिंदूधर्मके सारभावका ही अनुसरण करके इस काल-रूपको भी भगवान् कहा है; गीता जगत्की पहेलीको टालनेके लिये जगत्-मेंसे किसी बगलके दरवाजेसे निकल भागनेकी कोई चेष्टा नहीं करती। और यदि सचमुच ही संसारको हम किसी असंस्कृत विवेकशून्य जड़प्राकृतिक शक्तिकी ही कोई यात्रिक क्रियामात्र नहीं समझते अथवा दूसरी ओर किसी अनादि शून्यसे उत्पन्न हुई भावना-ओं और शक्तियोकी वैसी ही यांत्रिक क्रीडामात्र नही मानते या यह भी नही मानते कि यह अक्रिय आत्मामे होनेवाला केवल एक आभास ह या अलिप्त अचल अक्षर परब्रह्मके ऊपरी तलके चैतन्यमे होनेवाला यह केवल एक मिथ्या दुःस्वप्न या स्वप्नका ही क्रम-विकास है और स्वय परब्रह्म उससे विचलित नही होता न उसमें वस्तुतः उसका कोई हाथ ही है; अर्थात् यदि हम इस बातको जरा भी मानते हैं, जैसा कि गीता मानती है कि, भगवान् है और वे सर्वव्यापी सर्वज्ञ हैं, और सर्वशक्तिमान् है और फिर भी सबके परे रहनेवाले परम-पुरुष है जो जगत्को प्रकट कर स्वयं भी उसमें प्रकट होते हैं, जो

अपनी माया, प्रकृति या शक्तिके दास नही बल्कि प्रभु है, जिनकी जगत्-परिकल्पना या योजनाको उनके द्वारा सृष्ट कोई भी जीव-जंतु, मानव-दानव इधर-उधर या उलट-पलट नही कर सकते, जो अपनी सृष्टि या अभिव्यक्तिके किसी भागके उत्तरदायित्वको अपने सृष्ट या अभिव्यक्त प्राणियोंके ऊपर लादकर स्वय उससे बरी होनेकी कोई जरूरत नही रखते—यदि हम ऐसा मानते है—तब तो आरंभसे ही मानव-प्राणीको एक महान् और महा कठिन श्रद्धाको धारण करके ही आगे बढ़ना होगा। मानव-प्राणी एक ऐसे जगत्में आया है जहा ऊपरसे ऐसा दिखायी देता है कि लड़ाकू शक्तियों-ने यहां एक भीषण विश्रृखला कर रखी है, बड़ी-बड़ी और अधकार-की शक्तियोका संग्राम छिड़ा हुआ है, जहाका जीवन एक ऐसा जीवन है जो सतत परिवर्तन और मृत्युके द्वारा ही टिका हुआ है जो व्यथा, यत्रणा, अमंगल और विनाशकी विभीषिकाद्वारा चारो ओरसे घिरा हुआ है, ऐसे इस जगत्के अदर उसे सर्वव्यापी ईश्वरको देखना होगा और इस बातसे सचेतन होना होगा कि इस पहेलीका कोई हल अवश्य है और यह कि जिस अज्ञानमें वह इस समय वास करता है उसके परे कोई ऐसा ज्ञान है जो इन विरोधोको मिटाता है, उसको इस श्रद्धा और विश्वासके आधारपर खड़े होना होगा कि, "तू मुझे मार भी डाले, तो भी मैं तेरा भरोसा न छोड़ूगा।" समस्त सक्रिय या दृढ़ मानव-विचार या श्रद्धाके अदर सचमुचमे इस प्रकारका भाव रहता है, फिर चाहे इस विचार या श्रद्धा-को रखनेवाला मनुष्य ईश्वरवादी हो, आस्तिक हो, विश्वदेववादी (Pantheistic) हो, या नास्तिक, तब हो सकता है कि किसीमे इस विचार और श्रद्धाकी अभिव्यक्ति और पूर्णता कम हो तो किसीमें अधिक। इसमें कोई स्वीकृति होती है और कोई विश्वास भी, स्वीकृति इस बातकी कि संसारमे सर्वत्र अनबन है और विश्वास इस बातका कि कोई भागवत तत्त्व भी है—विश्वपुरुष अथवा प्रकृति जो भी कहिये—जिसके बलसे हम इन परस्पर-विरोधों-

को पार कर सकते है, जीत सकते है या समन्वित कर सकते हैं, कदाचित् एक साथ तीनो ही बाते कर सकते है, इनको जीतकर और इनको पार कर हम इन्हे समन्वित कर सकते हैं।

तब, मनुष्यजीवन जैसा कुछ है उसके सबंधमे हमे यह मानना होगा कि इसका एक पहलू सघर्ष और युद्ध भी है जिसकी भीषणता बढती-बढती कुरुक्षेत्रके महासग्राम जैसे भीषण प्रसगोमें पर्यवसित होती है। गीता, जैसा कि हम लोग पहले देख चुके है, परिवर्तन और सकटके एक ऐसे ही कालके प्रसगसे उद्भूत होती है जो मानवजातिके इतिहासमे पुनः-पुनः आया करता है और इस कालमे बड़ी-बड़ी शक्तिया किसी भीषण बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक ध्वस और पुनर्निर्माणके लिये एक-दूसरीसे टकरा जाती है और इनका मनुष्यके विकासकी आतरिक और सामाजिक अवस्थापर साधारणतया जो वास्तविक परिणाम होता है वह यह कि सघर्ष और क्रातिका एक भीषण भौतिक आदोलन खड़ा हो जाता है। गीताका प्रारभ ही इस बातकी मान्यतासे होता है कि ऐसे भीषण क्रातिकारक प्रसग प्रकृतिमे प्रयोजनीय होते है, केवल उनका नैतिक पहलू ही नही अर्थात् अधर्म और धर्ममे, शुभके स्वप्रस्थापित होते जाते हुए विधान और उसकी प्रगतिको रोकनेवाली शक्तियोमे जो युद्ध होता है उन्हीका नही, बल्कि उनका भौतिक अंग भी अर्थात् शुभाशुभ शक्तियोके प्रतिनिधिस्वरूप जो मनुष्य हैं उनके बीच सशस्त्र संग्राम अथवा अन्य किसी प्रकारका प्रचंड शारीरिक युद्ध भी आवश्यक होता है। यहा हमे यह बात स्मरण रखनी होगी कि गीताकी रचना ऐसे समयमे हुई है जब युद्ध मानवकर्मण्यताका अबसे भी अधिक आवश्यक अग था और युद्धके बिना जीवनकी योजना उस समय एक असंभव योजना होती। मनुष्योंमे विश्वव्यापी शाति और सद्भावको स्थापित करनेका उपदेश—क्योंकि विश्वव्यापी शाति और पूर्ण सद्भावके बिना सच्ची और स्थायी शाति नही हो सकती—हमारी अभीतककी उन्नतिके इतिहास-

में कभी एक क्षणके लिये भी मानवजीवनको अधिकृत नहीं कर सका है, कारण जातिकी नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक अवस्था इसके लिये तैयार नही थी और विकासात्मक प्रकृतिकी अभीतक जो हालत थी उसके कारण वह इस प्रकारकी इजाजत नहीं दे सकती थी कि मानव-जाति ऐसी उच्चतर स्थितिके लिये एकाएक तैयार कर ली जाय। आज भी हम लोग सिवाय इसके जरा भी आगे नहीं बढे है कि परस्पर विरुद्ध स्वार्थोंके बीच सभवत: कोई ऐसा समझौता कर लिया करें जिससे अति भीषण और बीभत्स संघर्ष-संग्राम कुछ कम हो जायं। और इसके लिये मनुष्यजातिको अपनी ही प्रकृतिके वश जिस उपाय और जिस ढंगका अवलंबन करना पड़ता है वह है परस्पर एक ऐसा महाभयंकर रक्तपात ही जिसका इतिहासमें कोई जोड़ नहीं! अर्थात् आधुनिक मनुष्यको जगत्व्यापी शांतिकी स्थापनाका जो सीधा और सफल मार्ग मिला है वह है कटुता और दुर्दमनीय द्वेषसे परिपूर्ण विश्वव्यापी महायुद्ध! ऐसी इस शांतिकी स्थापनाके मूलमें भी कोई ऐसा भाव नही है जो मनुष्य-स्वभावके आमूल परिवर्तनसे उत्पन्न हुआ हो, बल्कि मनुष्यों-की जैसी बौद्धिक धारणाएं हैं, आर्थिक सुविधाका जो ख्याल है, प्राणहानिके भयसे उनके प्राण और उनकी भावुकता जो काप उठती है, युद्धसे उनको जो असुविधा और घबराहट होती है उसीसे ऐसी शांतिकी इच्छा की जाती है और राजनीतिक अधिकारादि ले-देकर ही इस शांतिकी रक्षाका प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकारसे जो शाति स्थापित की जाती है उसकी नीव दृढ़ हो और वह बहुत काल-तक स्थिर रहे ऐसा भरोसा नही होता। एक दिन आ सकता है, बल्कि यह कहिये कि निश्चय ही आयेगा, जब मनुष्य-जाति आध्या-त्मिक, नैतिक और सामाजिक रूपसे इस बातके लिये तैयार होगी कि सर्वत्र शातिका राज्य हो; पर जबतक वह नही होता तबतक किसी व्यावहारिक तत्त्वज्ञान और धर्मशास्त्रको यह मानकर ही चलना होगा कि युद्ध जीवनका एक अंग है और लड़ना

मनुष्यका एक स्वभाव और कर्म है और यह मानकर इनकी कोई विधि भी बैठानी होगी। गीता, भविष्यमे किस प्रकारका मानव-जीवन होगा, केवल इसीका विचार न करके उसका जो वर्तमान रूप है उसे भी देखती हुई यह प्रश्न उपस्थित करती है कि मनुष्य-जीवनका जो यह अग है और मनुष्यका जो यह स्वभाव और कर्म है, जो वास्तवमें मनुष्यकी सर्वसाधारण कर्मण्यताका ही एक अंग और स्वभाव है, अर्थात् युद्ध और युद्ध करना, इसका उसकी आत्मिक स्थितिके साथ कैसे मेल बैठाया जाय।

इसीलिये गीता एक ऐसे पुरुषसे कही गयी है जो क्षत्रिय है, योद्धा है, कर्मी है, और युद्ध करना तथा सरक्षण करना जिसके जीवनका कर्तव्य है—युद्ध है उसके प्रजापालनधर्मका एक अग उन लोगोकी रक्षाके लिये जो युद्ध-कर्मसे बरी है, जो अपनी रक्षा आप करनेसे अलग कर दिये गये है और इसलिये बलवान् और हिसक मनुष्योसे अपनेको नही बचा सकते, और फिर युद्धका एक और नैतिक भाव है, अर्थात् दीन-दुर्बलो और पीडितोकी रक्षा और जगत्मे धर्म और न्यायकी स्थापना। ये सभी सामाजिक और व्यावहारिक, नैतिक और वीरोचित भावनाए क्षत्रिय शब्दके भारतीय भावके अतर्गत आ जाती है, क्षत्रिय कर्मसे योद्धा और शासक होता है और स्वभावसे शूरवीर और राजा। यद्यपि हमारे लिये गीताके सर्वसामान्य और व्यापक सिद्धात ही सबसे अधिक महत्त्व रखते हैं तथापि ये सिद्धात जिस विशिष्ट भारतीय सस्कृति और समाज-व्यवस्थाके समयमे प्रादुर्भूत हुए और इस कारण इन सिद्धातोपर उस संस्कृति और व्यवस्थाका जो रग चढ़ा है और जिस ओर इनका रुख है उनका कोई विचार न करके योही छोड़ देना ठीक न होगा। उस समाजव्यवस्थाकी धारणा आधुनिक समाजव्यवस्थाकी धारणासे भिन्न थी। आधुनिकोकी बुद्धिमे एक ही मनुष्य तत्त्वजिज्ञासु, योद्धा, कृषक, व्यवसायी और सेवक सब-कुछ है और आजकलकी सामाजिक व्यवस्थाका रुख इस ओर है कि इन सब कर्मोको मिला-

जुला दिया जाय और प्रत्येक व्यक्तिसे समाजके बौद्धिक, सामरिक और आर्थिक जीवन और जरूरतके लिये उसका अपना हिस्सा मागा जाय और इस बातमे उसकी अपनी प्रकृतिकी मांगपर कोई ध्यान न दिया जाय। प्राचीन भारतीय संस्कृतिमें व्यक्तिगत सहज गुण, कर्म, स्वभावका बहुत अधिक ध्यान रखा जाता था और इसी गुण कर्म स्वभावसे व्यक्तिमात्रका विशेष धर्म, कर्म और समाजमे उसका स्थान नियत करनेका प्रयत्न किया जाता था। उस काल-मे मनुष्यको मूलतः एक सामाजिक प्राणी नही समझा जाता था। न उसकी सामाजिक स्थितिकी पूर्ण सपन्नता ही सर्वोच्च आदर्श माना जाता था, बल्कि यह मान्यता थी कि मनुष्य एक आध्यात्मिक जीव है जो क्रमशः संगठित और विकसित हो रहा है और उसका सामाजिक जीवन, उसका विशेष धर्म, उसके स्वभावकी क्रिया और उसके कर्मका उपयोग, ये सब उसके आध्यात्मिक सस्कारके साधन और अवस्था मात्र है। चितन और ज्ञान, युद्ध और राज्य-प्रबंध, शिल्प, कृषि और वाणिज्य, मजदूरी और सेवा, ये सब समाजके विधि-पूर्वक बटे हुए कर्म थे, जो सहज भावसे जिस कर्मके योग्य हुए उन्ही-को वह काम सौपा जाता था और वही कर्म उनका वह उचित साधन होता था जिसके द्वारा वे व्यक्तिशः अपनी आध्यात्मिक उन्नति और आत्मसिद्धिकी ओर आगे बढ सकते थे।

आधुनिकोकी जो यह भावना है कि अखिल मानव-कर्मके सभी मुख्य-मुख्य विभागोंमें सब मनुष्योको ही समान रूपसे योगदान करना चाहिये, इस भावनाके अपने कुछ लाभ है; और जहा भार-तीय वर्णव्यवस्थाद्वारा अतको यह परिणाम हुआ कि व्यक्तिके अनगिनत विभाजन हो गये, उसमे विशेषीकरणकी भरमार हो गयी तथा उसका जीवन संकुचित और कृत्रिम बंधनोसे बंध गया वहां आधुनिक व्यवस्था समाजके जीवनको अधिक सघटित, एकत्रित और पूर्ण बनानेमे तथा संपूर्ण मानव-सत्ताका सर्वांगीण विकास करनेमें सहायता देती है। परन्तु आधुनिक व्यवस्थाके भी अपने दोष

हैं और इसके कतिपय व्यावहारिक प्रयोगोमे इस व्यवस्थाका बहुत अधिक कठोरतापूर्वक उपयोग किये जानेके कारण उसका परिणाम बेढंगा और अनर्थकारी हुआ है। आधुनिक युद्धका स्वरूप देखनेसे ही यह बात स्पष्ट हो जायगी। जिस समाजमे मनुष्य रहता और पलता है उसकी रक्षा करना और उसके लिये लड़ना प्रत्येक व्यक्तिका कर्त्तव्य हो और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना क्षात्र कर्म करनेके लिये बधा हो, इस आधुनिक व्यवस्थाका यह परिणाम हुआ है कि राष्ट्रका सारा-का-सरा पुरुषत्व रक्तरजित खाइयोमें मरने और मारनेके लिये ढकेल दिया जाता है, तत्त्वजिज्ञासु, कलाकार, दार्शनिक, पुजारी, व्यवसायी और कारीगर, सब-के-सब अपने स्वाभाविक कर्मसे अलग कर दिये जाते है, समाजका सारा जीवन अव्यवस्थित हो जाता है, विचार और धर्माधर्म-विवेकका भाव क्षात्र धर्मके नीचे दब जाता है, यहातक होता है कि जिस पुरोहितको राज्यकी ओरसे शाति और प्रेमके भावका प्रचार करनेके लिये वृत्ति मिलती है या यह काम उसका सहज कर्म होता है उसे भी अपना धर्म त्याग देना पड़ता और अपने भाइयोका कत्ल करनेके लिये, कसाई बन जाना पड़ता है! इस प्रकारके लड़ाकू देशके आदेशद्वारा धर्माधर्मविवेक और मनुष्यके विशिष्ट स्वभावका ही उल्लघन होता हो सो नही, बल्कि राष्ट्र-सरक्षणका भाव जब बढते-बढ़ते उन्मादकी हदतक पहुच जाता है तब इसका वह राष्ट्र-सरक्षण राष्ट्रीय आत्महत्यामे बदल जाना चाहता है।

इसके विपरीत भारतीय सस्कृतिका यह मुख्य लक्ष्य था कि युद्ध और उससे होनेवाला अनर्थ और विनाश, जहातक हो सके कम हो। इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये भारतीय समाज-व्यवस्थामे क्षात्र धर्म समाजकी ऐसी एक छोटीसी कक्षाके लोगोमे ही परिसीमित कर दिया गया था जो अपने जन्म, स्वभाव और परंपरासे इस कर्मके लिये विशेष उपयुक्त थे और इस कर्ममे उनके साहस, उनकी अनुशासित शक्ति, उनकी परोपकारपरायणता, उनकी बीरतापूर्ण

महानता आदि गुणोंकी वृद्धि होकर उनका आत्म-प्रस्फुटन होता था और फलतः यह जीवन उनके आत्म-विकासका एक साधन होता था, क्योंकि किसी उच्च आदर्शको सामने रखकर जो लोग योद्धा-जीवन बिताते है उनके आत्म-विकासके लिये यह जीवन एक क्षेत्र और अवसर बन जाता है। इस प्रकार कर्मके जो अधिकारी थे उन्हीके जिम्मे यह युद्ध-कर्म कर दिया गया था; अन्य लोग इससे बरी थे और मारकाट और लूटमारसे उनकी हर तरहसे रक्षा की जाती थी, उनका जीवन और जीविका जहांतक संभव होता वहां-तक इससे अलग ही रखे जाते थे। मानव-स्वभावमें युद्ध और संहार करनेकी जो प्रवृत्तिया होती है उनका क्षेत्र मर्यादित कर दिया गया था, उनकी एक जातिविशेषके अंदर ही हद बाध दी गयी थी और इस तरह युद्धसे होनेवाली राष्ट्रके सर्वसाधारण जीवनकी हानिकी संभावना यथासभव कम कर दी गयी थी। इसके साथ ही युद्धका जैसा उच्च नैतिक आदर्श था और धर्मयुद्धके जो मनुष्योचित वीर और उदार नियम पालन किये जाते थे उनसे युद्ध योद्धाओको क्रूर नरपशु बनानेका कारण नही बल्कि उन्हें उन्नत और उदार बनानेका ही कारण होता था। यह बात ध्यानमे रखनी चाहिये कि गीता जो युद्ध करनेको कहती है वह ऐसा ही युद्ध था और इन्ही अवस्थाओके अन्तर्गत लड़ा जाता था, वह युद्ध जो मानव-जीवनका एक अपरिहार्य अग माना जाता था, पर वह इतना मर्यादित और संयमित था कि अन्य कर्मोंके समान यह कर्म भी मनुष्यके नैतिक और आध्यात्मिक विकासमे सहायक ही होता था, और यह नैतिक और आत्मिक विकास ही उस कालमें जीवनका एकमात्र और वास्तविक लक्ष्य था, वह युद्ध कतिपय छोटेसे दायरौके अंदर ही व्यक्तियोके जीवनका सहार-कार्य करता था किन्तु इस प्रकारके युद्ध-द्वारा योद्धाके आंतरिक जीवनका संगठन होता था और जातिकी नैतिक उन्नति होती थी। पूर्वकालमें उस उच्च आदर्शको सामने रखकर जो युद्ध किये जाते थे उनसे उत्कर्ष ही साधित होता था।

यह बात चाहे चरमपथी दुराग्रही शांतिवादी न स्वीकार करे, पर शौर्य और वीरताको युद्धने ही विकसित किया है, भारतका क्षात्र धर्म और जापानका सामुराई धर्म युद्धके ही फल है। हा, अपना काम कर चुकनेके बाद भले ही युद्ध संसारसे बिदा हो जाय, कारण इसकी उपयोगिता समाप्त हो जानेपर भी यदि यह बना रहना चाहे तो यह हिसाकी एक अप्रशमित क्रूरताके रूपमे ही प्रकट होगा जिसमे युद्धका आदर्श और सगठनात्मक पहलू होगा ही नही और इसलिये मनुष्यका प्रगतिशील मन इसको त्याग देगा; परतु जिस समय हम अपने विकासके इतिहासको विवेकपूर्वक देखेगे तब तो पूर्वकालमे युद्धसे मनुष्य-जातिका जो उपकार हुआ उसकी उस उपकारिताको हमे मानना ही होगा।

अस्तु, भौतिक रूपसे जो युद्ध होता है वह जीवनमे युद्धरूपी जो एक सर्वसाधारण तत्त्व है उसकी एक विशेष और बाह्य अभिव्यक्ति-मात्र है और मानव-जीवनकी पूर्णताके लिये जिस एक सर्वसाधारण वैशिष्टचकी आवश्यकता है क्षत्रिय उसीकी केवल एक बाह्य अभिव्यक्ति और नमूना मात्र है। हम लोगोके क्या आंतरिक और क्या बाह्य, दोनो ही प्रकारके जीवनमे, सघर्षका जो एक पहलू है वही युद्धके रूपमें एक विशिष्ट भौतिक आकार धारण करके प्रकट होता है। यह ससार क्षेत्र ही है सघर्षका, यहाका तरीका ही यह है कि विभिन्न शक्तिया एक दूसरीसे टकराये और भिड़े और इस तरह परस्पर-सहारके द्वारा आगे बढ़े एक ऐसे सतत परिवर्तनशील सामंजस्यकी ओर जो स्वय किसी प्रगतिशील सुसगति-साधनका द्योतक तथा पूर्ण समन्वयकी आशा दिलाता है, और इसका आधार होती है एकताकी एक ऐसी संभावना जो अभीतक पकड़मे नही आयी है। मनुष्यमें जो योद्धृ भाव है वही क्षत्रिय-रूपमें प्रकट होता है। क्षत्रिय इसे अपने जीवनका उसूल बना लेता है और योद्धाके नाते युद्धका सामना करता हुआ आत्मविजयमें यत्नवान् होता है, मानव शरीरों और रूपोंका संहार करनेमें तो वह नही हिचकता पर इस

संहार कर्ममें उसका लक्ष्य होता है किसी ऐसे सत्य, न्याय, धर्मके सिद्धांतकी उपलब्धि जो उस सामजस्यकी बुनियाद हो सके जिसकी ओर यह सारा संघर्ष प्रवाहित हो रहा है। जगत्-चालिका शक्ति-के इस पहलूको तथा युद्धके भौतिक तथ्यको— जो इस पहलूका केवल मूर्त्त रूप ही होता है—गीता स्वीकार करती है और युद्धका उपदेश करती है एक क्षत्रियको, अर्थात् उस मनुष्यको जो कर्मी है, उद्योगी है और योद्धा है, उस युद्धका उपदेश करती है जो अन्दरमें शातिमय और बाहरमे अहिसामय रहनेकी अन्तरात्माकी जो उच्च अभीप्सा होती है उसके एकदम विपरीत पडता है, कहा जाता है उस योद्धा-से जिसके युद्ध और कर्मका जो अपरिहार्य विक्षोभ होगा वह अन्त-रात्माके शात प्रभुता और आत्मअधिकृति जैसे उच्च आदर्शोके सर्वथा विपरीत मालूम होता है। ऐसी परस्पर-विरोधिनी अव-स्थाओंमेंसे गीता एक रास्ता निकालने और एक ऐसे स्थलपर पहुं-चानेका प्रयास करती है जहा दोनों बातें बराबर होकर मिल जायं और वह संतुलित अवस्था हो जाय जो सामजस्य और परा गतिका मूल और पहला आधार हो।

प्रत्येक मनुष्य जीवन-संग्रामका सामना अपनी प्रकृतिके सर्वोपरि प्रधान गुणके अनुकूल ढंगसे ही किया करता है। साख्य सिद्धांतके अनुसार जगत्प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और इसलिये मनुष्य-स्वभाव भी त्रिगुणात्मक है। गीताको भी यह स्वीकार है। सत्त्व सं-तुलित अवस्था, ज्ञान और संतोषका गुण है; रज प्राणावेग, कर्म और द्वंद्वमय भावावेगका; और तम अज्ञान और जड़ताका। मनुष्यमे जब तमोगुणकी प्रधानता होती है तब वह मनुष्य अपने चारों ओर चक्कर काटनेवाली और अपने ऊपर आ धमकनेवाली जगत्-शक्तियोंके वेगो और धक्कोंका उतना सामना नही करता, क्योंकि उनके सामने वह हिम्मत हार जाता, उनके प्रभावमें आ जाता, शोकाकुल हो जाता और उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है; अथवा अधिक-से-अधिक अपने अन्य गुणोसे मदद पाकर किसी

तरह बचे रहना भर चाहता है, जबतक टिक सके तबतक टिके रहना चाहता है, किसी ऐसे आचार-विचारसे बंधे जीवनक्रमके गढ़में छिपकर अपनी जान बचाना चाहता है जिसमे पहुचकर वह अपने-आपको किसी अंशमें इस संग्रामसे बचा हुआ समझे और यह समझे कि उसकी उच्चतर प्रकृति उससे जो कुछ माग रही है उसको वह नट सकेगा तथा इस सघर्षको और आगे बढाने और एक वर्धमान प्रयास एवं प्रभुत्वके आदर्शको चरितार्थ करनेकी मेहनतसे वह बरी हो सकेगा। रजोगुणकी जब प्रधानता होती है तब मनुष्य अपने-आपको युद्धमे झोक देता है और शक्तियोके सघर्षका उपयोग अपने ही अहकारके लाभके लिये अर्थात् विरोधी-को मारने-काटने, जीतने, उसपर प्रभुता पाने और जीवनका भोग करनेके लिये करता है; अथवा अपने सत्त्वगुणसे कुछ मदद पाकर इस संघर्षको अपनी आतरिक प्रभुता, अतःसुख-शक्ति-संपत्ति बढ़ानेका एक साधन बना लेता है। जीवन-संग्राम उस-के आनंद और नशेकी चीज बन जाता है, इसका कारण कुछ तो यह होता है कि सघर्ष करना उसका स्वभाव होता है, इस तरहकी कर्मण्यतामें उसे एक सुख मिलता है और उसको अपनी शक्तिका अनुभव होता है और कुछ यह कि यह उसकी वृद्धि और स्वाभा-विक आत्मविकासका साधन होता है। जब सत्त्वगुणकी प्रधा-नता होती है तब मनुष्य सघर्षके बीचमें धर्म, सत्य, सतुलित अवस्था, समन्वय, शाति, संतोषका कोई तत्त्व ढूढ़ा करता है। विशुद्ध सात्त्विक मनुष्य इसीका अनुसंधान अपने अंदर करता रहता है, चाहे केवल अपने लिये ही करे अथवा यह भाव चित्तमें रखे कि जब चीज हासिल होगी तब वह दूसरोंको भी दी जायगी, किंतु यह काम साधारणतया सक्रिय जगत्-शक्तिके झगडे और कोलाहलसे अंतःनिवृत्त होकर अथवा बाह्यतः उनका त्याग ही करके किया जाता है; पर सात्विक मनुष्य जब अंशतः राजसी वृत्ति ग्रहण भी करता है तो इसको वह संघर्ष और बाहरी गड़बड़-

झालेके ऊपर संतुलित अवस्था और सामंजस्यको लादनेके लिये, युद्ध, अनबन और संघर्षपर शाति, प्रेम और सामजस्यको विजय दिलानेके लिये करता है। जीवन-समस्याको हल करनेके लिये मनुष्यका मन जो-जो ढग अख्तियार करता है वे सब ढंग इन्ही गुणोंमेसे किसी एक गुणकी प्रधानतासे या इन गुणोके बीच समतोलता और सामजस्य स्थापित करनेके प्रयत्नसे ही उद्भूत होते है।

परतु एक ऐसी भी अवस्था आती है जब मन इस सारी समस्यासे ही फिर जाता है और प्रकृतिके त्रिविध प्रकारोसे, त्रैगुण्यसे प्राप्त होनेवाले उपायोसे असतुष्ट होकर किसी ऐसे हलको ढूढने लगता है जो त्रैगुण्यसे परे या ऊपर हो। किसी ऐसी चीजमे मन भाग जाना चाहता है जो समस्त गुणोके बाहर है या जो समस्त गुणोंसे सर्वथा रहित है और इसलिये जो कर्मरहित भी है अथवा किसी ऐसी चीजमे जो इन तीनो गुणोसे श्रेष्ठ है और ये गुण जिसके वशमे है और इसलिये वहा पहुचकर वह साथ-साथ कर्म भी कर सकता और अपने उस कर्मसे अलिप्त और अप्रभावित भी रह सकता है, जो या तो निर्गुण अवस्था है या त्रिगुणातीत अवस्था। मन अभीप्सा करता है निरपेक्ष शाति और निरुपाधि स्थितिके लिये अथवा प्रबल स्थिरता और श्रेष्ठतर स्थितिके लिये। प्रथमोक्त भावकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है सन्यासकी ओर और शेषोक्त भावकी प्रवृत्ति होती है निम्नगा प्रकृतिकी मागो और उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंके चक्करपर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी ओर, और इसका सिद्धात होता है समताकी स्थापना तथा आवेशों और कामनाका आतरिक त्याग। अर्जुनके चित्तमे पहले वही प्रथमोक्त आवेग हुआ था जिसके कारण कुरुक्षेत्रमें, अर्थात् युद्ध और हत्याकांडके घोर संहार-क्षेत्रमें अपने वीर कर्मसे होनेवाले दुःखद पर्यवसानसे उसका मन फिर गया, अबतक उसका जो कर्मसंबंधी सिद्धात था वह लुप्त हो गया और उसको ऐसा

बोध होने लगा कि अकर्म और जीवन तथा जीवनकी मागोका त्याग ही एकमात्र उपाय है। परतु भगवान् गुरुकी वाणी उसे जो कुछ करनेको कहती है वह जीवन और कर्मका बाह्य सन्यास नही है, बल्कि वह है उनपर आतरिक प्रभुताकी स्थापना।

अर्जुन क्षत्रिय है, वैसा रजोगुणी पुरुष जो अपना राजसिक कर्म एक उच्च सात्विक आदर्शसे नियत करता है। इस भीषण सग्राममे, कुरुक्षेत्रके इस महासमरमे वह युद्धका हौसला लेकर, रणरगमे मस्त होकर ही आया है, उसे अपने पक्षकी न्याय्यताका पूर्ण और साभिमान विश्वास भी है, वह अपने द्रुतगामी रथपर आरूढ होकर शत्रुओके हृदयोको अपने युद्ध-शखके विजय-निनादसे विदीर्ण करता हुआ आगे बढता है, क्योकि वह देखना चाहता है कि उसके विरुद्ध खडे होकर अधर्मका बल बढाने और धर्म, न्याय और सत्यको कुचलकर उनके स्थानमे स्वार्थी और उद्दड अहकारकी प्रभुता स्थापित करने कौन-कौन राजा आये है। पर उसका यह विश्वास चूर-चूर हो गया और वह अपने सहज भावसे तथा जीवन-सबधी अपने मानसिक आधारपरसे एक भीषण आघात खाकर गिर पड़ा, इसका कारण यह हुआ कि राजसिक अर्जुनमे तमोगुणकी एक बाढ़ उमड़ आयी और इसने उसको आश्चर्य, शोक, भय, निरुत्साह, विषाद, मनकी व्याकुलता और उसके अपने ही तर्कोके परस्पर-सग्रामद्वारा व्यथित कर, इस कार्यसे मुह मोडनेके लिये उकसाया और वह अज्ञान और जड़तामे डूब गया। परिणाम यह हुआ कि वह सन्यासकी ओर मुड़ा। वह सोचने लगा कि यह घोर युद्धकर्म अच्छा नही जिसका फल सबका संहार है, वह राज्य और यश और प्रताप किस कामका जो नाश और रक्तपातसे ही प्राप्त होता है, ऐसे भोगोकी कौन इच्छा करे जो रक्तसे सने हुए है, न्याय और सत्यकी वह विजय क्या जो समस्त धर्मोंको ही मिटानेवाली हो और उस सामाजिक विधानकी स्थापना ही क्या जो एक ऐसे युद्धद्वारा हो जिसकी प्रक्रिया और परिणाम उन

सबको नष्ट करनेवाले हों जिनसे समाज बनता है, क्षत्रियके इस धर्मसे तो भीख मांगकर जीनेवाले भिक्षुकका जीवन अच्छा।

संन्यासका अर्थ है जीवन और कर्म तथा प्रकृतिके त्रिगुणका त्याग, किन्तु इस त्रिगुणमेंसे किसी एक गुणके द्वारा ही सन्यासकी ओर जाना होता है। संन्यासकी ओर जानेका यह आवेग हो सकता है कि तामसिक हो, अर्थात् क्लीवता, भय, विद्वेष, जुगुप्सा, जगत् और जीवनसे त्रास अनुभव होता हो; अथवा हो सकता है कि यह तमकी ओर झुका हुआ राजसिक गुण हो, अर्थात् सघर्षसे थकावट मालूम पड़ने लगी हो, शोक छा गया हो, निराशा उत्पन्न हुई हो और कष्ट तथा अनन्त असंतोषसे भरे हुए कर्मके इस व्यर्थके हुल्लड़-को स्वीकार करनेंसे जी ऊब गया हो। अथवा हो सकता है कि यह सत्त्वकी ओर झुका हुआ राजसिक आवेग हो, अर्थात् यह जीवन जो कुछ दे सकता है उससे किसी श्रेष्ठ वस्तुतक पहुंचने, किसी उच्च-तर अवस्थापर विजय प्राप्त करने, समस्त बंधनोंको तोड़नेवाली और समस्त सीमाओंको पार करनेवाली किसी आन्तरिक शक्तिके पैरों तले स्वयं जीवनको ही कुचल डालनेका आवेग उठा हो। अथवा हो सकता है कि यह सात्विक हो अर्थात् जीवनकी निस्सारता-का और इस जगत्-जीवनका किसी सच्चे लक्ष्य या औचित्यके बिना ही निरतर चक्कर काटते रहनेका एक बौद्धिक आभास हुआ हो या फिर उस सनातन, उस अनन्त, उस निश्चल-नीरव, उस नामरूप-रहित परात्पर शांतिका कोई आध्यात्मिक अनुभव हुआ हो और इसलिये जगत्-जीवन और कर्मसे संन्यास ले लेनेका आवेग उठा हो। अर्जुनको जो विराग हुआ है सो सत्त्वकी ओर प्रवृत्त रजोगुणी पुरुष-का कर्मसे तामस विराग है। गुरु चाहें तो उसे इसी रास्तेपर स्थिर कर सकते हैं, इसी अंधेरे दरवाजेसे विरक्त जीवनकी शुद्धता और शांतिमें उसे प्रविष्ट करा सकते है; अथवा इस वृत्तिको तुरंत शुद्ध करके वे उसे संन्यासकी सात्विक प्रवृत्तिके अत्युच्च शिखरोंपर चढ़ा सकते हैं। पर वास्तवमें वे इन दोनोमेंसे एक काम भी नहीं

करते। गुरु उसके तामस विराग और संन्यास ग्रहण करनेकी प्रवृत्तिसे उसका चित्त फेरते है और कर्मको ही चालू रखनेके लिये कहते हैं और वह भी उसी भीषण और घोर कर्मको। परन्तु इसके साथ ही उसे एक दूसरे और ऐसे आन्तरिक वैराग्यका निर्देश करते है जो उसके सकटका सच्चा निराकरण है, और जो विश्वप्रकृतिपर जीवकी श्रेष्ठता स्थापित करनेका रास्ता है और यह होते हुए भी जो मनुष्यको स्थिर और आत्म-अधिकृत कर्ममें प्रवृत्त रखता है। शारीरिक नही, बल्कि आन्तरिक तपस्या ही गीतामें अभिप्रेत है।

आर्यक्षत्रियधर्म*

अर्जुनकी वेगवती आत्म-शंकाओकी जो पहली बाढ़ आयी, उसका चित्त सहार-कर्मसे हटा, उससे उसमे दुःख और पाप ही दीखने लगा, जीवन शून्य और निस्सार प्रतीत होने लगा, पापकर्मसे भविष्यमें होनेवाले पापमय परिणाम दिखायी देने लगे, उन सब शकाओका जो एक ही उत्तर भगवान् श्रीगुरुने दिया वह था एक बड़ी गहरी फटकार। उससे कहा गया कि यह सब उसके मनकी उथल-पुथल है, उसके मनका भ्रम है, उसके हृदयका दौर्बल्य है, कापुरुषता है, उसके अपने क्षात्र तेजसे, शूरवीरके पौरुषसे उसका च्युत होना है। यह महासाध्वी वीरजननी पृथाके पुत्रके योग्य नही। जो पार्थ एक महान् धर्मकार्यका प्रधान रक्षक है, जिसके ऊपर उस महत्कार्यके सफल होनेका सारा भरोसा है उसको ऐसा न चाहिये कि ऐन मौके-पर, ऐसे विकट सकट-कालमे वह उस कार्यको छोड़कर चला जाय या अपने हृदय और इन्द्रियोंकी आकस्मिक विह्वलताके वशमे हो जाय, अपनी विवेक-बुद्धिपर परदा पडने दे और अपने सकल्पसे च्युत होकर देवदत्त गाण्डीव धनुष आदि शस्त्रोको नीचे रखकर भगवान्-के सौंपे हुए कर्मको करनेसे मुह फेर ले। यह आर्योंकी रीति नही है, जिसे वे पालते आये है, यह भाव स्वर्गीय नही न स्वर्गको देनेवाला है, और इस लोकमे यह उस कीर्तिका नाश करनेवाला है जो बल, वीर्य, पराक्रम और उदार कर्मसे ही प्राप्त हुआ करती है। इस-लिये उसको यही उचित है कि वह अपने-आप लायी हुई इस दुर्बलता

*गीता द्वितीय अध्याय १—३८

और कृपाका त्याग कर दे और अपने शत्रुओका सहार करनेके लिये उठे।

शायद आप यह कहेगे कि यह जवाब तो एक वीरका एक दूसरे वीरके प्रति जवाब है, यह किसी भगवत्स्वरूप सद्गुरुका उपदेश नही हो सकता; क्योकि ऐसे सद्गुरुमे तो यही आशा की जाती है कि वे सदा मृदुता, साधुता, आत्मत्यागके भावोको और सासारिक ध्येयों और दुनियादारीसे विरक्त होनेके भावको ही प्रोत्साहित करेगे? गीता स्पष्ट ही कहती है कि अर्जुन अवीरोचित दुर्बलतामें जा पडा था, "उसके नेत्र आकुल और अश्रुपूर्ण हो गये थे, उसका हृदय विषादसे भर गया था," कारण वह "कृपाविष्ट"—कृपासे आक्रात हो गया था। तब क्या यह दैवी दुर्बलता नही थी? कृपा क्या दैवी भावावेग नही है, इस प्रकारकी कृपाको क्या ऐसी कड़ी फटकारके साथ निरुत्साहित करना चाहिये? अथवा हम किसी ऐसी शिक्षाके सामने तो नही आ पडे है जो केवल युद्ध और वीर कर्मका ही उपदेश करती हो, जो नीतशेके सिद्धात जैसी हो, जिसका ताकत और गर्वोन्मत्त बल ही एकमात्र धर्म है, जो हिब्रुओ और पुराने टयूटानिकोकी कठोरताकी तरह हो जिसमें कृपा एक दुर्बलता समझी जाती है और जो उस नारवेजियन वीरके भावमे चितन करती है जो ईश्वरको इसलिये धन्यवाद देता था कि उसने उसको एक कठोर हृदय दिया था? परन्तु गीताका उपदेश भारतीय धर्म-विश्वाससे उद्भूत होता है और भारतीयोके लिये करुणा सदासे ही दैवी प्रकृतिका एक प्रधान अग मानी गयी है। आगे चलकर स्वय भगवान् ही एक अध्यायमे दैवी प्रकृतिकी सपदाओको गिनाते हुए प्राणिमात्रपर दया, मृदुता, अक्रोध, अहिसा आदि गुणोको अभय, वीर्य और तेजके बराबर ही आवश्यक बतलाते है। क्रूरता, कठोरता, भयानकता और शत्रुओके वधमें हर्ष, धनसचय और अन्याय्य भोग आसुरी गुण है, इनकी उत्पत्ति उस प्रचंड आसुरी प्रकृतिसे होती है जो जगत्मे और मनुष्यमें भगवान्की सत्ता नही मानती

और कामनाको ही अपना आराध्य देव जानकर पूजती है। तो ऐसे किसी भी दृष्टिकोणसे अर्जुनकी दुर्बलता फटकारी जानेके लायक नही है।

"यह कश्मल, यह कलक, यह अज्ञान ऐसे विकट सकटके समय तुझमें कहांसे आया?" यह प्रश्न है श्रीकृष्णका अर्जुनसे। प्रश्नका इशारा है अर्जुनके अपने वीर स्वभावसे स्खलित होनेके वास्तविक स्वरूपकी ओर। एक दैवी दया होती है जो मनुष्यको ऊपरसे प्राप्त हुआ करती है और जिस मनुष्यकी प्रकृतिमे यह दया नही है, जिसका चरित्र इस दयाके सांचेमे ढला हुआ नही है उसका अपने-आपको श्रेष्ठ मनुष्य, सिद्ध पुरुष या अतिमानव बतलाना मूर्खता और धृष्टता मात्र है, कारण अतिमानव उसीको कहना चाहिये जिसके द्वारा मानव-जातिके अन्दर भगवान्का उच्चतम स्वभाव व्यक्त होता है। यह दैवी दया जिस पुरुषको प्राप्त होती है वह युद्ध और संघर्ष, मनुष्यकी ताकत और दुर्बलता, उसके पुण्य और पाप, उसके सुख और दु:ख, उसके ज्ञान और अज्ञान, उसकी बुद्धि-मत्ता और मूर्खता, उसकी अभीप्सा और असफलता, इन सभी द्वंद्वों-को प्रेमकी, ज्ञानकी और स्थिर सामर्थ्यकी दृष्टिसे देखता है और उसकी यह दयादृष्टि इन सबमे प्रवेश कर सबकी सहायता करती और सबके क्लेश निवारण करती है। साधु पुरुषो और परोप-कारियोमें यह दया, प्रेम या दाक्षिण्यकी समृद्धिके रूपमे मूर्त्त होती है; बुधजनो और वीरोमें यह सहायक ज्ञान और बलकी विशालता और शक्तिका रूप धारण करती है। आर्य क्षत्रियमे होनेवाली यह दया ही उसके वीर धर्मका प्राण होती है, जो किसी मरेको नही मारा करती, बल्कि दुर्बल, दीन, पीड़ित, पराभूत, आहत और गिरे हुएकी सहायता और रक्षा किया करती है। परंतु वह भी दैवी दया ही है जो बलवान पीड़क और साहसी अत्याचारीको मार गिराती है, क्रोध और घृणासे नही,—क्योंकि क्रोध और घृणा कोई बडे दैवी गुण नही है, पापियोपर ईश्वरका कोप, दुष्टोपर ईश्वरकी घृणा

इत्यादि बातें अर्द्ध-प्रबुद्ध सम्प्रदायोकी वैसी ही कल्पित कहानियां है जैसी कि उनकी ईजाद की हुई बाह्य नरकोकी नानाविध स्थूल यंत्रणाओंकी कहानिया,—बल्कि, जैसा कि प्राचीन आध्यात्मिकताने स्पष्ट रूपसे देखा, यह दैवी दया जब बलके मदसे मत्त पापी दैत्यकी हत्या करती है तब भी इसमे वही प्रेम और अनुकम्पा होती है जो प्रेम और अनुकम्पा इसकी उन दीन-दुखियो और पीड़ितोंपर है जिन्हे उस दैत्यकी हिसावृत्ति और अन्यायसे बचाना है।

परन्तु जो दया अर्जुनको उसके भगवन्निर्दिष्ट कार्य और कर्मका परित्याग करनेके लिये उकसा रही है वह दैवी दया नही है। वह दया ही नही है बल्कि उसकी आत्म-कृपासे परिपूर्ण क्लीवता है, जो कर्म उसके सामने उपस्थित है उसके फलस्वरूप जो मानसिक यंत्रणा उसे भोगनी पडेगी उससे वह बचना चाहता है, वह कहता है कि "मेरी इन्द्रियोको सुखानेवाले इस शोकको मै कैसे दूर करूं, यह मेरी समझमे नही आता,"—यह आत्मकृपा अत्यन्त तुच्छ और अनार्य भावमे गिनी जाती है। इसमे जो दूसरोके सुखके लिये कृपाका भाव है वह भी एक प्रकारकी आत्म-तुष्टि ही है, यह हत्याकाडसे स्नायुओका कांपना है, धार्त्तराष्ट्रोके सहार-कार्यसे उसके चित्तका अहमात्मक और भावावेगमय कपन है, क्योकि य लोग उसके स्वजन है और इनके बिना तो जीवन ही शून्य हो जायगा। यह कृपा मन और इन्द्रियोकी दुर्बलता है जो अभी अपने विकासके निम्न स्तरपर है, उनका दुर्बल होना इसलिये अच्छा है कि यदि वे दुर्बल न हो तो क्रूर और कठोर बनेगे; कारण उन्हे अपने संवेदनात्मक अहंकारके कठोर रूपोको उसके कोमल स्वभावके द्वारा ठीक करना पड़ता है, उन्हे प्रकाशमय तत्त्व जो सत्त्वगुण है उसकी सहायताके लिये दुर्बल और आलसी तत्त्व जो तमोगुण है उसका इसलिये आवाहन करना पड़ता है कि वह राजसिक आवेशो और ज्यादतियोंको दबाये रहे। पर यह मार्ग उस उन्नत आर्य पुरुषका नही है जिसको दुर्बलताके रास्तेसे नही बल्कि अधिकाधिक बलवान् होकर

ही आगे बढना होता है। अर्जुन देवनर है, नरश्रेष्ठ बनाये जानेकी प्रक्रियामें है और इसलिये देवताओंने उसे चुना है। उसे एक काम सौपा गया है, उसके समीप उसके रथपर स्वय भगवान् विराजमान हैं, उसके हाथोंमे दिव्य गाण्डीव धनुष है और अधर्मके नेता, संसारमे भगवान्‌के अनुगामित्वके विरोधी उसके सामने खडे है। उसको यह अधिकार नही ह कि वह क्या करे और क्या न करे इसका निर्णय अपने भावावेगो और आवेशोके अनुसार करे, या अपने अहं-परायण हृदय और बुद्धिकी बात मानकर एक आवश्यक सहार-कर्मसे हट जाय, अथवा यह सोचकर अपने कर्तव्य कर्मसे विरत हो कि इससे जीवन दुःखमय और सारहीन हो जायगा या चूकि इस संग्राममें जिन लाखो प्राणियोका विनाश होगा उनके वियोगके कारण इसके लौकिक परिणामका उसकी दृष्टिमे कोई मूल्य नही। उसका ऐसा सोचना अपने उच्चतर स्वभावसे दुर्बलतावश अधःपतित होना है। उसका अधिकार बस इतना ही है कि वह अपने 'कर्त्तव्यं कर्म' को देखे, केवल भगवान्‌के उस आदेशको सुने जो उसे उसके क्षात्र स्वभावमेंसे होकर दिया जा रहा है और यही अनुभव करे कि जगत् और मानव-जातिका भवितव्य उसे अपना देवप्रेषित मनुष्य जानकर इसलिये बुला रहा है कि वह जगत् और मानव-जातिके आगे बढनेमे सहायक हो और अधकारका पक्ष लेनेवाली जो शत्रु-सेनाएं उनके मार्गको आकीर्ण किये हुए है, उन्हें मार भगावे।

अर्जुनका जो श्रीकृष्णको उत्तर होता है उसमे वह अपने फटकारे जानेके कारणको स्वीकार करता है, हालाकि अब भी वह उनके आदेशका पालन करनेसे हिचकता और इनकार करता है। वह अपनी दुर्बलताको जानता है, पर फिर भी उसके अधीन होकर रहना चाहता है। उसके हृदयकी कृपणताने उसके असली वीर स्वभावको पराभूत कर दिया है; उसकी सारी चेतना धर्मसमूढ हो गयी है और वह अपने सखा भगवान्‌को अपने गुरुरूपसे वरण करता है; परन्तु उसने अपने धर्म-ज्ञानका समर्थन जिन भावावेगमय और बौद्धिक

आधारोंपर किया था गुरु उनको एकदम उडा देते है और वह गुरुके आदेशको इलिये नही स्वीकार करता कि यह उसकी नजरमें उसके पुराने दृष्टिकोणके जैसा ही है और इससे उसको कर्मसबधी कोई नया आधार नही मिलता। इसलिये अब भी वह उपस्थित कर्म न करनेकी बातका ही समर्थन करनेकी चेष्टा करता है और उसकी पुष्टिमे अपनी स्नायवीय और सवेदनात्मक सत्ताके दावेको उपस्थित करता है जो इस हत्याकाडसे और इसके रक्तसे सने हुए भोगोके परिणामसे कापती है, अपने हृदयके दावेको उपस्थित करता है जो इस सहार-कर्मसे इसलिये पीछे हटता है कि इससे जीवन खोखला और उदास हो जायगा, अपने प्रचलित नैतिक विचारोके दावेको उपस्थित करता है जो इसलिये भयभीत हो गये है कि भीष्म और द्रोणाचार्य जैसे गुरुओकी हत्या करना आवश्यक होगा, अपनी तर्क-बुद्धिके दावेको उपस्थित करता है जो उसको सौपे गये भीषण और प्रचंड कर्ममे कोई भी भलाई नही देखती, बल्कि जिसमे उसे बुराई-ही-बुराई नजर आती है। उसने यह निश्चय कर लिया कि अबतक जिन विचारो और प्रेरक-भावोके आधारपर वह लड़ सकता था उस आधारपर तो वह अब नही लडेगा और इस निश्चयके साथ वह मौन होकर बैठ गया और अपनी आपत्तियोके उत्तरकी प्रतीक्षा करने लगा, यह समझता हुआ कि इन आपत्तियो-का कोई उत्तर ही नही हो सकता। श्रीकृष्ण सबसे पहले अर्जुन-की अहमात्मक सत्ताके इन दावोको नष्ट करनेके लिये उतारू होते है जिसमे अर्जुनके अन्दर किसी ऐसे उच्चतर धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये स्थान खाली हो जाय जो धर्म, कर्म-सबधी समस्त अहमात्मक प्रेरक-भावोकी पहुचके परे होगा।

श्रीगुरु इन आपत्तियोका उत्तर दो विभिन्न प्रकारसे देते है। एक यह है कि, जिस आर्य सस्कृतिकी शिक्षा-दीक्षा अर्जुनको प्राप्त है उसीकी उच्चतम भावनाओंके आधारपर एक बात बहुत संक्षेपमें कही जाती है; दूसरा, जो सर्वथा भिन्न प्रकारका और अधिक व्यापक

है, उसका आधार है वह अधिक अंतरंग ज्ञान जो हमारी सत्ताके गभीरतर सत्योंमें हमारा प्रवेश कराता है, और वहीसे गीताकी वास्तविक शिक्षा आरंभ होती है। यह पहला उत्तर वेदांत-दर्शनकी दार्शनिक और नैतिक धारणापर तथा कर्त्तव्य और स्वाभिमान-संबंधी सामाजिक भावनापर अवलबित था और ये ही थे आर्योंके समाजके नैतिक आधार। अर्जुनने युद्ध करनेसे इनकार करते समय नैतिक और यौक्तिक कारण दिखाकर अपनी बातको पुष्ट करना चाहा, किन्तु इसमे उसने अपने अज्ञानी और अशुद्ध चित्तके विद्रोहको ऊपरी युक्तियोके शब्दोके लबादेके अन्दर ढकभर लिया है। उसने भौतिक जीवन और शरीरकी मृत्युके संबंधमे ऐसी ऐसी बाते कही है मानो ये ही मूल सद्वस्तु है, परतु ज्ञानी और पडितोकी दृष्टिमें इनका ऐसा कोई तात्त्विक मूल्य नही है। अपने सगे-संबधियो और बंधु-बाधवोकी शारीरिक मृत्युका दु.ख एक ऐसा शोक है जो बुद्धिमत्ता और जीवनके सच्चे ज्ञानकी दृष्टिमे अनुचित है। पंडित लोग जीवन-मरणपर नही रोया करते, क्योंकि वे जानते है कि दुःख और मृत्यु आत्माके इतिहासमे सामान्य घटनाएं मात्र हैं। आत्मा ही सद्वस्तु है, शरीर नही। ये सब राजा लोग जिनकी मृत्यु समीप जानकर अर्जुन शोक कर रहा है, इस जीवनके पहले भी जीते थे और आगे भी मनुष्य-रूपमे जीयेगे; क्योकि जीव जैसे शरीरतः कौमारसे यौवन और यौवनमे वार्द्धक्यकी अवस्थाको पहुंचता है वैसे ही वह देहातरको भी प्राप्त होता है। जो धीर है, जो विचारक है, जिसका मन अचचल और ज्ञानी है, जो जीवनको स्थिर दृष्टिसे देखता और अपने इन्द्रियानुभवों और भावावेगोसे विक्षुब्ध और अंध नही होता उसे ये बाह्य भौतिक दृश्य धोखा नही दे सकते; उसके खूनका, उसकी स्नायुओका और उसके हृदयका कोलाहल उसके निर्णयपर परदा नही डाल सकता न उसके ज्ञानको अन्यथा कर सकता है। वह शरीर और इन्द्रियोके जीवनके बाह्य तथ्योके परे जाकर अपनी सत्ताके वास्तविक तथ्यको देखता है।

और वह अज्ञानमय प्रकृतिकी भावावेगमय और भौतिक कामनाओं-से ऊपर उठकर मानवजीवनके एकमात्र सच्चे ध्येयमे पहुच जाता है।

मानवजीवनका वह वास्तविक तथ्य, वह परम ध्येय क्या है? वह यही ह कि जगत्के इन महान् आवर्तनोके भीतर मनुष्यके जीवन-मरणका जो यह सतत प्रवाह चल रहा है वह एक दीर्घकालव्यापी प्रगति है जिसके द्वारा मानव-प्राणी अपने-आपको अमृतत्वके लिये तैयार करता है। वह अपने-आपको कैसे तैयार करे? कौनसा वह मनुष्य है जो अमृतत्वका अधिकारी है? वही मनुष्य अमृतत्व-का अधिकारी है जो अपने-आपको प्राण और शरीर नही समझता, इस समझके ऊपर उठता है, जो विषयेद्रिय-संयोगका कोई स्वतः-सिद्ध मूल्य नही मानता अथवा यह कहिये कि जिसकी दृष्टिमे विषयेद्रिय-सयोगका वह मूल्य ही नही है जो देहात्मबुद्धि रखनेवाला मनुष्य उसका माना करता है, जो अपने-आपको और सबको आत्मा. जानता है, जो अपने शरीरमे नही बल्कि आत्मामे रहनेका अभ्यासी होता है और दूसरोके साथ भी उसका व्यवहार, उन्हे केवल देह-स्वरूप जानकर नही बल्कि आत्मा जानकर ही होता है। कारण अमृतत्वका अर्थ मृत्युके बाद केवल जीना ही नही है—वह तो मनको लेकर जन्मे हुए प्रत्येक प्राणीको ही प्राप्त है—अमृतत्वका अर्थ है जीवन-मरणकी अवस्थाको पार करना। यह वह ऊर्ध्वगति है जिससे मनुष्यका अतःकरण-अनुप्राणित शरीर-रूपसे रहना छूट जाता है और अंतको वह आत्मा होकर आत्मामे ही रहने लगता है। जो कोई शोक और दुःखके वशीभूत होता है, इद्रियानुभवो और भावावेगोंका दास बनता है, क्षणभगुर और अनित्य मात्रास्पर्शोंमें लिप्त रहता है, वह अमृतत्वका अधिकारी नही हो सकता। इन सबको तबतक सहते जाना होगा जबतक कि उनपर अपना प्रभुत्व न स्थापित हो; जबतक कि वह मुक्त अवस्था न प्राप्त हो जहां ये कोई दुःख नही दे सकते; जबतक कि ससारकी सब पार्थिव घटनाए, चाहे वे सुख देनेवाली हों या दुःख देनेवाली, ज्ञानयुक्त

स्थिरता और समतासे वैसे ही ग्रहण न की जा सके जैसे कि हमारे अंदर रहनेवाला शांत सनातन गूढ आत्मा इनको ग्रहण करता है। शोक और भयसे विचलित होना, जैसा कि अर्जुन हुआ है, अपने गंतव्य पथसे भ्रष्ट हो जाना, दैन्य और दुःखभारसे दबकर शारीरिक मृत्युकी अनिवार्य और अति सामान्य घटनाका सामना करनेसे पश्चात्पद होना 'अनार्यजुष्ट' है, अज्ञ अनार्योंके ही उपयुक्त है। आर्य अपनी धीर शक्तिके साथ जिस अमर जीवनकी ओर ऊपर चढता रहता है उसका यह रास्ता नही।

मृत्यु यथार्थमे कोई चीज नही है, क्योकि मरता तो शरीर है और शरीर मनुष्य नही है। जो कुछ कि वास्तवमे है उसका अस्तित्व नही है ऐसा कभी नही हो सकता, हां, जिन रूपोको लेकर वह प्रकट होता है उनको वह बदल सकता है। वैसे ही, जो कुछ नही है वह हो भी नही सकता। आत्मा (देही, जीव) है और वह नही है ऐसा कभी नही हो सकता। यह जो सत् और असत् (है और नही) का अतर है, आत्मभाव और भूतभावका अंतर दिखानेवाली यह जो तुला है जिससे मनुष्यका मन इस जगत् और जीवनको देखा करता है, इसकी परिणति उस आत्मानुभवमे हुआ करती है जहा यह बोध होता है कि एक आत्मा ही अविनाशी पुरुष है जिसके द्वारा यह सारा विश्व प्रसारित है। शरीर सात है—उसका अंत हुआ करता है, पर जो इस शरीरको धारण करता और इससे काम लेता है वह अनत, अपरिच्छिन्न, सनातन और अविनाशी है। वह जीर्ण-शीर्ण शरीरोको छोड़कर नये शरीर धारण करता है, वैसे ही जैसे कोई मनुष्य अपने फटे-पुराने वस्त्रोको त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है; इसमें शोक करने, सहमने और सिकुडनेकी कौनसी बात है? वह न जनमता है न मरता है, न वह कोई ऐमी वस्तु है जो होकर लुप्त हो जाय और फिर कभी न हो। वह अज, अनादि, अव्यय आत्मा है; शरीरके मारे जानेसे वह नहीं मारा जाता। अजर अमर

आत्माको मार ही कौन सकता है ? शस्त्र उसे छेद नही सकते, आग जला नही सकती, जल भिगो नही सकता, हवा सुखा नही सकती। वह स्थाणु है, अचल है, सर्वव्यापी है, सनातन है—सदा-से है और सदा रहेगा। शरीरकी तरह वह व्यक्त नही है, लेकिन समस्त अभिव्यक्तिसे महत्तर है, उसका विचारद्वारा विश्लेषण नही हो सकता, क्योकि वह सारे मनसे बड़ा है, प्राण और उसकी इद्रियो और उनके विषयोकी तरह उसमे विकार और परिवर्तन नही होते, बल्कि वह मन, प्राण और शरीरके परिवर्तनोके परे है, फिर भी वह वह सद्वस्तु है जिसे ये सब मूर्तिमान करनेमे लगे हुए है।

यदि यही सत्य हो कि आत्मा इतना महान्, विशाल और जीवन-मरणके परे नही है, यदि यही सत्य हो कि आत्मा सदा जन-मता और मरता है, तो भी प्राणियोके मरनेपर शोक करनेका कोई कारण नही है। क्योकि जीवकी आत्म-अभिव्यक्तिकी यह एक अपरिहार्य अवस्था है। उसके जन्मका अर्थ है उसका किसी ऐसी अवस्थासे बाहर निकल आना जहा वह अस्तित्वविहीन नही है बल्कि हमारी मर्त्य इद्रियोके लिये अप्रकट है, उसकी मृत्यु-का अर्थ है उसी अप्रकट जगत् या अवस्थामे लौट जाना जहासे वह इस भौतिक अभिव्यक्तिमे फिर प्रकट होगा। भौतिक मन और इद्रिया, रुग्णशय्यापर या रणक्षेत्रमे होनेवाली मृत्यु और उसके भयके सबधमे जो रोना-पीटना मचाते है वह प्राणकी हायतोबा-ओंमे सबसे अधिक अज्ञानमय है। मनुष्योकी मृत्युपर हमारा शोक करना उनके लिये अज्ञानसे ही दु.ख करना है जिनके लिये दु:ख करनेका कोई कारण नही है, क्योकि न तो वे अस्तित्वसे बाहर चले गये है न उनकी अवस्थामे कोई दु:खद या भयानक परि-वर्तन ही हुआ है, बल्कि वे अपनी सत्तामें मृत्युके उतने ही परे है जितना कि वे यहाके जीवनको धारण किये हुए कालमें है, और जहांकी अवस्था इस जीवनकी अवस्थासे असुखकर नही है। परंतु यथार्थमे जो उच्चतर सत्य है वही वास्तविक सत्य है। सभी

वही आत्मा है, वही 'एक' है, वही परमात्मा है जिसे हम आश्चर्यवत् देखते, कहते और सुनते है, वह जो हमारी समझकी पहुंचके परे है, क्योंकि हमारी इतनी खोज और ज्ञानके इतने वर्णनके बाद भी तथा ज्ञानी जनोसे इतना सब सुननेके बाद भी, उस 'केवल' (Absolute) को कोई मानव-मन-बुद्धि कभी नही जान सकी है। वह 'केवल' ही, वह शरीरका स्वामी ही यहा इस जगत्की ओटमे छिपा हुआ है; यह सारा जीवन उसकी छाया मात्र है; जीवका भौतिक अभिव्यक्तिमे आना और मृत्युके द्वारा उसका इस अभिव्यक्तिसे बाहर निकल जाना, यह उसकी एक गौण क्रियामात्र है। जब हम अपने-आपको इस रूपमे जान लेते है तब यह कहना कि हमने किसीकी हत्या की या किसीने हमारी हत्या की, केवल मूर्खता है। सत्य तो एकमात्र यही ह और इसीमें हमें रहना होगा कि मनुष्यके आत्माकी यात्राके इस महान् चक्रमें मानव-जीव-रूपसे वह शाश्वत पुरुष ही स्वय प्रकट होता है, जिसमे जन्म और मृत्यु उस यात्राके मार्गमें मील-दर्शक पत्थर-रूप है, परलोक उसके विश्राम-स्थान है, जीवनकी सारी अवस्थाएं, चाहे सुखद हों या दुःखद, हमारी प्रगति और संग्राम और विजयके साधन है और हमारा धाम है अमरत्व जहाके लिये जीवकी यह यात्रा है।

इसलिये, भगवान् कहते हैं कि हे भारत, इस वृथा शोक और हृदयदौर्बल्यको दूर कर और लड़। परतु यह तात्पर्य कहांसे निकला? यह उच्च और महान् ज्ञान,–मन और अंतरात्माका यह कष्टसाध्य आत्मानुशासन जिसके द्वारा अंतरात्माको भावावेगोंके हुल्लड़ और इंद्रियोके धोखोके परे जाकर आत्मज्ञानमें ऊपर उठ जाना है–यह हमें शोक और मोहसे तो मुक्त कर सकता है; मृत्युका भय और मरे हुओंका शोक तो इससे दूर हो सकता है; भले ही इससे हमे यह बोध भी हो सकता है कि जिन्हे हम मरे हुए जानते है वे मरे हुए है ही नही, उनके लिये शोक करनेकी कोई

बात है ही नही, क्योकि वे केवल परलोकमें चले गये है; इससे भले ही हमें वह शिक्षा मिल सकती है कि जिससे हम जीवनके महा-भयानक थपेड़ों और शरीरकी मृत्युको अविचलित भावसे एक बहुत ही सामान्य घटनाके तौरपर देख सकें; इससे हम इतने ऊचे उठ सकते है कि जीवनकी सारी अवस्थाओंको हम उसी 'एक'का प्राकटच जाने और यह जाने कि ये हमारे अंतरात्माओके लिये जगत्के बाह्य दृश्योसे ऊपर उठनेके एक साधन है, और हमारा यह ऊपर उठना एक ऊर्ध्वगामी विकासके द्वारा उस समयतक चलता रहता है जबतक कि हम अपने-आपको एक अमर आत्माके रूपमें न जान ले। पर इससे अर्जुनसे जो कर्म करनेके लिये कहा जा रहा है और कुरुक्षेत्रमे जो हत्याकाण्ड होने जा रहा है उसकी पुष्टि कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि अर्जुनको जिस मार्गपर चलना है उस मार्गमे उसके लिये यह कर्म करना आवश्यक है; यह कर्म उसके सामने, उसके अपने स्वधर्मका, अपने सामाजिक कर्त्तव्य-का, अपने जीवन-धर्मका, अपनी सत्ताके धर्मका पालन करते हुए अ-परिहार्य रूपसे आ पड़ा है। यह जगत्, जड़प्राकृतिक विश्वके अन्दर आत्माका यह प्राकटच, केवल जीवके ही आतरिक विकासका चक्र नही है बल्कि यह एक क्षेत्र है जिसमे जीवनकी बाह्य अवस्थाओ-को उस आंतरिक विकास-साधनके लिये परिस्थिति और प्रसगके रूप-में ग्रहण करना होता है। यह जगत् परस्पर साहाय्य और सघर्षका क्षेत्र है; यह हमारे लिये किसी ऐसी प्रगतिकी इजाजत नही देता कि हम अपने अनायास प्राप्त सुखोको भोगते हुए शांति और चैनके साथ आगे बढ़ते चले जाय, बल्कि यहा एक-एक पैड़ी वीरोचित प्रयाससे और परस्परविरोधिनी शक्तियोंके संघर्षसे होकर ही चढ़नी होती है। क्षत्रिय, बलवान् पराक्रमी पुरुष वे ही है जो इस आंतरिक और बाह्य संघर्षको यहांतक कि इसका जो अत्यत भौतिक रूप है अर्थात् रण, उसको भी अंगीकार करते है; रण, विक्रम, महानता, साहस उनका स्वभाव होता है; धर्मकी रक्षा करना और रणका आह्वान होते

ही उत्साहके साथ उसमे कूद पड़ना, उनका गुण और कर्त्तव्य होता है। धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय, सरक्षण करनेवाली शक्ति और अत्याचार और पीड़न करनेवाली शक्ति, इनके बीच सतत सघर्ष होता ही रहता है और एक बार जहा इसने स्थूल संग्रामका रूप धारण कर लिया तब फिर सत्य, न्याय और धर्मकी ध्वजाको ले चलनेवाले पुरुषका यह काम नही है कि वह अपने इस कर्मके हिसामय और घोर रूपको देखकर घबरा या काप जाय; उसके लिये यह कदापि उचित नही कि चूकि हिसक और क्रूरके प्रति उसमे एक दुर्बल कृपा है तथा जिस सहारकार्यको करनेका उसे आदेश मिला है उसकी विशालताको देखकर उसके जीमे एक भौतिक त्रास होता है इसलिये वह अपने अनुयायियो और सहयोद्धाओका साथ छोड़ दे, अपने पक्षवालोको धोखा दे और धर्म तथा न्यायकी ध्वजाको धूलमे घसीटी जाने और आततायियोके रक्तरजित पैरोके तले कीचड़मे रौदी जाने दे। उसका धर्म ओर कर्त्तव्य रणमे है, रणसे हटनेमे नही; यहा सहार करना नही बल्कि सहारसे हाथ खीचना ही पाप होगा।

इसके बाद भगवान् गुरु क्षणभरके लिये प्रस्तुत विषयसे अलग हो जाते है और अर्जुनके आत्मीय स्वजनोकी मृत्युसे होनेवाले दु.खसंबंधी विलापका एक और उत्तर देते है, उस विलापका जिसमे उसने यह कहा है कि इससे तो मेरा जीवन ही निस्सार हो जायगा, क्योंकि जब जीवनके हेतु और विषय ही नही रहेगे तो फिर मुझे जीकर क्या करना है। क्षत्रिय आखिर किसलिये जीता है, उसके जीवनका सच्चा उद्देश्य क्या है और किस बातमे उसका वास्तविक सुख है? अपने-आपको खुश रखना, परिवारको सुखी देखना और मित्रों और नातेदारोके बीच रहते हुए आरामसे और मौजसे तथा सुख-शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करना, क्षत्रिय-जीवनका सच्चा उद्देश्य नहीं है; क्षत्रिय-जीवनका सच्चा उद्देश्य है सत्यके लिये लड़ना और उसका बड़ेसे बड़ा सुख इसी बातमें है कि उसे ऐसा कोई शुभ कार्य और अवसर प्राप्त हो जिसके लिये या तो वह अपना जीवन दान कर सके

या विजयी होकर वीर जीवनका यश और गौरव प्राप्त कर सके। "क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर और कोई श्रेय नही, ऐसे युद्धका अवसर उसके लिये स्वर्गके खुले द्वारकी तरह होता है, जब कभी ऐसा अवसर मिलता है तब क्षत्रिय सुखी हो जाता है। यदि तू धर्मकी रक्षाके लिये यह युद्ध न करेगा तो तू अपने स्वधर्म और कीर्तिका परित्याग करके पापका भागी होगा।" यदि वह ऐसे अवसरपर लड़नेसे इन्कार करेगा तो अपमानित होगा, लोग उसे कायर और दुर्बल कहेगे और उसके क्षत्रियनामकी मर्यादा नष्ट होगी। क्षत्रियके लिये सबसे बड़ा शोक क्या है? वह है उसकी प्रतिष्ठाकी हानि, उसकी कीर्तिकी हानि, बलवान और साहसी पुरुषोमे उसका जो स्थान है उस पदसे उसकी च्युति, उसके लिये यह मृत्युसे भी बुरी चीज है। संग्राम, साहस, शक्ति, शासन, वीरोका मान, युद्ध करते-करते मरकर स्वर्गकी प्राप्ति—यह है योद्धाका आदर्श। इस आदर्शको नीचा करना, इस मानको कलंकित होने देना; वीरोंमे वीर कहानेवालेका ऐसा उदाहरण लोगोके सामने रखना जिससे उसपर कायरता और दुर्बलताका कलंक लगता हो और इस प्रकार मानवजातिका नैतिक मानदंड नीचे गिरता हो, अपने-आपको तथा इस जगत्का अपने नेताओ और राजाओपर जो दावा है उसको, धोखा देना है। "रणमे मारा जायगा तो स्वर्ग लाभ करेगा, जीतेगा तो पृथिवीपर राज करेगा; इसलिये, हे कुंतीके लाल, युद्धका निश्चय करके उठ।"

इस स्थलसे पहले जिस तितिक्षात्मक आध्यात्मिकताका उपदेश हुआ है और इस स्थलके आगे जिस गभीरतर आध्यात्मिकताकी चर्चा होगी, उनके सामने यह वीरोचित पुकार नीचे दर्जेकी बोध होती है; क्योकि बादके ही श्लोकमें अर्जुनको यह उपदेश किया जाता है कि, सुख-दुःख, लाभालाभ और जयाजयको सम अनुभव करके युद्ध कर और यही गीताका वास्तविक उपदेश भी है। परंतु भारतीय धर्मशास्त्रने मनुष्यके विकासात्मक नैतिक और आध्यात्मिक

जीवनके लिये एकके बाद एक चढ़ते हुए आदर्शोंकी व्यावहारिक आवश्यकताका सदा अनुभव किया है और इसीसे भारतीय धर्म-शास्त्रमें अधिकार-भेदके अनुसार साधन-क्रमकी व्यवस्था है। यहां क्षत्रियका जो आदर्श सामने रखा गया है वह चातुर्वर्ण्यके अनुसार सामाजिक दृष्टिसे रखा गया है, इसकी जो आध्यात्मिक दृष्टि आगे चलकर दिखायी गयी है उस दृष्टिसे नही। श्रीकृष्ण यहां अर्जुनसे वास्तवमें यही कह रहे है कि यदि तू सुख और दु.ख और कर्मके परिणामका हिसाब लगाकर ही अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय करना चाहता है तो मेरा यही जवाब है। मै पहले तुझे यह बता चुका हूं कि आत्मा और जगत्का जो उच्चतम ज्ञान है उस ज्ञानकी दृष्टिसे तेरा क्या कर्तव्य है और अब मैंने तुझे यह भी बताया कि तेरा सामाजिक कर्तव्य और तेरा अपना नैतिक मानदंड तुझे किस ओर चलनेका इशारा करता है–'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य।' तू चाहे जिस पहलूसे भी देख, एक ही बात निष्पन्न होती है। परन्तु यदि तुझे अपने सामाजिक कर्तव्य और वर्णधर्मसे सतोष न होता हो, यदि तू यह समझता हो कि उससे तू दु:ख और पापका भागी बनने जा रहा है, तो मेरा आदेश यह है कि तुझे किसी हीन आदर्श-की ओर नीचे गिरनेकी अपेक्षा किसी ऊंचे आदर्शकी ओर ऊपर उठना चाहिये। अहंकारका सर्वथा परित्याग कर, सुख और दु:खकी, लाभ और हानिकी तथा ऐहिक परिणामोकी परवाह न कर; जिस काममें तुझे लग जाना है तथा भगवान्के आदेशसे जिस कामको तुझे सिद्ध करना है केवल उसीकी ओर अपनी दृष्टि रख; "ऐसा करनेसे तू पापका भागी न होगा–नैवं पापमवाप्स्यसि।" इस प्रकार युद्धसे पश्चात्पद होनेमें अर्जुनकी जो दलीलें थी–उसका दु:खी होना, हत्याकांडसे उसके मनका सहम जाना, इसमें उसको पाप लगनेका बोध होना, इस कर्मका फल अच्छा नही होगा ऐसा उसका समझना, इन दलीलोंका उत्तर, अर्जुनकी जाति और युगने जो उच्चतम ज्ञान प्राप्त किया था तथा उनके जो श्रेष्ठ नैतिक आदर्श

थे उनके अनुसार दिया जा चुका।

आर्य क्षत्रियका यह धर्म है। इस धर्मका यही निर्देश है कि "ईश्वरको जान, अपने-आपको जान, मनुष्योकी मदद कर; धर्म-की रक्षा कर, भय, डगमगाहट और दुर्बलताको त्याग कर संसारमें अपना युद्ध-कर्म कर। तू शाश्वत अविनाशी आत्मा है, तेरा अतरात्मा अमृतत्वके अपने ऊर्ध्वगामी मार्गपर चलता हुआ ही इस ससारमे आया है; जीवन-मरण कोई चीज नही है, दु.ख और क्लेश और कष्ट कोई चीज नही है, इन सबको जीतना और वशमे करना होगा। अपने ही सुख, जीत और लाभको मत देख, बल्कि ऊपर-की ओर और अपनी चारों ओर देख, ऊपर उस प्रकाशमय शिखर-को देख जिसकी ओर तू चढा चला जा रहा है, और अपनी चारों ओर इस सग्राममय और परीक्षास्थल जगत्को देख जिसमें शुभ और अशुभ और उन्नति और अवनति परस्पर घोर विरोधमे आबद्ध है। तू वीर है, लोकनायक है, इसलिये लोग तुझे पुकार रहे हैं कि आओ, हमारी मदद करो; इसलिये अर्जुन, उनकी मदद कर, युद्धके लिये उद्यत हो। संहार कर जब कि सहारसे ही जगत् उन्नतिकी और आगे बढ़नेवाला है, पर जिसका सहार करेगा उससे घृणा मत कर, न उनके लिये शोक कर जो इस युद्धमे विनाशको प्राप्त होगे। सर्वत्र उस एक ही आत्माको जान, सब प्राणियोको अमर आत्मा और शरीरको केवल मिट्टी जान। स्थिर, दृढ़ और समभावसे अपना कर्म कर, लड़ और या तो महान् होकर मर या बलवान् होकर विजय प्राप्त कर। यही तेरा कर्म है जो भगवान्-ने और तेरे स्वभावने तुझे दिया है, इसे संपन्न कर।"

सांख्य और योग

भगवान् गुरु अर्जुनकी कठिनाइयोंका पहला उत्तर संक्षेपमें दे चुके, अब वे दूसरे उत्तरकी ओर मुड़ते हैं और उनके मुहसे एक आध्यात्मिक समाधानको करनेवाले जो पहले शब्द निकलते हैं उनमे तुरंत वे यह बताते है कि सांख्य और योगमें एक भेद है, जिसको जान लेना गीताको समझनेके लिये अत्यंत आवश्यक है। भगवान् कहते है कि "यह बुद्धि (अर्थात् वस्तुओं और इच्छाओंका बद्धिगत ज्ञान) तुझे सांख्यमे बतायी, अब इस योगमे सुन, इस बुद्धिसे यदि तू योगमें स्थित रहे, तो हे पार्थ, तू कर्मबंधनको छुड़ा सकेगा।" जिन शब्दोसे गीता इस भेदको सूचित करती है उन शब्दोंका यह शब्दशः अनुवाद है।

गीता मूलतः वेदांत-ग्रंथ है। वेदांतके जो तीन सर्वमान्य प्रमाण-ग्रंथ है उनमें एक गीता है। श्रुतिमे अवश्य ही इसकी गणना नही की जाती, क्योंकि इसकी प्रतिपादनशैली बहुत कुछ बौद्धिक, तार्किक और दार्शनिक है, फिर भी इसका आधार सत्य ही है, लेकिन यह वह श्रुति, वह मंत्रदर्शन नही है जो ज्ञानकी उच्च भूमिकामें द्रष्टाको स्वतः प्राप्त होता है। तथापि इसका इतना बड़ा आदर है कि यह ग्रंथ लगभग तेरहवां उपनिषद् ही माना जाता है। परन्तु इसके वैदांतिक विचार आरम्भसे अंततक सांख्य और योगमार्गके विचारोंसे अच्छी तरह रंगे हुए हैं और यह रंग इसपर चढ़ा हुआ होनेसे इसकी तत्त्वमीमांसामें एक विलक्षण समन्वय-साधकता आ गयी है। वास्तवमें यह ग्रन्थ मूलतः एक योगशास्त्र है और जिस योगका यह उपदेश करता है उसकी इसमें व्यावहारिक पद्धति

बतायी गयी है, और जो तात्त्विक विचार इसमें आये है वे इसके योगकी व्यावहारिक व्याख्या करनेके लिये ही लिये गये है। इस-में केवल वेदांत-ज्ञानका ही निरूपण नही है, बल्कि इसमें ज्ञान और भक्तिके भवनको कर्मकी नीवपर खड़ा किया गया है और कर्मको भी कर्मकी जो परिसमाप्ति है उस ज्ञानमें ऊपर उठाकर रखा गया है तथा कर्मका पोषण उस भक्तिद्वारा किया गया है जो कर्मका प्राण है और जहांसे कर्म उद्भूत होते है। फिर, गीताका योग विश्ले-षणात्मक साख्यदर्शनपर स्थापित है, साख्यको वह अपना आरंभ-स्थल बनाता है और उसकी पद्धति और उसके मतमें सांख्यको बरा-बर ही एक बड़ा स्थान प्राप्त है, तथापि गीताका यह योग साख्यके बहुत आगे बढ़ता है, यहांतक होता है कि साख्यकी कुछ विशिष्ट बातोतकको अस्वीकार करके यह एक ऐसा उपाय बताता है जिससे साख्यके विश्लेषणात्मक कनिष्ठ ज्ञानके साथ उच्च-तर, समन्वयात्मक और वैदातिक सत्यका सम्मेलन साधित होता है।

तब फिर, गीताके ये साख्य और योग क्या है ? ये अवश्य ही वे दर्शन नही है जो हमे यथाक्रम ईश्वरकृष्णकी साख्यकारिका और पतजलिके योगसूत्रोके रूपसे प्राप्त है। यह साख्यकारिका-का साख्य नही है—साख्य शब्दसे जो साधारण धारणा होती है, कम-से-कम यह वह नही है; क्योंकि गीता एक क्षणके लिये भी जीवनके मूल सत्य रूपसे बहु पुरुषोंका होना कही भी स्वीकार नहीं करती, बल्कि सांख्य-परंपरा जिसका जोरदार शब्दोमे इनकार करती है उसी 'एक'को गीता दृढताके साथ आत्मा और पुरुष, फिर उसी 'एक'को परमेश्वर, ईश्वर या पुरुषोत्तम और ईश्वरको जगत्का आदि कारण घोषित करती है। सांख्य-परंपरा, आधुनिक भाषामें कहना हो तो, अनीश्वरवादी है; गीताके सांख्यमे जगत्कारण-रूपसे ईश्वरवाद, विश्वब्रह्मवाद और अद्वैतवाद, इन सभी सिद्धातोंका स्वीकार और सूक्ष्म समन्वय है।

न गीताका योग पतंजलिका योगदर्शन ही है। पतंजलिका योगदर्शन राजयोगकी केवल एक आभ्यतरीण प्रणाली है, एक आंतरिक अनुशासन है, एक नपी-तुली पद्धति है, एक बंधा हुआ कठोर साधनसूत्र है जिसमें उत्तरोत्तर चढ़ता हुआ एक कठोर शास्त्रीय साधनक्रम है, जिसके द्वारा मनको निस्तब्ध करके समाधि-में पहुंचाया जाता है जिससे कि हमारे इस आत्म-अतिक्रमणका हमे ऐहिक और पारलौकिक, दोनो फल प्राप्त हो जाय; ऐहिक, जीवके ज्ञान और बलके अति विस्तारद्वारा और पारलौकिक भगवान्‌के साथ एकताके द्वारा। परंतु गीताका योग एक उदार लचकीली और बहुमुखी पद्धति है, जिसमे अनेक प्रकारके तत्त्वोका समावेश है, और ये सभी तत्त्व एक प्रकारकी स्वाभाविक और जीती-जागती परिपाक-क्रियाद्वारा गीतामें समन्वित किये गये है; राजयोग तो इन तत्त्वोमेका केवल एक तत्त्व है और वह भी कोई अत्यंत महत्वपूर्ण तत्त्व नही। गीताके योगमे कोई नियमबद्ध और शास्त्रीय श्रेणीविभागका विधान नही है, यह योग तो एक ऐसी साधना है जिसमे स्वाभाविक आत्म-विकास होता रहता है। गीता चाहती है आभ्यतरीण संतुलित अवस्थाद्वारा और कर्मके कतिपय सिद्धातोके अवलबनद्वारा जीवको रूपातरित कर देना, किसी परिवर्तन, आरोहण या नवजन्मके द्वारा उसे निम्न प्रकृतिसे बाहर निकालकर परा प्रकृतिके साथ एक कर देना। अतएव यौगिक समाधिके नामसे साधारणतया जो समाधि समझी जाती है, गीताके योगकी समाधि उससे सर्वथा भिन्न है। पातजल योगमें कर्मकी महत्ता और आवश्यकता केवल चित्तशुद्धि और ध्यानकी साधना करनेभरके लिये ही है और गीताके योगमे कर्म योगका विशेष लक्षण है। पतंजलि कर्मको केवल प्रारंभिक साधनमात्र मानते है और गीतामें कर्म चिरंतन आधारभूमि है। राजयोगमें कर्मसे मिलनेवाली सिद्धिके मिलते ही कर्मको हटा देना पड़ता है या यह कहिये कि योगसाधनके लिये फिर उसकी कोई आवश्यकता

नहीं रहती और गीतामें कर्म सर्वोच्च अवस्थामें पहुंचनेका साधन है और जीवके पूर्ण मोक्ष लाभ कर चुकनेके बाद भी वह बना रहता है।

इतना यहां कह देना इसलिये आवश्यक हुआ कि उन परिचित शब्दोंके प्रयोगसे कोई भ्रम न उत्पन्न हो जाय जो परिचित और रूढ़ अर्थकी अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थमें यहां प्रयुक्त हुए हैं। फिर भी सांख्य और योग दर्शनोमें जो कुछ सार तत्त्व है, जो कुछ व्यापक, उदार और सर्वमान्य सत्य है वह गीतामे स्वीकृत है और यह सब स्वीकृत होते हुए भी गीता इन परस्पर-विरोधी दर्शनोके समान केवल उन्हीसे आबद्ध नही है। गीताका साख्य उदार और वेदातमान्य सांख्य है, यह वह साख्य है जिसके प्रथम सिद्धात और तत्त्व उपनिषदोके वैदातिक समन्वयमे पाये जाते है और जिसका वर्णन बादके विकासमें अर्थात् पुराणोमें भी आया है। इसका योग वह आभ्यंतरीण साधना और आतरिक परिवर्तन है जो आत्माको ढूढ निकालने या भगवान्से एकता लाभ करनेके लिये आवश्यक है और राजयोग इसका एक विशिष्ट प्रयोगमात्र है। गीताका यह आग्रह है कि साख्य और योग कोई परस्पर भिन्न, विसगत और विरोधी शास्त्र नही है, बल्कि दोनोका सिद्धात और उद्देश्य एक है, भेद केवल उनकी प्रक्रिया और मार्गारभमे है। साख्य भी योग है पर यह केवल ज्ञानमार्गसे आगे बढता है, अर्थात् इसका आरंभ हमारी सत्ताके तत्त्वोका बौद्धिक विवेक और विश्लेषणद्वारा होता है और अंतमे यह सत्यका दर्शन कर उसपर अधिकार प्राप्त करके अपने लक्ष्यतक पहुचता है। दूसरी ओर, योग कर्ममार्गसे अग्रसर होता है, इसका प्रथम सिद्धात है कर्मयोग; परंतु गीताकी संपूर्ण शिक्षासे तथा कर्म शब्दकी जो परिभाषा इसमें पीछे की गयी है उससे यह स्पष्ट है कि कर्म शब्दका प्रयोग गीतामे बहुत व्यापक अर्थमें किया गया है और योग शब्दसे गीताका अभिप्राय है एक ऐसा निःस्वार्थ समर्पण जिसमें हमारी समस्त आंतरिक और बाह्य कर्मण्यताओको यज्ञ-रूपसे कर्मके ईश्वरको, उस सनातन परब्रह्मको

भेंट कर देना होगा जो जीवके तपों और तपस्याओंके स्वामी हैं। यह योग उस सत्यकी साधना है जिसका ज्ञान दर्शन कराता है और इस साधनाकी प्रेरक-शक्ति है एक प्रकाशमान भक्तिका भाव, एक शांत या उग्र आत्म-समर्पणका भाव उन परमात्माके प्रति जिन्हें ज्ञान पुरुषोत्तमके रूपमें देखता है।

पर सांख्यके सत्य क्या है? सांख्य-दर्शनका यह नाम विश्लेषण-पद्धतिके कारणसे उसे प्राप्त हुआ है, सांख्यमें हमारी सत्ताके तत्त्वोंका विश्लेषण, संख्याकरण, विभाजन और विवेचन है, जिसके केवल संघात या संघातके फलको ही मनुष्यकी साधारण बुद्धि देख पाती है। सांख्य-दर्शनने समन्वय साधनेकी कोई चेष्टा नही की। इस दर्शनका मूलभूत सिद्धांत यथार्थमें द्वैत है, वह आपेक्षिक द्वैत नही जो वेदांतका मत है, बल्कि यह वह द्वैत है जो सर्वथा निरपेक्ष और निराला है। इस सिद्धांतके अनुसार जगत्कारणस्वरूप कोई एक ही सत्ता नहीं है, बल्कि दो मूलतत्त्व है जिनका संयोग ही इस जगत्का कारण है–एक है पुरुष जो अकर्त्ता है और दूसरा तत्त्व है प्रकृति जो कर्त्री है। पुरुष आत्मा है जीव नही, बल्कि यह वह सचेतन सत्ता है जो अटल है, अक्षर है और स्वयंप्रकाश है। प्रकृति है कर्त्री शक्ति और उसकी प्रक्रिया। पुरुष स्वयं कुछ नही करता, पर वह कर्त्री शक्ति और उसकी प्रक्रियाओंको आभासित करता है; प्रकृति जड़ है पर पुरुषमें आभासित होकर अपने कर्ममे चैतन्यका रूप धारण करती है और इस प्रकार सृष्टि स्थिति और संहार, जन्म जीवन और मरण, चेतना और अचेतना, इंद्रियगम्य ज्ञान और बुद्धिगम्य ज्ञान तथा अज्ञान, कर्म और अकर्म, सुख और दुःख, ये सब घटनाएं उत्पन्न होती है और पुरुष प्रकृतिके प्रभावमें आकर इन सबको अपने ऊपर ओढ़ लेता है यद्यपि ये उसके अंग बिलकुल नहीं है बल्कि केवल प्रकृतिकी क्रिया या गतिके अंग है।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है; सत्त्व, ज्ञानका बीज है, यह कर्त्री शक्तिके कर्मोंकी स्थिति रखता है; रज, बल और कर्मका बीज है, यह

कर्त्री शक्तिकी क्रियाओंकी सृष्टि करता है; तमस जड़त्व और अज्ञानका बीज है, यह सत्व और रजका अपलाप है, जो कुछ वे सृष्टि करते, उसकी स्थिति रखते यह उसका सहार करता है। प्रकृति-के ये तीन गुण जब साम्यावस्थामे रहते है तब सब कुछ जहांका तहां पडा रहता है, कोई गति नही, कोई कर्म नही, कोई सृष्टि नही और इसलिये तब चिन्मय आत्माकी अक्षर ज्योतिर्मय सत्तामे आभासित या प्रतिबिंबित होनेवाली कोई वस्तु नही होती। पर जब यह साम्यावस्था विक्षुब्ध हो जाती है तब तीनो गुण परस्पर विषम हो उठते है और वे एक-दूसरेसे संघर्ष करते और एक-दूसरेपर अपना प्रभाव जमानेका प्रयत्न करते है, और उसीसे विश्वको प्रकट करने-वाला यह विरामरहित सृष्टि, स्थिति और संहारका दुस्तर व्यापार आरंभ होता है। यह कर्म तबतक होता रहता है जबतक पुरुष अपने अदर इस वैषम्यको प्रतिभासित होने देता है, जो उसके सनातन स्वभावको ढक देता है और उसपर प्रकृतिके स्वभावको आरोपित कर देता है। पर जब पुरुष अपनी इस अनुमतिको हटा लेता है तब तीनो गुण साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाते है और पुरुष अपने सनातन अविकार्य अचल स्वरूपमे लौट आता है, वह विश्व-प्रपचसे मुक्त हो जाता है। अपने अंदर प्रकृतिको आभासित होने देना और यह अनुमति देना या लौटा लेना, पुरुषकी अगर कोई शक्ति है तो बस इतनी ही। प्रकृतिको अपने अंदर आभासित देखनेके नाते पुरुष साक्षी है और अनुमति देनेके नाते अनुमन्ता है, पर कर्ता-रूपसे ईश्वर नही। उसका अनुमति देना भी निष्क्रिय है और उस अनुमतिको लौटा लेना एक दूसरे प्रकारकी निष्क्रियता है। कर्ममात्र ही, चाहे वह आतरिक हो या बाह्य, आत्माका स्वधर्म नही, उसमे न कोई सकर्मक इच्छा है न कोई सकर्मक बुद्धि। इसलिये पुरुष अकेला ही इस जगत्का कारण नही हो सकता, और कोई दूसरा कारण भी है इसको स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। केवल पुरुष ही अपने चिन्मय ज्ञान, संकल्प और आनन्दके

स्वभावसे जगत्का कारण नही है, बल्कि पुरुष और प्रकृति दोनोंकी द्विविध सत्ता ही जगत्का कारण है, एक है निष्क्रिय चैतन्य और दूसरी है कर्त्री शक्ति। अस्तु! जगत्के अस्तित्वके विषयमें सांख्यकी व्याख्या इस प्रकार है।

परंतु तब ये सचेतन बुद्धि और सचेतन संकल्प कहासे आते हैं जिन्हें हम अपनी सत्ताका इतना बड़ा अग अनुभव करते है और जिन्हे हम सामान्यत: और सहज ज्ञानसे ही प्रकृतिकी कोई चीज न मानकर पुरुषकी ही मानते है? सांख्यके अनुसार बुद्धि और संकल्प सर्वथा प्रकृतिकी जड़शक्तिके ही अंग हैं, पुरुषके गुणधर्म नही; ये दोनों ही बुद्धि-तत्त्व है जो जगत्के चौबीस तत्त्वोमेसे एक तत्त्व है। इस सृष्टिका जो क्रम है उसके मूलमे प्रकृति अपने तीनों गुणो सहित सब पदार्थोकी मूल वस्तुके रूपमे अव्यक्त अचेतन अवस्था-मे रहती है। फिर उसमेसे क्रमश: कर्मशक्ति या विषय—कारण साख्य-दर्शनमें कर्मशक्ति और महाभूत एक ही चीज है—के पांच मूल तत्त्व पैदा होते है। इनको प्राचीन शास्त्रोमे पचमहाभूत कहा है, ये है आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी; यह याद रहे कि आधुनिक सायंसकी भाषामें जिन पदार्थोके ये नाम है उनसे यहा अभिप्राय नही है, बल्कि जड़ प्राकृतिक शक्तिकी ये अति सूक्ष्म अव-स्थाएं है, जिसका विशुद्ध स्वरूप इस स्थूल जगत्में कही भी प्राप्य नही। सब पदार्थ इन्ही पाच सूक्ष्म तत्त्वोंके सघातसे उत्पन्न होने है। फिर इन पंचमहाभूतोमेसे, प्रत्येकसे एक-एक तन्मात्रा उत्पन्न होती है। ये पचतन्मात्राए है शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। इन्हीके द्वारा ज्ञानेन्द्रियोको विषयोंका ज्ञान होता है। इस प्रकार मूल प्रकृतिसे उत्पन्न इन पंचमहाभूतो और उनकी इन पंचतन्मात्राओं—जिनके द्वारा स्थूलका बोध होता है—से यह बाह्य जगत् उत्पन्न होता है।

तेरह तत्त्व और है जिनसे विश्वप्रकृतिका अंतरंग निर्माण होता है— बुद्धि या महत्, अहंकार, मन और उसकी दस इंद्रिया (पांच

ज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेंद्रिय) । मन मूल इन्द्रिय है, यह बाह्य पदार्थोंका अनुभव करता और उनपर प्रतिक्रिया करता है; कारण इसमे अतर्मुखी और बहिर्मुखी दोनो क्रियाएं साथ-साथ होती रहती है; इन्द्रियानुभवके द्वारा यह उन अर्थोको ग्रहण करता है जिन्हे गीतामे "बाह्यस्पर्श" कहा गया है और उनके द्वारा जगत्को जानता और सक्रिय प्राणशक्तिद्वारा उसपर प्रतिक्रिया करता है। परतु यह पाच ज्ञानेन्द्रियोकी सहायतासे, शब्द स्पर्श रूप रस और गंध जिनके विषय है, यह अपनी ग्रहण करनेकी अति सामान्य क्रियाओको विशेष रूपसे चलाता है; इसी प्रकार पाच कर्मेन्द्रियोकी सहायतासे वाणी, गमन, वस्तुओका ग्रहण, त्याग और उत्पादनके द्वारा यह प्रतिक्रिया करनेवाली कतिपय प्राणकी आवश्यक क्रियाओको विशेष रूपसे चलाता है। बुद्धि जो विवेक-तत्त्व है, वह एक साथ ही बोध और सकल्प दोनो ही कार्य करनेवाली शक्ति है, प्रकृतिकी यह वह शक्ति है जो विवेकके द्वारा पदार्थोको उनके गुण-धर्मानुसार पृथक् करती है और उनकी सगति भी बैठाती है। अहकार बुद्धिका "अह" पद वाच्य वह तत्त्व है जिससे पुरुष प्रकृति और उसकी क्रियाओके साथ तादात्म्यको प्राप्त होता है। परतु ये अत.करण तत्त्व उतने ही जड है, अचेतन प्रकृतिके उतने ही अश है जितने कि उसके बाह्य करण। यदि हमारी समझमे यह बात न आती हो कि कैसे बुद्धि और मन जड प्रकृतिके अश और स्वयं जड़ है तो हमे इतना ही याद रखना चाहिये कि आधुनिक सायसको यही सिद्धात ग्रहण करना पडा है। परमाणुकी अचेतन क्रियामें भी एक शक्ति होती है जिसे अचेतन इच्छा ही कह सकते है और प्रकृतिके सब कर्मोमे यही व्यापक इच्छा अचेतन रूपसे बुद्धिका काम किया करती है। हम लोग जिसे मानसिक बुद्धि कहते है वह तत्त्वत: ठीक वही चीज है जो इस जड़प्राकृतिक विश्वके सब कर्मोमें अवचेतन रूपसे विवेक करने और सगति मिलानेका काम किया करती है, और मनुष्यके अंदर जो सचेतन मन है वह भी, आधुनिक

सायंस यह दिखलानेका यत्न करता है कि, अचेतन प्रकृतिके जड़ कर्मका ही परिणाम और प्रतिलिपि है। परंतु आधुनिक सायंस जिस विषयको हमे नही बता सका, अर्थात् किस प्रकार जड़ और अचेतन, सचेतनका रूप धारण करता है, उसे सांख्य शास्त्र समझा देता है। सांख्यके अनुसार इसका कारण है प्रकृतिका पुरुषमें प्रतिभासित होना; पुरुषके चैतन्यका प्रकाश जड़ प्रकृतिके कर्मोंपर आरोपित होता है और पुरुष साक्षी-रूपसे प्रकृतिको देखता और अपने-आपको भूलता हुआ प्रकृतिद्वारा प्रेरित भावसे विमोहित होकर यह समझता है कि मै ही तो सोचता, अनुभव करता, संकल्प करता और सब कामोंका कर्ता हूं, जब कि यथार्थमें ये सब कर्म प्रकृति और उसके तीन गुणोंद्वारा हो रहे है, उसके द्वारा जरा भी नही। इस मोहको दूर करना प्रकृति और उसके कर्मोसे आत्माके मुक्त होनेका प्रथम सोपान है।

अवश्य ही बहुतसी ऐसी चीजें हमारे इस जगत्में है जिन्हें साख्य-शास्त्र निरूपित नही करता और करता भी है तो पूर्ण समाधान-कारक रीतिसे नहीं, परंतु यदि हम जो कुछ चाहते है वह इतना ही है कि हम केवल यौक्तिक व्याख्याद्वारा यह समझ लें कि इस विश्वकी प्रक्रियाए तत्त्वतः क्या है जिसमे कि हम उस लक्ष्यकी ओर अग्रसर हो सकें जो सभी प्राचीन दर्शनोका लक्ष्य है, अर्थात् विश्वप्रकृतिके जंजालसे आत्माकी मुक्ति, तब तो सांख्यका जो जगत्निरूपण है और मुक्तिका जो साख्य-मार्ग है वह उतना ही उत्तम और उतना ही अमोघ है जितना कि और कोई भी दर्शनशास्त्र। यहां जो बात पहले समझमे नही आती वह यह है कि सांख्य प्रकृतिको एक और पुरुषको अनेक मानकर अपने द्वैत सिद्धांतमें जो बहुत्वकी स्थापना करता है सो किसलिये। ऐसा मालूम होता है कि एक ही प्रकृति और एक ही पुरुषके होनेसे भी तो विश्वकी सृष्टि और उसके क्रम-का हिसाब लगाया जा सकता था। परंतु इसमे पदार्थोंके मूल तत्त्वोंके निरीक्षणकी जो कठोर विश्लेषण-पद्धति है उसके फलस्व-

रूप पुरुष-बहुत्वके सिद्धातका प्रतिपादन करना सांख्यके लिये अनिवार्य था। पहली बात यह है कि वास्तवमे हम इस ससारमें अनेक सचेतन प्राणियोको देखते है और इनमेसे प्रत्येक प्राणी इस जगत्को अपने ही ढंगसे देखता है, और इसकी आतरिक और बाह्य वस्तुओको प्रत्येक प्राणी अपने स्वतत्र ढंगसे अनुभव करता है, और, यद्यपि अनुभव करनेवाली तथा प्रतिक्रिया करनेवाली प्रतिक्रियाएं एक ही है फिर भी प्रत्येक प्राणी इसके साथ पृथक्-पृथक् रूपसे व्यवहार करता है। यदि पुरुष एक ही होता तो यह केद्रीभूत स्वातन्त्र्य और पार्थक्य न होता और सभी प्राणी जगत्को एकसा ही अनुभव करते देखते, एक ही रूपमे पदार्थोको ग्रहण करते और सबका व्यवहार एकसा ही होता। चूकि प्रकृति एक हं, इसीसे तो सब प्राणी उसी एक जगत्को देखते है; चूकि उसके तत्त्व हर जगह एक ही है इसीसे तो जिन सर्वसाधारण तत्त्वोके कारण आतरिक और बाह्य अनुभूतिया होती है वे सबके लिये एकसी ही है; परन्तु इन प्राणियोकी दृष्टि विचार और रुखमें, इनके कर्म अनुभव और अनुभवसे भागनेकी वृत्तिमे जो असंख्य भेद है——अवश्य ही ये भेद प्रकृतिकी स्वाभाविक क्रियाके नही, बल्कि द्रष्टा चेतनाके है—इस विषयकी सिवाय इसके और कोई व्याख्या नही हो सकती कि ये साक्षी अनेक हं, पुरुष अनेक है। शायद हम ऐसा कह सकते है कि पृथकत्व ही जिसका धर्म है उस अहंकारके कारण ही यह सब होता है और यही इस विषयका पर्याप्त उत्तर है? पर अहकार तो प्रकृतिका एक तत्त्व है जो सबके लिये समान है, उससे भेदका होना तो कोई जरूरी बात नही; क्योकि वह स्वय तो केवल इतना ही करता है कि वह पुरुषको प्रकृतिके साथ तादात्म्य कर लेनेमे प्रवृत्त करता है, और यदि एक ही पुरुष होता तो सब जीव एक होते, अपनी अहंभावमय चेतनामें जुटे हुए और एकसे होते; फिर उनके केवल रूपोमे और उनके प्राकृतिक अंगोंके संघातोके व्योरेमें चाहे कितना भी भेद होता

तो भी जीवपर पड़नेवाला जगद्दृश्यका असर भिन्न-भिन्न प्रकारका न होता और सबकी अनुभूति भिन्न-भिन्न प्रकारकी न होती। प्रकृतिमे होनवाले परिवर्तनोंसे एक साक्षी या एक पुरुषमे यह केंद्रिक भेद, यह दृष्टचतर और अथसे इतिपर्यत अनुभूतिका यह पार्थक्य नही होना चाहिये था। इसलिये वेदातके पुरातन ज्ञानसे निकली हुई पर पीछे उससे विच्छिन्न हुई साख्यकी जो पद्धति है उसमें बहु पुरुषका सिद्धात एक न्यायगत आवश्यकता थी। विश्व और उसकी प्रक्रियाको एक पुरुष और एक प्रकृतिका व्यापार कहकर समझाया जा सकता है, किन्तु इस वर्णनसे विश्वमे ये जो असंख्य सचेतन जीव हैं, इस विषयका समाधान नही होता।

फिर इतनी ही बड़ी एक और कठिनाई है। जैसे अन्य दर्शन-शास्त्रोका लक्ष्य है वैसे ही सांख्य-दर्शनने भी अपना लक्ष्य 'मोक्ष' ही रखा है। यह मोक्ष, ऐसा कहा गया है कि, पुरुषको प्रकृतिके कर्मोंसे अपनी अनुमति हटा लेनेसे प्राप्त होता है, क्योकि प्रकृतिके ये कर्म उसीको आनन्द देनेके लिये हैं। परन्तु, वास्तवमे, यह केवल कहनेका एक ढग है। पुरुष अकर्त्ता है और अनुमति देने या हटा लेनेकी जो क्रिया है वह यथार्थमे पुरुषकी नही हो सकती, बल्कि यह अवश्य ही स्वय प्रकृतिमे होनेवाली एक गति है। विचार करनेसे मालूम होगा कि यह भी बुद्धि-तत्त्वमे होनेवाली एक क्रिया ही है, उसकी एक प्रतिक्षेपक या प्रत्यावर्तनकारी गतिमात्र है। बुद्धि ही मनके द्वारा होनेवाली विषय-प्रतीतिसे अपना सबंध जोड़ती रही है; बुद्धि ही विश्वप्रकृतिके द्वारा होनेवाले कर्मोंका व्यतिरेक और अन्वय करती और अहंकारकी सहायतासे प्रकृतिके विचार, अनुभव और कर्मके साथ द्रष्टा पुरुषका तादात्म्य साधन करती रही है। यही बुद्धि फिर व्यतिरेककी प्रक्रियाके द्वारा इस कटु और विघटात्मक अनुभूतिको प्राप्त होती है कि प्रकृतिके साथ पुरुषका जो यह तादात्म्य है वह केवल भ्रम है; अंतमे इसका यह विवेक होता है कि पुरुष प्रकृतिसे अलग है और यह सारा विश्व-

प्रपंच प्रकृतिके गुणोकी साम्यावस्थाका विक्षोभमात्र है। तब बुद्धि जो एक साथ बुद्धि भी है और सकल्प-शक्ति भी इस मिथ्यात्वसे, जिसका वह अबतक पोषण करती रही है, तुरत हट जाती है और पुरुष बंधन-मुक्त होकर विश्वप्रपचमे रमनेवाले मनका अब सग नही करता। इसका अतिम फल यह होगा कि प्रकृतिकी पुरुषमे प्रतिभासित होनेकी शक्ति नष्ट हो जायगी; क्योकि अहकारका अब प्रभाव नष्ट हो गया है और बुद्धि उदासीन हो जानेके कारण प्रकृतिकी अनुमतिका अब साधन नही रही है। तब अवश्य ही उसके गुण आप ही साम्यावस्थाको प्राप्त होगे। विश्वप्रपच फिर कहा? पुरुषको तब अपनी अचल शांतिमे लौट जाना होगा। परन्तु यदि पुरुष एक ही होता तो बुद्धितत्त्वके भ्रमसे निवृत्त होते ही सारा विश्वप्रपच ही बद हो जाता। सो तो हम देखते है कि नही होता। असख्य प्राणियोमेसे कुछ ही मोक्षको प्राप्त होते या मोक्षमार्गके अनुगामी होते है, शेष सब प्राणी जहा-के-तहा रहते है और विश्वप्रकृतिकी जो क्रीडा उनके साथ हो रही है उसमे इस क्षिप्र त्यागसे उस प्रकृतिको बिदुमात्र भी असुविधा नही होती जिसका सारा कारबार इस कार्यसे बद हो जाना चाहिये था। ऐसा नही होनेका केवल एक ही कारण कहा जा सकता है और वह यह कि पुरुष अनेक है और वे सब-के-सब स्वतत्र है। वैदांतिक अद्वैतवादकी दृष्टिके अनुसार यदि इसकी कोई न्यायसगत व्याख्या हो सकती है तो वह मायावाद है; पर मायावादको मान लेनेपर यह सारा प्रपच एक स्वप्नमात्र हो जाता है, फिर बधन और मुक्ति दोनो ही अविद्याकी अवस्था हो जाती है, मायाकी व्यावहारिक भ्रांतिमात्र हो जाती है; वास्तवमें न कोई बद्ध हुआ है न कोई मुक्त। साख्य जो कि अधिक वस्तुतंत्रवादी है, सृष्टि-विषयक इस भावनाको स्वीकार नही करता कि यह सब दृष्टिभ्रम है। इसलिये वेदांतके इस समाधानको वह ग्रहण नही कर सकता। इस प्रकार यहां भी सांख्योंकी जगत्-विश्लेषण-पद्धतिसे प्राप्त सिद्धां-

तोंको ग्रहण करते हुए बहु पुरुषका सिद्धांत ही अपरिहार्य रूपसे मानना पड़ता है।

गीता सांख्यके इस विश्लेषणको ग्रहण करके अपना उपदेश आरंभ करती है और जहां वह योगका निरूपण करती है वहां भी पहले तो ऐसा दिखायी देता है कि उसने सांख्यके इस विचारको प्रायः पूर्णतया स्वीकार किया है। प्रकृति, उसके तीन गुण और चौबीस तत्त्वोंको गीता स्वीकार करती है, प्रकृतिपर समस्त कर्मों-का मढ़ा जाना और पुरुषका अकर्त्ता होना भी गीताको स्वीकृत है; विश्वमें अनेक सचेतन प्राणियोंका होना भी यह स्वीकार करती है; अहंकारका तथा बुद्धिकी भेदभाव करनेवाली क्रियाका लय और प्रकृतिके गुणकर्मका अतिक्रमण ही मोक्षका साधन है, इसको भी गीता स्वीकार करती है। आरंभसे ही अर्जुनसे जिस योगकी साधना करनेको कहा जा रहा है वह बुद्धियोग है। परन्तु एक भेद है और वह बहुत बडा महत्त्व रखता है—पुरुष यहा एक है, अनेक नही। गीताका मुक्त, अशरीरी, अचल सनातन, अक्षर पुरुष केवल एक बातको छोड़कर और सब बातोमें वेदांतकी भाषामें साख्योंका ही सनातन, अकर्त्ता, अचल, अक्षर पुरुष है। पर बहुत बड़ा जो प्रभेद है वह यही कि यह पुरुष एक है, बहु नही। इससे वह बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है जिसको साख्यका बहुपुरुषवाद टाल जाता है, और फिर किसी सर्वथा नये समाधानकी आवश्यकता खड़ी हो जाती है। गीता इस समाधानको करती है, अपने वैदांतिक सांख्यमे वैदांतिक योगके सिद्धातों और तत्त्वोंको लाकर।

पहला जो नया महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यहां प्राप्त होता है वह स्वयं पुरुषके ही सबंधमें है। प्रकृति कर्मका संचालन करती है पुरुषके आनन्दके लिये। पर यह आनंद कैसे साधित होता है? सांख्योंके विश्लेषणमें इस आनंदके साधनमें शांत साक्षीकी निष्क्रिय अनु-मतिमात्र ही कारण है। निष्क्रिय रहकर साक्षी पुरुष बुद्धि और अहंकारके कार्यमें अनुमंता होता है और निष्क्रिय रहकर ही वह उस

बुद्धिके अहकारमे अलग हट जानेमे अनुमति देता है। पुरुष द्रष्टा है, अनुमतिका मूल कारण है, आभासके द्वारा प्रकृतिके कर्मको धारण करनेवाला है—इस प्रकार साक्षी, अनुमन्ता और भर्त्ता है, इसके सिवाय और कुछ नही। परतु गीतोक्त पुरुष प्रकृतिका प्रभु भी है, वह ईश्वर है। जहा बुद्धिकी क्रिया प्रकृतिकी है, वहा इस बुद्धिकी उत्पत्ति सचेतन पुरुषसे होती है और वहीसे इसको शक्ति मिलती है, वही तो प्रकृतिका प्रभु है। जहा सकल्पशक्तिकी बुद्धिके कार्य प्रकृतिके है, वहा इस बुद्धिकी धारा और प्रकाशको पुरुष ही सक्रिय रूपसे देता है, वह केवल साक्षी ही नही है, बल्कि ज्ञाता और ईश्वर है, ज्ञान और सकल्पका स्वामी है। प्रकृतिकी कर्ममे प्रवृत्तिका वही परम कारण है। साख्योकी विश्लेषणात्मक विवेचन-पद्धतिमे पुरुष और प्रकृति, विश्वके दो कारण है, और इस समन्वयात्मक साख्यमे पुरुष अपनी प्रकृतिके द्वारा, विश्वका एकमात्र कारण है। अब हम लोग देख सकते है कि साख्य-परपराकी जकडी हुई कट्टर-पथी विश्लेषण-प्रणालीसे हम लोग कितनी दूर निकल आये।

परतु गीता आरभमे जिस एक अद्वितीय पुरुषकी बात कह रही है जो अक्षर, अचल और नित्य मुक्त है, उसकी क्या कैफियत है? वह अव्यय, अविकार्य, अज, अव्यक्त ब्रह्म है, फिर भी उसीके द्वारा यह सारा विश्व प्रसारित है। इसलिये ऐसा मालूम होगा कि ईश्वरतत्त्व उसकी सत्तामे है, एक ओर यदि वह अचल है तो दूसरी ओर समस्त कर्मो और गतियोका कारण और प्रभु भी है। पर कैसे? और विश्वमे जो ये अनेक सचेतन प्राणी है इनका यह अनेक-त्व क्या बात है? ये तो ईश नही बल्कि अनीश ही प्रतीत होते है, क्योकि ये त्रिगुणके कर्म और अहकारजन्य भ्रमके वशीभूत है, और यदि ये सब एक ही आत्मा है, जैसा कि गीताका आशय मालूम होता है, तो यह प्रकृतिमे लीनता, वश्यता और भ्राति कहासे उत्पन्न हुई अथवा इसका सिवाय यह कहनेके कि पुरुष सर्वथा निष्क्रिय है दूसरा क्या समाधान है? और फिर पुरुषका यह बहुत्व कहासे आया?

अथवा यह क्या बात है कि जहा उस एक अद्वितीय पुरुषकी किसी एक शरीर और मनमे तो मुक्ति होती है वहा अन्य शरीरो और मनोमे वह बंधनके भ्रममे ही बना रहता है ? ये शकाए है जिनका समाधान करना ही होगा, इन्हे यों ही नही टाला जा सकता ।

गीताके बादके अध्यायोमे इन सब शकाओका, प्रकृति और पुरुष-के विश्लेषणद्वारा समाधान किया गया है। इस विश्लेषणमे कुछ ऐसे नवीन तत्त्वोका आविष्करण किया गया है जो साख्यपरपरा-के लिये तो परकीय है पर वैदातिक योगके लिये स्वकीय है। यहां तीन पुरुष या एक पुरुषके तीन पाद कहे गये है। उपनिषदोंमें सांख्य-सिद्धातोके विवरण-प्रसगमें कभी-कभी दो ही पुरुषोका वर्णन देख पडना है। एक मत्रमे यह वर्णन है कि एक अजा है जिस-के तीन वर्ण है, यह प्रकृतिके सनातन स्त्री-तत्त्वका वर्णन है जो अपने तीनो गुणोके साथ सतत सृष्टि-कर्म कर रही है, और दो अज है, दो पुरुष है जिनमेसे एक प्रकृतिसे लिपटा हुआ है और उसे भोगता है, दूसरा उसे त्याग देता है क्योकि वह उसके सब भोग भोग चुका है। दूसरे मत्रमे यह वर्णन है कि एक वृक्षपर दो पक्षी है, दोनो एक-दूसरेके सदासे सयुज सखा है, एक उस वृक्षके फल खाता है (अर्थात् प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृतिके विश्वप्रपचको भोगता है), दूसरा नही खाता, पर अपने सखाको देखता रहता है—यह निश्चल और नीरव साक्षी पुरुष है जो भोगसे निवृत्त है; जब पहला दूसरेको देखता और यह जानता है कि सारी महिमा उसीकी है तब वह दु.खसे मुक्त होता है। दोनो मंत्रोमे विभिन्न दृष्टिसे वर्णन किया गया है, पर आशय दोनोका एक है। उन दो पक्षियों-मेंसे एक सदा निश्चल नीरव मुक्त पुरुष है जिसके द्वारा यह विश्व प्रसारित है और जो अपने द्वारा प्रसारित इस विश्वको देखता है, पर इससे निर्लिप्त रहता है; दूसरा प्रकृतिस्थ पुरुष है। प्रथम मंत्र यह बतलाता है कि दोनों पुरुष एक ही है, उसी एक चिद्रूप पुरुषकी बद्ध और मुक्त इन दो अवस्थाओंको प्रतिभासित करते

है; क्योकि जो दूसरा अज है वह प्रकृतिमे उतरकर उसके भोगों-को भोगकर उससे निवृत्त हुआ है। दूसरा मत्र यह बात बतलाता है, जो हमको पहले मत्रसे नही मिलती, कि पुरुष अपनी एकत्वकी परमावस्थामे सदा ही मुक्त, अकर्त्ता और अनासक्त है और केवल अपनी निम्नसत्तामे स्थित होकर प्रकृतिद्वारा सृष्ट प्राणियोके बहुत्वमे उतर आता है और फिर व्यक्तिगत प्राणीके द्वारा वापस लौटकर प्रकृतिसे निवृत्त हो जाता और अपनी उच्चतर अवस्थामें आ जाता है। एक ही सचेतन आत्माकी द्विविध अवस्थाका यह सिद्धात एक रास्ता तो खोल देता है, पर एकके अनेक होनेकी प्रक्रिया अब भी उलझी हुई है।

इन दो पुरुषोमे, गीता उपनिषदोके* अन्य वचनोका आशय विशद करती हुई, एक और पुरुष मिलाती है, यह वह पुरुष है जो परसे भी पर अर्थात् पुरुषोत्तम है, जिसकी महिमा यह सारी सृष्टि है। इस प्रकार तीन पुरुष हुए, क्षर, अक्षर और उत्तम। क्षर क्षरणशील विकार्य प्रकृति है, स्वभाव है; यह है जीवकी बहुविध सभूति, यहापर जो पुरुष है वह भागवत सत्ताकी बहुत्वावस्था है, यही बहुपुरुष है, यह पुरुष प्रकृतिसे स्वतत्र नही है, बल्कि यह 'प्रकृतिस्थ पुरुष' है। अक्षर, कूटस्थ, अविकार्य पुरुष, निश्चल-नीरव और निष्क्रिय आत्मा है, यह भागवत सत्ताकी एकत्वावस्था है, यहा पुरुष प्रकृतिका साक्षी है, पर प्रकृतिके कार्योमे लीन नही; यह प्रकृति और उसके कर्मोसे मुक्त, अकर्ता पुरुष है। उत्तम पुरुष परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा है, जिसमे अक्षरका एकत्व और क्षरका बहुत्व, दोनों ही अवस्थाएं सन्निविष्ट है। वह अपनी प्रकृति-की विशाल गतिशीलता और कर्मके द्वारा, अपनी कर्त्री शक्ति, अपने सकल्प और सामर्थ्यके द्वारा जगत्मे अपने-आपको व्यक्त करता

*'पुरुषः... ...अक्षरात्... . .परतः परः' यद्यपि अक्षर पुरुष परम है पर उससे भी परे एक परम पुरुष है, उपनिषद् ऐसा कहते है।

है और अपनी महत्तर निस्तब्धता और अचलताके द्वारा उससे अलग रहता है; फिर भी वह अपने पुरुषोत्तम रूपमे, प्रकृतिसे अलगाव और प्रकृतिसे आसक्ति इन दोनो अवस्थाओके ही परे है। पुरुषोत्तम-की यह भावना यद्यपि उपनिषदोमे सर्वत्र ही अभिप्रेत है तथापि इसको स्पष्ट और विनिश्चित रूपसे गीताने ही सामने रखा है और भारतीय धार्मिक चेतनाके पिछले सस्कारोपर इसका बहुत बडा प्रभाव पडा है। अद्वैतवादकी सूत्रबद्ध परिभाषाओका अतिक्रम कर जानेका दावा करनेवाला जो उच्चतम भक्तियोग है उसका आधार यही पुरुषोत्तम-भाव है और भक्तिप्रधान पुराणोके पीछे भी यही भाव है।

गीता साख्यशास्त्रके प्रकृतिविश्लेषणकी चौखटके अदर भी बधी नही रहती, क्योकि इस विश्लेषणके अनुसार प्रकृतिमे केवल अहकारको स्थान मिलता है, बहुपुरुषको नही—वहा पुरुष प्रकृतिका कोई अश नही, बल्कि प्रकृतिसे पृथक् है। इसके विपरीत गीताका सिद्धात यह है कि परमेश्वर ही अपने स्वभावसे जीव बनता है। यह कैसे सभव है जब कि विश्वप्रकृतिके चौबीस तत्त्व है, चौबीस छोडकर कोई पच्चीसवा तत्त्व नही ? गीताके भगवान् गुरु कहते है कि हा, त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके बाह्य कर्मका यही सही विवरण है और इस विवरणमे पुरुष और प्रकृतिका जैसा सबध बताया गया है वह भी बिलकुल सही है और प्रवृत्ति तथा निवृत्तिके साधनमे इस-का बहुत बडा व्यावहारिक उपयोग भी है, परतु यह त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति है जो जड़ और बाह्य है, इसके परे एक परा प्रकृति है जो चित्स्वरूपा और भागवत भावरूपा है और यही परा प्रकृति जीव बनी है। अपरा प्रकृतिमे प्रत्येक जीव अहंकारके रूपमे भासित होता है, परा प्रकृतिमे प्रत्येक जीव व्यष्टिपुरुष है। अर्थात् बहुत्व उस एकका ही आध्यात्मिक स्वभाव है। यह व्यष्टि-पुरुष, भगवान् कहते है कि, स्वय मै हू, इस सृष्टिमे यह मेरा ही आशिक प्राकट्य है, यह मेरा ही अंश है, "ममैवांशः", और इसमे मेरी सब

शक्तियां मौजूद है, यह साक्षी है, अनुमता है, भर्ता है, ज्ञाता है, ईश्वर है। यह अपरा प्रकृतिमे उतर आता है और यह ममझता है कि मै कर्मसे बधा हू, इसलिये कि निम्न सत्ताको भोग मके, यह इससे निवृत्त होकर यह जान सकता है कि मै कर्मके बधनमे मर्वथा विनिर्मुक्त अकर्त्ता पुरुष हू। यह त्रिगुणसे ऊपर उठकर और कर्मबधनसे मुक्त होकर भी कर्म कर मकता है जैसे भगवान् कहते है कि मै करता हू, और पुरुषोत्तमकी भक्ति पाकर और उनसे युक्त होकर उनकी दिव्य प्रकृतिका पूर्ण आनद ले सकता है।

गीताका विश्लेषण ऐसा है जो बाह्य मृष्टिक्रममे ही बद्ध न हो-कर परा प्रकृतिके 'उत्तम रहस्य' तकमे प्रविष्ट है। उमी उत्तम रहस्यके आधारपर गीता वेदात, साख्य और योगका ममन्वय, ज्ञान, कर्म और भक्तिका ममन्वय प्रतिष्ठित करती है। केवल साख्यशास्त्रके द्वारा कर्म और भक्तिका समन्वय परस्पर विरोधी होनेसे असभावित है। केवल अद्वैत सिद्धातके आधारपर योगके अगरूपसे कर्मोंका सदा आचरण और पूर्ण ज्ञान, मुक्ति और मायुज्य-के बाद भी भक्तिमे रमण असभव है या कम-से-कम युक्तिविरुद्ध और निष्प्रयोजन है। गीताका साख्यज्ञान इन सब बाधाओंको दूर करता है और गीताका योगशास्त्र उन सबपर विजय लाभ करता है।

सांख्य योग और वेदांत

गीताके प्रथम छः अध्यायोंका संपूर्ण लक्ष्य साख्य और योग, इन दो मार्गोंको, जिन्हे सामान्यतः एक दूसरेसे विभिन्न और विरोधी समझा जाता है, वैदांतिक सत्यके विशाल आयतनके अदर परस्पर समन्वित करके बैठाना है। सांख्यसे ही आरंभ किया गया है सांख्यको ही आधार बनाकर; पर आरंभसे ही उसमे, उत्तरोत्तर अधिक दृढताके साथ, योगकी भावनाए और पद्धतिया भरी गयी है और सांख्यको योगके ही भावमें एक नये रूपमे ढाला गया है। सांख्य और योगमें परस्पर जो प्रकृत भेद उस जमानेके लोगोकी धर्मबुद्धिमें प्रतीत होता था वह प्रथमत. यह था कि साख्यका साधन ज्ञान और बुद्धियोगद्वारा होता है और योगका साधन कर्मके द्वारा तथा सक्रिय चेतनाके रूपांतरके द्वारा। दूसरा भेद–जो प्रथम भेदसे आप ही निष्पन्न होता है–यह था कि, साख्य पूर्ण निष्क्रियता और संन्यासकी ओर ले जानेवाला माना जाता था और योगमे कामनाका आतरिक त्याग, आतरिक तत्त्वोका पवित्रीकरण–जिस-से कि कर्म करना, कर्मोंको भगवत्-निमित्त कर देना, उन्हे देवजीवन और मुक्तिकी ओर घुमा देना बनता है–पर्याप्त माना जाता था। फिर भी दोनोंका उद्देश्य एक ही था अर्थात् जन्म और इस पार्थिव जीवनके परे चले जाना और मानव आत्माका परमात्माके साथ एक हो जाना। सांख्य और योगके बीच, गीता जो भेद बताती है वह यही है।

इन दो परस्पर-विरोधी सिद्धांतोका समन्वय भी सम्भव है, यह समझना अर्जुनके लिये जो बहुत कठिन हुआ, इसीसे यह सूचित

होता है कि उस जमानेके लोग इन दो पद्धतियोको साधारणतया कितनी विभिन्न मानते थे। भगवान् कर्म और बुद्धियोगका मिलाप कराते हुए अपना कथन आरभ करते है। भगवान् कहते है, निरे कर्मकी अपेक्षा बुद्धियोग बहुत अधिक श्रेष्ठ है; बुद्धियोगके द्वारा, ज्ञानके द्वारा ही तो मनुष्य जब अपनी असस्कृत प्राकृत मन-बुद्धि और उसकी कामनाओसे ऊपर उठकर सर्वकामरहित ब्राह्मी स्थिति-की पवित्रता और समताको प्राप्त होता है तभी वह उन कर्मोको कर सकता है जो भगवदर्पित हो सकते है। फिर भी कर्म मुक्तिके साधन है, किंतु वे ही कर्म जो इस प्रकार ज्ञानाग्निसे विशुद्ध हुए हो। तत्कालीन सस्कृतिके विचारोसे भरपूर भावनाओपर, अर्थात् इन्द्रियोपर विजय प्राप्त करना, मनसे अलग होकर आत्मामे निवास करना, ब्राह्मी स्थितिमे आरोहण करना, अपने निम्न व्यक्तित्व-को नैर्व्यक्तित्वके निर्वाणमे लय कर देना आदि वैदातिक साख्यकी अपनी भावनाओपर,—यह याद रहे कि योगकी अपनी भावनाए तो अभीतक दबाकर रखी हुई है और अभी उनपर विशेष कुछ कहा ही नही गया है—भगवान् गुरुने जो बहुत अधिक जोर दिया, उन्हें नही समझनेके कारण अर्जुन घबरा गया। उसने पूछा कि, "यदि आपका यह मत है कि कर्मकी अपेक्षा बुद्धियोग ही श्रेष्ठ है तो मुझे इस घोर कर्ममे क्यो नियुक्त करते है? आप अपनी व्यामिश्र बातों-से मेरी बुद्धिको मोहित किये डालते है; निश्चित रूपसे एक बात कहिये जिससे मै श्रेयको प्राप्त कर सकू।"

इसके उत्तर मे भगवान् यह बतलाते है कि साख्य ज्ञान और सन्यासका मार्ग है और योग कर्मका, परतु योगके बिना अर्थात् जब-तक समत्वबुद्धिसे, फलेच्छारहित होकर, इस बातको जानते हुए कि कर्म प्रकृतिके द्वारा होता है आत्माके द्वारा नही, यज्ञार्थ कर्म नहीं किया जाता तबतक सच्चे सन्यासका होना असभव है, पर यह कह-कर फिर तुरत ही भगवान् यह भी कहते है कि ज्ञानयज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है, सब कर्म ज्ञानमे ही परिसमाप्त होते है, ज्ञानकी अग्नि-

से सब कर्म दग्ध हो जाते है; इसलिये जो पुरुष अपने आत्माको पा लेता है उसके कर्म योगके द्वारा संन्यस्त होते है और उसे कर्मका बंधन नही होता। अर्जुनकी बुद्धि फिर चकरा जाती है; क्योकि निष्काम कर्म तो हुआ योगका सिद्धात, और कर्मसंन्यास हुआ साख्य-का सिद्धात, और दोनो ही सिद्धात उसे एक साथ बताये जा रहे है मानो ये दोनो एक ही प्रक्रियाके दो भाग हो, पर इन दोनोमे कोई मेल तो दीखता ही नही। कारण जिस तरहका मेल पहले भग-वान् गुरु बता चुके—अर्थात् बाह्य अकर्मंमे कर्मको होते हुए देखना और बाह्य कर्ममें यथार्थ अकर्मको देखना क्योकि पुरुष अपने कर्ता होनेका भ्रम त्याग चुका है और अपने कर्म यज्ञके स्वामीके हाथोंमे सौंप चुका है—वह मेल अर्जुनकी व्यावहारिक बुद्धिके लिये इतना बारीक, इतना सूक्ष्म है और यह ऐसी पहेलीदार भाषामें प्रकट किया गया है कि अर्जुन इसके आशयको नही ग्रहण कर सका या कम-से-कम इसके मर्म और इसकी वास्तविकतातक नही पहुच सका। इसलिये वह फिर पूछता है कि, "हे कृष्ण, आप मुझे कर्म-का संन्यास बता रहे है और फिर यह कहते है कि योग कर, तो इन-मेंसे कौनसा मार्ग उत्तम है यह मुझे स्पष्ट रूपसे निश्चित करके बताइये।"

भगवान् इसका जो उत्तर देते है वह महत्त्वपूर्ण है, क्योकि उससे योग और सांख्यमें जो भेद है वह एकदम स्पष्ट हो जाता है और इनके समन्वयका भी एक सकेत मिल जाता है, यद्यपि उसमे इनके समन्वयसंबंधी पूर्ण विचारधारा अभी नही बतायी गयी है। वह उत्तर यह है, "संन्यास और योग दोनो ही जीवको मुक्त करने-वाले हैं, पर इन दोनोंमे कर्मयोग संन्यासकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसी-को नित्य संन्यासी जानना चाहिये जो (कर्म करता हुआ भी) न द्वेष करता है न आकाक्षा ही; क्योंकि निर्द्वंद्व होनेसे वह अनायास और सुखपूर्वक बंधनसे मुक्त होता है। साख्य और योगको बच्चे ही क दूसरेसे पृथक् बतलाया करते है, ज्ञानी नहीं; यदि कोई मनुष्य

संपूर्ण रूपसे किसी एकमे ही लगे तो वह दोनोंका फल पाता है," क्योकि अपनी सपूर्णतामे ये दोनो ही एक दूसरेको धारण किये हुए है। "साख्यद्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है वहा ही योगी भी पहुचते है, साख्य और योग दोनोको जो एक देखता है, वही देखता है। पर योगके बिना सन्यास कठिन है, जो मुनि योग करता है वह शीघ्र ब्रह्मको प्राप्त होता है, उसका आत्मा सारी सृष्टिका आत्मा हो जाता है (सर्वभूतात्म भूतात्मा), और कर्म करते हुए भी वह उनमे लिप्त नही होता।" वह यह जानता है कि कर्म उसके नही है, बल्कि प्रकृतिके है और इसी ज्ञानद्वारा वह मुक्त है, वह कर्मसन्यास कर चुका, वह कोई कर्म नही करता, यद्यपि उसके द्वारा कर्म होते है, वह आत्मा हो जाता है, 'ब्रह्मभूत' हो जाता है, वह देखता है कि इस सृष्टिके समस्त प्राणी उसी एक स्वत स्थित सत्ताके व्यक्त रूप (भूतानि) है और वह स्वय अनेक व्यक्त रूपोमेसे एक है, वह देखता है कि इनके समस्त कर्म केवल विश्व-प्रकृतिका विकासमात्र है जो उनके व्यष्टिगत स्वभावके अन्दरसे कार्य कर रही है और वह यह देखता है कि उसके अपने कर्म भी इसी विश्व-क्रियाका ही एक अशमात्र है। गीताकी सपूर्ण शिक्षा यही नही है, क्योकि यहातक केवल अविकार्य आत्मा या पुरुष, अर्थात् अक्षर ब्रह्मका और उस प्रकृतिका ही वर्णन है जो विश्वसर्जनका कारण है, अभीतक ईश्वरकी, पुरुषोत्तमकी बात साफ तौरपर नही कही गयी है, यहातक कर्म और ज्ञानका ही समन्वय साधित हुआ है, किंतु अभीतक, कुछ संकेतमात्र किये जानेपर भी, भक्तिका वह परम तत्त्व नही विवृत किया गया है जो आगे चलकर इतने महत्त्वका स्थान अधिकार करता है; यहातक केवल एक अकर्त्ता पुरुष और अपरा प्रकृतिकी ही बात कही गयी है, अभीतक त्रिविध पुरुष और द्विविध प्रकृतिका स्पष्टीकरण नही किया गया है। ईश्वरकी बात आयी तो जरूर है, पर ईश्वरका आत्मा और प्रकृतिके साथ क्या सबध है वह निश्चित रूपसे निर्दिष्ट नही हुआ है। प्रथम छ· अध्यायोमें

जो समन्वय साधित हुआ ह वह उतना ही है जितना कि आगे बताये गये अति महत्त्वपूर्ण सत्योकी व्याख्याके बिना हो सकता है और ये सत्य जब विवृत होंगे तब यह पूर्वसाधित समन्वय उड़ तो नही जायगा पर बहुत कुछ विस्तृत और परिवर्तित होगा।

श्रीकृष्ण कहते है कि पुरुषकी निष्ठा दो प्रकारकी होती है जिससे वह ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होता है; "साख्योकी ज्ञानयोगके द्वारा और योगियोंकी कर्मयोगके द्वारा।" साख्यका ज्ञानयोगसे और योगका कर्ममार्गसे जो यह तादात्म्य बताया गया वह ध्यान देने योग्य है, क्योकि इससे यह पता चलता है कि आज जो विचारधारा प्रचलित है वह उस कालकी विचारधारासे सर्वथा भिन्न है, इसका कारण यह है कि गीताकी रचनाके बाद भारतीय वैदातिक विचारधारामे एक महान् विकास हुआ और इस कारण दूसरे-दूसरे जो वैदिक दर्शन थे वे पीछे पड गये और उनकी गिनती अब मोक्षमार्गके व्यावहारिक साधनोमे नही रह गयी। गीताकी भाषाको मान देनेके लिय हमे यह मानना पडेगा कि उस कालमे जो लोग ज्ञानमार्गका अनुसरण करते थे वे आम तौरपर साख्य-पद्धति* को ही अपनाते थे। पीछे जब बौद्धधर्मका प्रचार हुआ तब साख्योका ज्ञानमार्ग बौद्धसिद्धातोंसे बहुत कुछ आच्छन्न हो गया होगा। साख्योके समान ही अनीश्वरवादी और अद्वैत-विरोधी बौद्धमतमें भी विश्वप्रकृतिके कार्योकी अनित्यतापर बहुत जोर दिया गया है। बौद्ध-सिद्धात विश्वप्रकृतिको प्रकृति न कहकर कर्म कहता है, क्योकि बौद्धोने न तो वेदात-प्रतिपाद्य ब्रह्मको ही स्वीकार किया न साख्योके अकर्त्ता पुरुषको, और इसलिये विवेक-बुद्धिके द्वारा कर्मकी इस अनित्यताको जान लेना ही उनके

---

*पुराणों और तंत्रोंमे सांख्योके विचार भरे पड़े है, अवश्य ही उनपर वेदातके विचारका छत्र है और उनके साथ अन्य विचार भी मिले हुए है।

यहां मोक्षका साधन था। जब बौद्धधर्मके विरुद्ध प्रतिक्रिया उठी तब वह पुराने सांख्य-सस्कार लेकर नही उठी बल्कि उसने आचार्य शंकरद्वारा प्रतिपादित वेदातका रूप धारण किया। आचार्य शंकरने बौद्धोकी अनित्यताके स्थानमे उसी कोटिके वदातिक मायावादकी स्थापना की, और बौद्धोके असत्, अनिर्वचनीय निर्वाण और, अभावात्मक केवलके स्थानमे तद्विरुद्ध पर तज्जातीय ही उस अवर्णनीय सत्, ब्रह्म, उस अनिर्वचनीय भावात्मक केवलकी स्थापना की जिसमे नामरूप और कर्मका सर्वथा अभाव होता है, क्योंकि उसमे ये नामरूप कभी थे ही नही, उनके मतसे ये मात्र मन-बुद्धिके भ्रम है। आज जब ज्ञानमार्गका नाम लिया जाता है तब हमारे ध्यानमें जो बात साधारणतया आती है वह है आचार्य शकरकी वह पद्धति जो उनके दर्शनकी इन्ही धारणाओपर अवलबित है, अर्थात् जीवनका त्याग करना होगा क्योकि यह माया है, भ्रम है। परतु गीताके कालमे 'माया' शब्द वेदात-दर्शनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शब्द नही बना था, न इस शब्दका इतने स्पष्ट रूपसे वह अर्थ ही किया गया था जो अर्थ इस शब्दका आचार्य शंकरने इतनी साफ और जोरदार भाषामे किया; कारण गीतामे मायाकी चर्चा बहुत ही कम है, उसमे अधिकतर प्रकृतिकी ही चर्चा है, और माया शब्दका जहा प्रयोग हुआ है वहा प्रकृतिके ही अर्थमे, सो भी प्रकृतिकी निम्न कक्षा सूचित करनेके लिये हुआ है; माया कहा गया ह त्रिगुणात्मिका, अपरा प्रकृतिको—"त्रैगुण्यमयी माया"। गीतामें विश्वका निमित्त कारण प्रकृति है, भरमानेवाली माया नही।

तथापि अध्यात्मशास्त्रके सिद्धातोका परस्पर जो कुछ भी निश्चित तारतम्य हो. गीतामे विवृत साख्य और योगका जो प्रकृत भेद है वह वही है जो आजकल वेदांतके ज्ञानयोग और कर्मयोगमें माना जाता है, और इन दोनोके फलोंमें जो विभिन्नता है वह भी वैसी ही है। साख्यने वेदांतके ज्ञानमार्गकी ही तरह बुद्धिसे आरभ किया

और विचारद्वारा उसने पुरुषके सच्चे स्वभावका विवेक किया और यह बताया कि पुरुषकी आसक्ति और उसके तादात्म्यके द्वारा प्रकृति अपने कर्मोको उसपर आरोपित करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि वेदांतिक पद्धति इसी बुद्धिके साधनद्वारा आत्माके सच्चे स्वभावतक पहुंची और उसने यह बताया कि आत्मापर जो यह जगत्का आभास पडता है वह मनके भ्रमके कारण है और इसीसे यह अहंभावयुत तादात्म्य और आसक्ति पैदा होती है। वेदांतिक पद्धतिके अनुसार आत्मा जब अपने नित्य सनातन ब्रह्म-स्वरूपमें लौट आता है तब उसके लिये मायाकी सत्ता नही रहती और विश्वक्रिया तिरोहित हो जाती है; सांख्य-प्रणालीके अनुसार जीव जब अपनी सत्य सनातन निष्क्रिय पुरुष अवस्थामें लौट आता है तब गुणोका कर्म बद हो जाता है और विश्व-क्रिया समाप्त हो जाती है। मायावादियोका ब्रह्म शात, अक्षर और अकर्त्ता है, साख्योका पुरुष भी ऐसा ही है, इसलिये दोनोके लिये ही जीवन और कर्मोका सन्यास ही मोक्षका आवश्यक साधन है। परतु गीता-के योगमे वेदांतिक कर्मयोगके समान ही, कर्म केवल आधारको तैयार करनेका साधन ही नही है, बल्कि यह मोक्षका स्वत सिद्ध साधन माना गया है; और इसी सिद्धातकी सत्यताको गीता बराबर बडे जोरदार आग्रहके साथ हृदयमे जमा देना चाहती है, दुर्भाग्यवश यह आग्रह बौद्धमत* की जो प्रचड लहर आयी उसके सामने न

---

*पर साथ ही बौद्धोंके महायान संप्रदायपर गीताका बहुत बड़ा प्रभाव देख पड़ता है और बौद्धोके धर्मशास्त्रोमे गीताके कुछ श्लोक अक्षरशः उद्धृत हुए पाये जाते है। इससे यह मालूम होता है कि बौद्धमत जो पहले नैष्कर्म्यप्रवण और संबुद्ध यतियोका ही मार्ग था, पीछे बहुत कुछ गीताके प्रभावसे ही ध्यानपरायण भक्तिका और करुणात्मक कर्मका धर्म बन गया और समग्र एशिया महाद्वीपकी संस्कृतिपर उसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

ठहर सका, और पीछे सन्यास-संप्रदायके मायावादकी अतिशयता-मे तथा ससारत्यागी सतो और भक्तोकी तीव्रतामे, इसका लोप हो गया और केवल अब भारतवासियोकी बुद्धिपर इसका वास्तविक और हितकर प्रभाव फिरसे पड़ने लगा है। सन्यास तो अपरिहार्य रूपसे आवश्यक है, पर सच्चा सन्यास कामना और अहकारका आतरिक त्याग है, इस आतरिक त्यागके बिना कर्मोका जो बाह्य भौतिक त्याग है वह मिथ्या और व्यर्थ है। आतरिक त्याग हो तो बाह्य त्यागकी आवश्यकता भी जाती रहती है, यद्यपि उसकी कोई मनाही भी नही है। ज्ञान मुख्य है, मुक्तिके लिये इससे बडी और कोई शक्ति नही है, पर ज्ञानसहित कर्मकी भी आवश्यकता है, ज्ञान और कर्मके एकत्वसे जीव पूर्णतया ब्राह्मी स्थितिमे रहता है, केवल विश्राम-मे और निष्क्रिय शातिकी अवस्थामे ही नही, बल्कि कर्मके भीषण घात-प्रतिघातमे भी। भक्तिकी महिमा बडी है, पर भक्तिसहित कर्मका माहात्म्य भी कम नही, ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनोके सयोगसे जीव ईश्वरके परम पदको प्राप्त होता और वहा उन पुरुषोत्तममे निवास करता है जो शाश्वत आध्यात्मिक शाति और शाश्वत विश्व-कर्मण्यता दोनोके एक साथ स्वामी है। यही गीताका समन्वय है।

परतु साख्यवालोके ज्ञानमार्गमे और योगके कर्ममार्गमे जो भेद है उसके अतिरिक्त स्वय वेदातमे भी वैसा ही एक दूसरा विरोध था, और गीताको उसका भी विचार करना पडा जिससे कि आर्य आध्यात्मिक सस्कृतिकी इस विशाल नवीन व्याख्यामे उनकी त्रुटियोको दूरकर उनका मेल मिला दिया जाय। यह भेद था कर्मकांड और ज्ञानकाडके बीच, उस मूल विचारके बीच जिसका पर्यवसान वेद-वाद या पूर्वमीमांसा दर्शनमे और ब्रह्मवाद या उत्तर मीमांसा* दर्शन-

*मोक्ष-संबंधी जैमनीय सिद्धांत यह है कि वह शाश्वत ब्रह्मलोक ही मोक्ष है जिसमे ब्रह्मको जाननेवाले जीवको दिव्य देह और दिव्य

मे हुआ । यह भेद उन दो संप्रदायोके बीच था जिनमेंका एक तो वैदिक मत्रों और वैदिक यज्ञोकी परंपरामे ही वास करता था और दूसरा इनको नीचे दरजेका ज्ञान बताकर इनकी उपेक्षा करता था और उपनिषदोसे नि:सृत उत्कृष्ट आध्यात्मिक ज्ञानपर जोर देता था। वेदवादियोकी कर्मप्रधान बुद्धिमे ऋषियोका आर्य-धर्म यही था कि वैदिक यज्ञोको विधिपूर्वक संपन्न करके तथा पवित्र वैदिक मत्रोका विशुद्ध प्रयोग करके इस लोकमे संपत्ति, सतति, विजय, हर प्रकारके सौभाग्य आदि मनुष्यकी काम्य वस्तुओको प्राप्त किया जाय और परलोकमे अमरत्वका आनन्द लाभ किया जाय। ब्रह्मवादियोके आदर्शके हिसाबसे यह केवल प्राथमिक साधनभर था, उनके अनुसार मनुष्यका सच्चा पुरुषार्थ तो ब्रह्मके ज्ञानकी ओर मुडनेसे आरभ होता है और ब्रह्मके ज्ञानसे ही उसे उस अकथ-नीय आध्यात्मिक आनन्दका सच्चा अमरत्वपद प्राप्त होगा जो इस जगत्के क्षुद्र सुखोंसे और किसी भी छोटे-मोटे परलोकसे बहुत ही दूर है। वेदका वास्तविक मूल और अभिप्राय जो कुछ भी रहा हो, पर यह भेद गीताके कालके बहुत पहलेसे स्थापित हो चुका था और इसलिये गीताको इसकी मीमासा करनी पड़ी।

कर्म और ज्ञानका समन्वय करते हुए भगवान्‌ने जो पहला शब्द कहा उसमे उन्होंने वेदवादकी जोरदार, प्राय: भयानक शब्दोंमे निदा और भर्त्सना की है। उन्होने कहा कि "यह पुष्पिता वाणी कहा करते है वे लोग जिनकी बुद्धि ठिकाने नही, जो वेदवाद-में ही रत है, जिनका यह मत है कि इसके सिवाय और कुछ है ही नहीं, जो कामात्मा है, स्वर्गके अभिलाषी है, यह (वाणी) जन्म-कर्मके फल देनेवाली, विविधविधिसंकुल कर्मोंका विधान करनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्यकी ओर ले जानेवाली है।" गीता स्वयं

भोग प्राप्त होते है। गीताके मतमें ब्रह्मलोक मोक्ष नही है; मोक्ष-के लिये जीवको इसके भी परे विश्वातीत पद लाभ करना होता है।

वेदपर आक्रमण-सा करती हुई मालूम होती है, जिसका यद्यपि भारतीय समाजके व्यवहारमे इस समय लोप ही हो गया है, तो भी भारतीय समाजकी भावनामे वेद अब भी समस्त भारतीय दर्शन-शास्त्रो और धर्मोका अतीद्रिय, अनुल्लघनीय, अत्यत पवित्र और स्वत सिद्ध प्रमाण और मूल है। गीता कहती है कि, "त्रिगुणात्मक कर्म ही वेदोका विषय है, पर हे अर्जुन, तू इस त्रिगुणसे मुक्त हो जा।" सब वेद उस मनुष्यके लिये निष्प्रयोजन बताये गये है जो ज्ञानी है। यहां वेदोमे (सर्वेषु वेदेषु) उपनिषदोका भी समावेश माना जा सकता है और शायद है भी, क्योकि आगे चलकर वेद और उपनिषद्, दोनोके वाचक सामान्य 'श्रुति' शब्दका ही प्रयोग हुआ है। "चारो ओर जहा जल ही जल हो वहा किसी कुएका जितना प्रयोजन हो सकता है उतना ही प्रयोजन समस्त वेदोका उस ब्राह्मणके लिये है जो ज्ञानी है।" यही नही, बल्कि शास्त्रवचन बाधक भी होते है, क्योकि शास्त्रके शब्द—शायद परस्पर विरोधी वचनो और उनके विविध और एक दूसरेके विरुद्ध अर्थोके कारण—बुद्धिको भरमानेवाले होते है, जो अंदरकी ज्योतिसे ही निश्चितमति और एकाग्र हो सकती है। भगवान् कहते है, "जब तेरी बुद्धि मोहके घिरावको पार कर जायगी तब तू अबतक सुने हुए और आगे सुने जानेवाले शास्त्रवचनोसे उदासीन हो जायगा, 'गन्तासि निर्वेद श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।' जब तेरी बुद्धि जो श्रुतिसे भरमायी हुई है (श्रुतिविप्रतिपन्ना), समाधिमे निश्चल और स्थिर होगी, तब तू योगको प्राप्त होगा।" यह सब परपरागत धार्मिक भावनाओके लिये इतना अप्रिय है कि अपनी सुविधा देखनेवाले और अवसरसे लाभ उठानेवाले मानव कौशलने गीताके कुछ श्लोकोके अर्थको तोड़-मरोड़कर उनका जो कुछ और ही अर्थ करनेकी चेष्टा की वह स्वाभाविक ही थी, किंतु इन श्लोकोके अर्थ स्पष्ट हैं और अथसे इतिपर्यंत सुसंबद्ध है। शास्त्रवचनसबंधी यह भाव आगे चलकर एक और श्लोकमें मंडित और सुनिर्दिष्ट हुआ

है जहां यह कहा गया है कि ज्ञानीका ज्ञान शब्द ब्रह्मको अर्थात् वेद और उपनिषद्को पार कर जाता है, "शब्दब्रह्मातिवर्त्तते।"

अस्तु, इस विषयको हमे अच्छी तरह समझना होगा; क्योकि यह तो निश्चय ही है कि गीता जैसे समन्वयसाधक और उदार शास्त्रमे आर्य सस्कृतिके इन महत्त्वपूर्ण अंगोका विचार केवल इन्हे अस्वीकार करने या इनका खंडन करनकी दृष्टिसे नही किया गया है। गीताको कर्मके द्वारा मुक्तिका प्रतिपादन करनेवाले योग-मार्गके साथ ज्ञानके द्वारा मुक्तिका प्रतिपादन करनवाले साख्य-मार्गका समन्वय साधना है, ज्ञानको कर्ममे मिलाकर एक कर देना है। इसको साथ-ही-साथ पुरुष और प्रकृतिके सिद्धातको, जो साख्य और योगमे एक ही सरीखा है, प्रचलित वेदातके उस ब्रह्म-वादके साथ समन्वित करना है जिसमे उपनिषदोके पुरुष, देव, ईश्वर सब एक अक्षर ब्रह्मकी सर्वग्रासी भावनामे अतर्भूत होते है, और यह करके गीताको फिर ईश्वर, परमेश्वरसबधी योग-भावनाको उसपर पडे हुए ब्रह्मवादके आच्छादनसे बाहर निकालकर उसके असली स्वरूपमे दिखाना है, और यह काम करना है वैदातिक ब्रह्मवादको अस्वीकार करके नही, बल्कि उसको समन्वित करके। गीताको उसमे अपना वह जगमगाता हुआ विचार भी जोड़ना है जो उसके समन्वयसाधनकी पराकाष्ठा है अर्थात् पुरुषोत्तमका सिद्धात और पुरुषके त्रिविध होनेका सिद्धात जो उपनिषदोमें बीज-रूपसे तो है पर उसका कोई स्पष्ट, सुनिश्चित, निर्विवाद प्रमाण उपनिषदोके मत्रोमे अनायास नही मिल सकता, बल्कि यह सिद्धात पहली नजरमे तो श्रुतिके उस मंत्रके विरुद्ध प्रतीत होता है जिसमें पुरुष दो माने गये है। इसके अतिरिक्त, कर्म और ज्ञानका समन्वय साधते समय गीता-को केवल योग और सांख्यके विरोधका ही हिसाब नही लगाना है, बल्कि स्वय वेदांतके अंदर भी कर्म और ज्ञानमे जो विरोध है—जो सांख्य और योगके विरोध जैसा ही नही ह, क्योकि वेदातमें इन दो शब्दोंके फलितार्थ साख्यके फलितार्थसे अलग है और इसलिये

इसका विरोध भी साख्यके विरोधसे भिन्न है—उसका भी हिसाब लगाना है। इसलिये चलते-चलते यहापर ऐसा कहा जा सकता है कि, वेद और उपनिषदोके मत्र ही जिनके आधार है ऐसे इन नानाविध दार्शनिक सप्रदायोमे जब इतना विरोध है तब गीताका यह कहना कि श्रुति बुद्धिको घबरा और चकरा देती है, उसे कई दिशाओमे घुमा देती है (श्रुतिविप्रतिपन्ना), कोई आश्चर्यकी बात नही है। आज भी भारतके पडितो और दार्शनिकोके बीच इन प्राचीन वचनोके अर्थोके सबंधमे कितने बडे-बडे शास्त्रार्थ और झगड़े हो जाते है और कितने विभिन्न सिद्धात स्थापित किये जाते है। इनसे बुद्धिका आजिज आ जाना और उदासीन हो जाना (गन्तासि निर्वेद) ठीक ही है और ऐसी बुद्धिका नवीन और प्राचीन शास्त्र-वचनोको (श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च) सुननेसे इनकार करके स्वय ही गूढतर, आतर और प्रत्यक्ष अनुभवके सहारे सत्यका अन्वेषण करनेके लिये अपने अदर प्रवेश करना, ठीक ही है।

गीताके प्रथम छः अध्यायोमे कर्म और ज्ञानके समन्वयकी, साख्य योग और वेदातके समन्वयकी एक विशाल नीव डाली गयी है। पर आरभमे ही यह देखती है कि वेदातियोकी भाषामे कर्म शब्दका एक खास अर्थ है; वहा कर्मका अभिप्राय है वैदिक यज्ञो और अनुष्ठानोसे, अथवा अधिक-से-अधिक, इन श्रौत कर्मोके साथ-साथ उन गृह्यसूत्रोके अनुसार जीवनचर्यासे जिनमे ये आचार-अनुष्ठान ही जीवनके महत्त्वपूर्ण अग और धर्मके प्राण माने गये है। इन्ही धार्मिक कर्मोको, इन्ही याग-यज्ञोको जो बड़ी "विधि" से किये जाते है और जिनकी क्रियाए एकदम बंधी हुई और जटिल है, "क्रियाविशेषबहुला," वेदांती कर्म कहते है। पर योगमें कर्म-का बहुत व्यापक अर्थ है। इसी व्यापक अर्थपर गीताका आग्रह है; जब हम आध्यात्मिक कर्मकी बात कहते है तब हमारे ध्यान-में यह बात आ जानी चाहिये कि इस शब्दके अंदर सभी कर्मों "सर्वकर्माणि" का समावेश है। साथ ही गीता यज्ञकी भावना-

का. बौद्धमतकी तरह, निषेध भी नही करती, गीता उसे समुन्नत और व्यापक बनाती है। वस्तुतः गीताका कहना यह है कि यज्ञ केवल जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण अग ही नही है, बल्कि संपूर्ण जीवन और उसके समस्त कर्म यज्ञ ही होने चाहिये, अवश्य ही अज्ञानी लोग उच्चतर ज्ञानके बिना ही और महामूढ तो "अविधि-पूर्वक" भी, यज्ञ करते है। यज्ञके बिना जीवनकी स्थिति ही संभव नही है; प्रजापतिने प्रजाओका जो निर्माण किया, सो यज्ञके साथ निर्माण किया, यज्ञ उनका सनातन साथी है। पर वेद-वादियोके यज्ञ काममूलक है, वैषयिक भोगोंके लिये है; उनका यह काम कर्मोंके फलके लिये उत्सुक है, स्वर्गका विशाल भोग चाहता है, उसीको अमृतत्व और परम मुक्तिधाम जानता है। गीता अपनी साधनप्रणालीमें इसका समावेश नही कर सकती, क्योकि गीता आरंभसे ही यह कहती है कि वासनाका त्याग करो, इसे आत्माका शत्रु जानकर त्यागो और नष्ट करो। वैदिक याग-यज्ञोकी सार्थकताको भी गीता अस्वीकार नहीं करती; गीता उन्हें स्वीकार करती है और कहती है कि इन साधनोके द्वारा इस लोक-मे भोग और ऐश्वर्य और परलोकमें स्वर्गकी प्राप्ति होती है। भगवान् गुरु कहते है कि वह "मै" ही हू जो इन यज्ञोको ग्रहण करता है, जिसके प्रीत्यर्थ ये यज्ञ किये जाते है और जो देवताओके रूपमे इनके फल प्रदान करता है, क्योकि इसी भावसे लोग मेरे पास आना पसंद करते है। पर यह सच्चा पथ नही है, न स्वर्गका सुखभोग ही वह मोक्ष और पूर्णत्व है जिसे मनुष्यको प्राप्त करना है। वे अज्ञानी है जो देवताओंको भजते है, यह नही जानते हुए कि इन सब देव-रूपोंमें अज्ञात रूपसे वे किसको भजते है, क्योकि चाहे अज्ञानकी अवस्थामें ही क्यों न हो, पर वे भजते है उसी 'एक' को, उसी ईश्वरको, उसी एकमात्र देवको और यह वही है जो इनका हव्य ग्रहण करता है। इसी ईश्वरके प्रति यज्ञको, जीवनकी सारी शक्तियों और कर्मोंके उस सच्चे यज्ञको, भक्तिभावके साथ, निष्काम

होकर, उसीके लिये और लोककल्याणके लिये अर्पण करना होगा। चूंकि वेदवाद इस सत्यको ढाक देता है और अपने विधि-विधानोंकी गाठ लगाकर मनुष्यको त्रिगुणके कर्ममें बाध डालता है इसलिये वेदवादकी तीव्र भर्त्सना करनी पडी और उसे इतने रूखेपनके साथ एक किनारे रख देना पडा, पर उसकी केंद्रिक भावना नष्ट नही की गयी है, उसे रूपान्तरित और समुन्नत किया गया है, उसे सच्चे आध्यात्मिक अनुभवके और मोक्षसाधन-मार्गके एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अगमे परिणत कर दिया गया है।

ज्ञानके सबधमे वेदातका जो सिद्धात है उसमें ठीक ऐसी ही कठिनाइया उपस्थित नही होती। गीता इस सिद्धातको तुरत और पूरे तौरपर अपनाती है और पहलेके छ. अध्यायोमे सर्वत्र साख्योंके अचल, अक्षर किंतु बहु पुरुषके स्थानमे वेदातियोके अक्षर, एकमेवाद्वितीय, विश्वव्यापक ब्रह्मको धीरेसे लाकर बैठा देती है। इन अध्यायोमे सर्वत्र ही, निष्काम कर्मको ज्ञानका परमावश्यक अंग बतलाते हुए भी, ज्ञान और ब्रह्मानुभूतिको मोक्षका सर्वप्रधान और अनिवार्य साधन माना है। अक्षर नैर्व्यक्तिक ब्रह्मकी अनन्त समतामे अहकारका निर्वाण मोक्षसाधनके लिये आवश्यक है, इस सिद्धातको भी गीता उतना ही मान देती है; इस तरहसे अहकारका यह निर्वाण और साख्योके अकर्त्ता अक्षर पुरुषका प्रकृतिके कर्मोकी उपाधिसे निकलकर अपने स्वरूपमे लौट आना, इन दोनों बातोको गीता करीब-करीब एक कर देती है, गीताने वेदांत और साख्य, दोनोंकी भाषाओंको एकत्र करके मिला-जुलाकर एक कर दिया है, जैसा कि कतिपय उपनिषदोंमे* भी पहलेसे किया गया है। फिर भी वेदातियोके गृहीत सिद्धांतमें एक त्रुटि है जिसे दूर करना जरूरी है। शायद हम ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि बादके कालमे ईश्वर-भक्तिकी ओर जितना झुकाव हुआ वह

*विशेषकर श्वेताश्वतरोपनिषद्में।

इस समयतक वेदांतमें विकसित न हो पाया था, यह झुकाव उपनिषदोंमें तो एक तत्त्वके रूपमे पहलेसे ही पाया जाता है; लेकिन वहां भी यह उतना प्रधान नही है जितना कि बादके वैदांतिक वैष्णव दर्शनशास्त्रोमे पाया जाता है, जहा यह प्रवृत्ति केवल बहुत प्रधान रूपसे हो सो ही नही, बल्कि सर्वोपरि है। हम यह मान सकते है कि कट्टर वेदात—कम-से-कम अपनी प्रधान प्रवृत्तियोमे—तराईमे सवब्रह्मवादी था और शिखरपर अद्वैतवादी[१]। यह एकमेवाद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादक है, विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि देवताओंकी इसमे ब्रह्मके ही नामरूप होनेके नाते मान्यता है। परतु एकमेव परब्रह्मको ईश्वर, पुरुष, देवरूपसे माननेकी भावना इसमे अपने उच्च स्थानसे नीचे गिर गयी है[२]। ईश्वर, पुरुष, देव ये शब्द उपनिषदोंमे ब्रह्मके विशेषण रूपसे प्रायः प्रयुक्त हुए है और वहां उनका प्रयोग ठीक भी है, किंतु वहा इनका आशय साख्य और ईश्वरवादविषयक धारणाकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। विशुद्ध तार्किक ब्रह्मवादमें इन नामोका प्रयोग ब्रह्मभावके गौण या कनिष्ठ पहलुओके लिये ही हुआ है। गीता इन नामोकी तथा इनसे सूचित होनेवाले भावोकी मूलगत समताको ही पुन स्थापित करके चुप नही होती, बल्कि एक कदम और आगे बढना चाहती है। ब्रह्मका जो परम भाव है उसीको, उसके कनिष्ठ भावको नही, पुरुष-रूपमे और अपरा प्रकृतिको उसीकी मायाके रूपमे

[१]जगद्ब्रह्मवादियोंका मूल सूत्र यह है कि ब्रह्म और विश्व एक ही है, अद्वैतवादी उसमें यह जोड़ देते है कि केवल ब्रह्मका ही अस्तित्व है और यह विश्व केवल एक मिथ्या आभास है, या फिर एक वास्तविक पर आंशिक अभिव्यक्ति।

[२]यह कुछ संदेहजनक है, पर कम-से-कम यह तो कहा जा सकता है कि इस तरहकी एक प्रबल विचारधारा थी और उसीकी परिसमाप्ति आचार्य शंकरके सिद्धातम हुई है।

दिखाकर उसे वेदांत और साख्यका समन्वय साधना है और उसीको ईश्वर-रूपमे दिखाकर वेदात और साख्यका नि.शेष समन्वय सिद्ध करना है। यही नही, बल्कि गीता ईश्वर अर्थात् पुरुषोत्तमको अचल अक्षर ब्रह्मसे भी उत्तम दिखाने जा रही है और इस क्रममे नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममे अहकारके निर्वाणकी जो बात आरभमे आयी है वह पुरुषोत्तमके साथ एकता प्राप्त करनेके साधनका केवल एक महान् प्राथमिक और आवश्यक सोपानमात्र है। कारण पुरुषोत्तम ही परब्रह्म है। इसलिये गीता वेदो और उपनिषदोके सर्वोत्तम अधिकारी व्याख्याताओद्वारा उपदिष्ट शिक्षाका साहसके साथ अतिक्रमण करके इन ग्रथोके सबधमे स्वयं अपनी एक शिक्षाको, जिसको गीताने इन्ही ग्रंथोसे निकाला है, निश्चित रूपसे घोषित करती है, तब हो सकता है कि इन ग्रथोका वेदाती लोग साधारणतया जो अर्थ करते है उसकी चहारदीवारीके अदर गीताके इस अर्थको शायद न बैठाया जा सके *। वस्तुत शास्त्रीय वाक्योकी ऐसी एक स्वतत्र और समन्वयकारी व्याख्याके बिना तत्कालीन नानाविध सप्रदायोमे जो मतभेद था और वैदिक व्याख्याओकी जो तत्कालीन प्रचलित पद्धतिया थी, उन सबका एक विशाल समन्वय साधना असभव ही होता।

गीताके पिछले अध्यायोमे वेदो और उपनिषदोकी बड़ी प्रशंसा है। वहा यह कहा गया है कि वे ईश्वर-प्रणीत शास्त्र है, शब्दब्रह्म

---

*वस्तुतः पुरुषोत्तमका सिद्धात उपनिषदोमे आया हुआ है, अवश्य ही गीताकी तरह नही, बल्कि कुछ छितरे हुए ढगसे। पर गीताके समान ही उपनिषदोमे भी जहा-तहा ब्रह्म या परम पुरुषका इस प्रकार वर्णन आता है कि उसमे सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दोनोका समावेश है, वह 'निर्गुणो गुणी' है। ऐसी बात नही है कि इनमेसे वह एक चीज हो और दूसरी चीज न हो जो हमारी बुद्धिको उसके विपरीत प्रतीत होती है।

हैं। स्वयं भगवान् ही वेदोके जाननेवाले और वेदांतके प्रणेता है, "वेदविद् वेदांतकृत्।" सब वेदोके वे ही एकमात्र ज्ञातव्य विषय है, "सर्वैः वेदैः अहमेव वेद्यः," इस भाषाका फलितार्थ यह होता है कि वेद शब्दका अर्थ है ज्ञानका ग्रथ और इन ग्रथोंके नाम इनके उपयुक्त ही है। स्वयं पुरुषोत्तम ही अक्षर और क्षर पुरुषसे भी ऊपर उनकी जो परमावस्था है उसमेसे इस जगत्मे और वेदमे प्रसारित हुए है। फिर भी शास्त्रोके शब्द बधनकारक और भरमानेवाले है। ईसाई-धर्मके प्रचारकने अपने शिष्योसे जो यह कहा कि शब्द मारते है और भाव तारते है, वह ठीक ही कहा। शास्त्रोकी भी एक हद है और इस हदको पार कर जानेके बाद उनकी कोई उपयोगिता नहीं रहती। ज्ञानका वास्तविक मूल है हृदयमे विराजमान ईश्वर, गीता कहती है कि "मै (ईश्वर) प्रत्येक मनुष्यके हृदयमे स्थित हू और मुझसे ही ज्ञान निःसृत होता है।" शास्त्र उस आतर वेदके, उस स्वयप्रकाश सद्वस्तुके केवल वाङमय रूप है, ये शब्द-ब्रह्म है। वेद कहते है, मत्र हृदयसे निकला है, उस गुह्य स्थानसे जो सत्यका धाम है, 'सदनात् ऋतस्य गुहाया'। वेदोका यह मूल ही उनका प्रामाण्य है; पर फिर भी वह अनत सत्य अपने शब्दकी अपेक्षा कही अधिक महान् है। किसी भी सद्ग्रथके विषयमे यह बात नही कही जा सकती कि जो कुछ है बस यही है, इसके सिवाय और कोई सत्य ग्राह्य नही हो सकता, जैसा कि वेदोके विषयमे वेद-वादी कहते थे, 'नान्यदस्तीति वादिनः'। यह बात बड़ी रक्षा करनेवाली है, और ससारके सभी सद्ग्रंथोंके विषयमें यह एक ही बात कही जा सकती है। बाईबल, कुरान, चीनके धर्मग्रथ, वेद, उपनिषद्, पुराण, तत्र, शास्त्र और स्वयं गीता आदि सभी सद्ग्रथ, जो आज है, या कभी रहे हों, उन सबमे जो सत्य है उसे तथा जितने तत्त्ववेत्ता, साधु-संत, ईश्वरदूत और अवतारोंकी जो वाणी है उसे, आप एकत्र कर लें तो भी आप यह न कह सकेगे कि जो कुछ है बस यही है, इसके अलावा कुछ है ही नही या जिस सत्यको आपकी बद्धि

इनके अंदर नही देख पाती वह सत्य ही नही, क्योकि वह इनके अंदर नही। यह तो सांप्रदायिकोकी सकीर्ण बुद्धि हुई या फिर सब धर्मोसे अच्छी-अच्छी बात चुननेवाले धार्मिक मनुष्यकी मिश्रित बुद्धि हुई, स्वतंत्र और प्रकाशमान मनका और ईश्वरानुभवप्राप्त जीवका अव्याहत सत्यान्वेषण नही। श्रुत हो या अश्रुत, वह सदा सत्य ही है जिसको मनुष्य अपने हृदयकी ज्योतिर्मय गभीर गुहामे देखता या अखिल ज्ञानके स्वामी सनातन वेदविद् सर्वज्ञ परमेश्वरसे अपने हृद्देशमे श्रवण करता है।

बुद्धियोग

पिछले दो परिच्छेदोंमें मुझे मुख्य विषयसे हटकर दार्शनिक मतवादके नीरस क्षेत्रमे पाठकोको अपने साथ इसलिये घसीट ले जाना पड़ा—यद्यपि विभिन्न दार्शनिक मतवादोका वहा जितना निरूपण हो सका है वह बहुत ही सरसरी तौरपर किया गया है तथा बहुत ही अपर्याप्त और ऊपरी है—कि हम इस बातको समझ ले कि गीताने जिस विशिष्ट प्रतिपादन-शैलीको अपनाया है उसका वह अततक क्यो अनुसरण करती है। वह शैली यह है कि पहले तो गीता किसी आशिक सत्यका मृदुमंद संकेत भर कर देती है और फिर आगे चलकर अपने इन सकेतोकी ओर लौटती है और उनके मर्मको दिखलाती है और यह उस समयतक होता रहता है जबतक कि वह इन सबके ऊपर उठकर अपनी उस अतिम महान् सूचनामे, अपने उस परम रहस्यमे नही पहुच जाती जिसका वह स्वय कोई खुलासा नहीं करती, बल्कि उसको मनुष्य-जीवनमे प्रस्फुटित होनेके लिये छोड़ देती है, जिस सूचना या परम रहस्यको भारतीय आध्यात्मिकताके उत्तर युगोंमे प्रेमकी, आत्म-समर्पणकी और आनंद-की महान् लहरोंमें उपलब्ध करनेका प्रयास किया गया। गीता-की दृष्टि सदा अपने समन्वयपर है और उसमे जो विभिन्न विचार-धाराओंका वर्णन है वह इसलिये है कि मनुष्यकी मन-बुद्धिको क्रमशः तैयार कर लिया जाय जिससे कि वह उसके अंतिम महान् वचनको ग्रहण कर सके।

सांख्यमें मोक्षदायिनी बुद्धिकी जो संतुलित अवस्था है वह, भग-वान् अर्जुनसे कहते है कि, मैंने तुझे बता दी, और अब मैं योगमें

जो एक दूसरी संतुलित अवस्था है उसका तुझसे वर्णन करूगा। तू अपने कर्मोके फलोसे डर रहा है, तू कोई दूसरा ही फल चाहता है और अपने जीवनके सच्चे कर्मपथसे हट रहा है; क्योकि यह पथ तुझे तेरे वाछित फलोकी ओर नही ले जाता। परन्तु कर्म और कर्मफलको इस दृष्टिसे देखना, फलकी इच्छासे कर्ममे प्रवृत्त होना, कर्मको अपनी इच्छापूर्तिका साधन बनाना बधन है जो उन अज्ञानियोको बाधता है जो यह नही जानते कि कर्म क्या चीज है, कहासे इसका प्रवाह चला है, यह कैसे होता है और इसका श्रेष्ठ उपयोग क्या है। मेरा योग तुझे इन कर्म-बधनोसे मुक्त कर देगा--"कर्मबध प्रहास्यसि।" तुझे बहुतसी चीजोका डर लग रहा है--पापका डर दु खका डर, नरक और दड पानेका डर, ईश्वरका डर और इस जगत्का डर, परलोकका डर और अपना डर। भला बता तो, इस समय ऐसी कौनसी चीज है जिसका, हे आर्य क्षत्रिय वीर, जगत्का वीरशिरोमणि, तुझे डर न लगता हो? परन्तु यह महाभय ही तो मानव-जातिको घेरे रहता है--पाप और दु खका भय इस लोक और परलोकमे, जिस ससारके सत्य स्वभावको वह नही जानती उस ससारमे भय, जिस ईश्वरकी सत्य सत्ताको भी वह नही देख पायी है और जिसकी विश्वलीलाके अभिप्रायको वह नही समझ सकी है, उस ईश्वरका भय। मेरा योग तुझे इस महाभयसे तार देगा और इस योगका स्वल्पसा साधन भी तुझे मुक्ति दिला देगा। एक बार जहा तूने इस मार्गपर चलना शुरू किया कि तू देखेगा कि कोई कदम भी व्यर्थ नही रखा गया, प्रत्येक साधारणसी गति भी एक कमाई होगी, तुझे वहा ऐसी कोई बाधा नही मिलेगी जो तेरी प्रगतिको अटका सके। कितनी निर्भीक और निरपेक्ष प्रतिज्ञा है! परतु सर्वत्र विघ्नोसे घिरकर लुढकते-पुढ़कते चलनेवाले चचल मनको, भयभीत और शकित मनको सहसा इसपर पूर्ण भरोसा नही होता। इस प्रतिज्ञाका व्यापक और पूर्ण सत्य भी तबतक साफ समझमें नही आता जबतक गीताके प्रारभिक

वचनोके साथ उसका यह अंतिम वचन मिलाकर नही पढ़ा जाता:—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।

"सब धर्मोको छोड दे और केवल एक मेरी शरणमे चला आ; मै तुझे सब पापों और अशुभोसे मुक्त कर दूगा, शोक मत कर।"

परतु भगवान्द्वारा मनुष्यको कहे हुए इस गभीर और हृदय-स्पर्शी शब्दके साथ गीताका वर्णन आरभ नही किया गया है, आरभ-मे तो इस मार्गपर चलनेके लिये आवश्यक ज्योतिकी कुछ किरणे-भर छिटका दी गयी है और वे भी अतिम वचनकी नाई अतरात्माका स्पर्श करनेके लिये नही, बल्कि उसकी बुद्धिको प्रकाश देनेके लिये। पहले-पहल मनुष्यके सुहृद् और प्रेमी भगवान् नही बोले है बल्कि वे भगवान् बोले है जो उसके पथप्रदर्शक और गुरु है, शिष्य वास्त-विक आत्माको, जगत्के स्वभावको और अपने कर्मके उद्गम स्थान-को नही जानता; उसके इस अज्ञानको उन्हे दूर करना था। कारण, चूकि मनुष्य अज्ञानपूर्वक और अशुद्ध बुद्धिके साथ कर्म करता है, और ऐसी हालतमे इन कर्मोके सबधमे उसका सकल्प भी अशुद्ध ही होता है, इसलिये वह कर्मबधनमे पडता या बद्ध हुआसा जान पडता है; नही तो मुक्त आत्माके लिये तो कर्म बधनका कारण है ही नही। इस अशुद्ध बुद्धिके कारण ही मनुष्यको आशा, भय, क्रोध और शोक तथा क्षणिक सुख होता है; अन्यथा पूर्ण शाति और स्वतंत्रताके साथ कर्म किये जा सकते है। इसलिये सबसे पहले अर्जुनको बुद्धियोग ही बताया गया है। शुद्ध बुद्धि और फलत: शुद्ध संकल्पके साथ उस एक परमात्मामें स्थित होकर, सबमें उस एक आत्माको जानते हुए तथा उसकी सम शांतिमेंसे कार्य करते हुए और उपरितलके मनोमय पुरुषकी हजारों प्रेरणाओंके वश इधर-उधर भटके बिना, कर्म करना ही बुद्धियोग है।

गीता कहती है कि मनुष्यकी बुद्धि दो प्रकारकी है। एक बुद्धि ऐसी है जो एकाग्र, संतुलित, एक, समरस और केवल परम सत्यमें

ही संलग्न है. एकत्व उसकी विशिष्टता है और एकाग्र स्थिरता उसका प्राण। दूसरी बुद्धि ऐसी है जिसमे कोई स्थिर सकल्प नही, कोई एक निश्चय नही, जिसमे अनेक शाखा-पल्लवोमे युक्त असख्य विचार है, जो जीवन और परिस्थितिमे उठनेवाली इच्छाओके पीछे इधर-उधर भटका करती है। जिस बुद्धि शब्दका यहा प्रयोग हुआ है उसका विशिष्ट अर्थ तो समझने-बूझनेकी मानसिक शक्ति है, किंतु गीतामे बुद्धि शब्दका प्रयोग इसके व्यापक दार्शनिक अर्थमे हुआ है, गीतामे बुद्धिसे अभिप्रेत है मनकी विवेक और निश्चय करनेवाली समस्त क्रिया, मन अर्थात् वह तत्त्व जो हमारे विचारोका कार्य और उनकी गतिकी दिशा तथा हमारे कर्मोका उपयोग और उनकी गतिकी दिशा—इन दोनो बातोका निश्चय करता है। विचार, बोध, निर्णय, मानसिक पसंद और लक्ष्य ये सब बुद्धिके ही धर्मके अतर्गत है। कारण एकनिष्ठ बुद्धिका लक्षण केवल बोध करनेवाले मनकी एकाग्रता ही नही है, बल्कि उस मनकी एकाग्रता है जो निश्चय करनेवाला अर्थात् व्यवसायी है और फिर यह मन अपने निश्चयपर जमा रहता है, दूसरी ओर अव्यवसायात्मिका बुद्धिका लक्षण भी उसकी भावनाओ और इंद्रियानुभवोका भटकते रहना उतना नही है जितना कि उसके लक्ष्यो और उसकी इच्छाओका फलत· उसके सकल्पका इधर-उधर भटकते रहना है। सो सकल्प और ज्ञान, ये दोनो कर्म ही बुद्धिके है। एकनिष्ठ बुद्धि ज्ञानदीप्त आत्मामे स्थिर होती है, आतर आत्मज्ञानमे एकाग्र होती है; और इसके विपरीत जो बुद्धि बहुशाखावाली और बहुधधी है, जो बहुतसे व्यापारोमें तो लगी हुई है लेकिन उसका जो अपना एकमात्र परमावश्यक कर्म है उसीकी उपेक्षा करनेवाली है, वह मनकी चंचल तथा इधर-उधर भटकनेवाली क्रियाओके अधीन रहती और बाह्य जीवन और कर्मों तथा उनके फलोमे बिखरी रहती है। "कर्म", भगवान् कहते है कि, "बुद्धियोगकी अपेक्षा बहुत नीचे दर्जेकी चीज है, इसलिये बुद्धिकी शरण लेनेकी इच्छा करो; वे लोग

दरिद्र और पामर है जो कर्मफलको अपने विचार और अपनी कर्मण्यताओंका विषय बनाते है।"

हमे साख्योकी मनोवैज्ञानिक क्रमव्यवस्थाको याद रखना चाहिये जिसे गीताने स्वीकार किया है। इस क्रमव्यवस्थाका एक भाग पुरुष है जो स्थिर है, अकर्त्ता है, अक्षर है, एक है, अविकार्य है; दूसरा भाग प्रकृति है जो सचेतन पुरुषके बिना स्वय जड है, जो कर्त्री है,—पर इसका यह गुण पुरुषकी चेतनाके सान्निध्यसे, उसके सपर्कमे आनेसे ही है, यह कहा जा सकता है कि आरभमे वह पुरुषके साथ एक नही हो जाती, बल्कि अनिश्चित रूपसे उसके सपर्कमे ही आती है,—जो त्रिगुणात्मिका है, प्रवृत्तिनिवृत्तिक्रियात्मिका है। पुरुष और प्रकृतिके परस्पर-सपर्कसे ही अतरगता और बहिरगताकी क्रीडा होती है, जो हमारी सत्ताका अनुभव है। हमारा जो अतरग है पहले वह विकसित होता है, क्योकि प्रथम कारण पुरुष-चैतन्य है और जड प्रकृति केवल द्वितीय कारण है और पहलेके आश्रित है। तथापि हमारी अतरगताके जो करण है उनकी उत्पत्ति प्रकृतिसे है; पुरुषसे नही। इस क्रमव्यवस्थामे पहले प्रकृतिमेसे बुद्धि अर्थात् विवेक और निश्चय करनेवाली शक्तिका और अहंकार अर्थात् इतरोमे अपना पार्थक्य करनेवाली बुद्धिकी अनुगत शक्तिका विकास होता है। तब इस क्रमव्यवस्थाके द्वितीय विकासमे बुद्धि और अहकारमेसे मन उत्पन्न होता है जो विषयोंकी पृथक्-पृथक् पहचान करता है। इस क्रमव्यवस्थाके तीसरे विकासमे मनसे पाच ज्ञानेद्रिया और पाच कर्मेद्रिया उत्पन्न होती है; तदनतर ज्ञानेद्रियोकी शक्तिके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध उत्पन्न होते है, जो हमारे मनके लिये स्थूल विषयोका मूल्य निर्द्धारित करते है और हमारी अतरगतामे पदार्थोकी जो प्रतीति होती है वह इन्हीके द्वारा होती है। इन्ही पाच विषयोके उपादानस्वरूप पंचमहाभूत उत्पन्न होते है जिनके विभिन्न सघातसे बाह्य जगत्के पदार्थ उत्पन्न होते है।

प्रकृतिके गुणोके ये तारतम्य और शक्तियां पुरुषके विशुद्ध चैतन्यमे प्रतिभासित होकर हमारे अशुद्ध अतःकरणके उपादान बनते है। अशुद्ध इसलिये कि इसका कार्य वाह्य जगतके अनुभवो और अत करणपर होनेवाली उसकी प्रतिक्रियाओपर निर्भर करता है। इसी बुद्धिके—जो मात्र विधायक शक्ति है और जो अपनी अनिश्चित अचेतन शक्तिमेसे सब कुछका जडवत् विधान किया करती है—हमारे अदर दो रूप हो जाते है, एक मेधाशक्ति और दूसरा सकल्प-शक्ति। मन, जो एक अचेतन शक्ति है, जो प्रकृतिके भेदोको बहिरग क्रिया और प्रतिक्रियाके द्वारा ग्रहण करता और आकर्षणके द्वारा उनसे सलग्न होता है, इद्रियानुभव और कामना बनता है जो बुद्धि और सकल्पके ही दो असस्कृत अवयव या विकार है—यही मन सवेदनशक्ति, भावावेगशक्ति और इच्छाशक्ति बनता है, इच्छा-शक्तिसे यहा अभिप्रेत है निम्न कोटिकी इच्छा, आशा, कामनामय आवेश, प्राणका आवेग, और ये सब-के-सब सकल्प-शक्तिके ही विकार है। इद्रियां इस मनका उपकरण बनती है, जिनमे पाच ज्ञानेद्रिया है और पाच कर्मेद्रिया, जो अतरग जगत् और बहिरग जगत्के बीच मध्यस्थका काम करती है, बाकी जो कुछ है वह इद्रियोका विषय है।

स्थूल जगत्के विकासका जो क्रम हम लोग देखते है उससे यह क्रम विपरीत प्रतीत होता है। परतु यदि हम यह स्मरण रखे कि स्वय बुद्धि भी अपने-आपमे जड़ प्रकृतिकी एक जड़ क्रिया ही है और इसी प्रकार परमाणुमे भी कोई जड़ सकल्प और बोध, पार्थक्य और निश्चय करनेवाली गुणक्रिया होती है, यदि हम यह देखे कि पौधोमे भी, जीवनके इन अवचेतन रूपोमें भी, सवेदन, भावावेग, स्मृति और आवेगके असस्कृत अचेतन उपादान मौजूद है और फिर यह देखें कि प्रकृतिकी ये शक्तिया ही किस प्रकार आगे चलकर पशु और मनुष्यकी विकासोन्मुख चेतनामें अंतःकरणके रूप धारण करती है, तो हमें यह पता लगेगा कि आधुनिक सायंसने जड़ प्रकृतिके

निरीक्षणद्वारा जो कुछ तथ्य प्राप्त किया है उसके साथ सांख्यकी प्रकृतिविश्लेषण-प्रणालीका मेल मिल जाता है। प्रकृतिसे लौटकर अपने पुरुष-स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये जीवकी जो विकास-क्रिया होती है उसमे प्रकृति-विकासके मूल क्रमका उलटा क्रम ग्रहण करना पडता है। उपनिषदोने और उपनिषदोका ही अनुसरण करके, प्रायः उपनिषदोके वचनोको ही ज्यो-का-त्यो वर्णन करके गीताने हमारे अत.करणकी शक्तियोका आरोहणक्रम इस प्रकार कथन किया है—"विषयोसे इद्रिया परे है, इद्रियोसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे परे जो है वह, वह है"—चिदात्मा, चैतन्य पुरुष। इसलिये गीता कहती है, इस पुरुषको, हमारे अतरग जीवनके इस परम कारणको हमे बुद्धिसे समझना और जान लेना होगा; उसीमे अपने सकल्पको स्थिर करना होगा। इस प्रकार अपने प्रकृतिस्थ निम्नतर अतरग पुरुषको उस महत्तर चिन्मय पुरुषकी सहायतासे सर्वथा सतुलित और निस्तब्ध करके अपनी शाति और प्रभुत्वके उस शत्रुको, मन-बुद्धिके "काम" को, जो सदा अशात रहता है और हमपर हमला करता रहता है, हम मार सकेंगे।

कारण, यह तो स्पष्ट ही है कि, बुद्धिकी क्रिया दो ही प्रकारकी हो सकती है। या तो वह निम्नगामी और बहिर्मुख होकर प्रकृतिके तीनों गुणोंकी लीलामे इंद्रियानुभवो और सकल्पोंकी छितरी हुई क्रियाओंको करनेमें लगे, या ऊर्ध्वगामी और अतर्मुख होकर, प्रकृति-के जंजालसे छूटकर, प्रशांत चिदात्माकी स्थिरता और सनातन वि-शुद्धतामें चिरशांति और समता लाभ करे। पहली क्रिया वह है जिसमें अंतरंग सत्ता इद्रियोंके विषयोके अधीन रहती है, वह वस्तु-ओंके बाह्य सपर्कमें ही निवास करती है। यह जीवन कामनाका जीवन है। इस जीवनमें इंद्रियां विषयोंसे उत्तेजित होकर अशांत, बहुधा भीषण विक्षोभ उत्पन्न करती है, उन विषयोको हथियाने और उन्हें भोगनेके लिये बडी तेजीसे या भरधांव बाहरकी ओर दौड़ पड़ती हैं और मनको अपने साथ खींच ले जाती है, "समुद्रमें

जैसे वायु नौकाको खीच ले जाती है;" फिर इद्रियोकी इस बहिर्मुख गतिद्वारा जगाये हुए भावावेगो, आवेशो, लालसाओ और प्रेरणाओसे पराभूत हुआ मन, उमी प्रकार, बुद्धिको खीच ले जाता है। इसमे बुद्धि अपना स्थिर विवेक और वशित्व खो बैठती है। निम्नगामी बुद्धिका परिणाम यह होता है कि प्रकृतिके तीनो गुणोकी जो सदा गुत्थमगुत्थी और भिडत होती रहती है जीव उसकी उलझी हुई क्रीडाके अधीन हो जाता है, वह अज्ञानमय हो जाता है, उसका जीवन मिथ्या, इद्रियपरायण और बहिरग हो जाता है, वह शोक, क्रोध, आसक्ति और आवेशका दास हो जाता है,—यही है साधारण, अज्ञानी, असयमी मनुष्यका जीवन। जो लोग वेदवादियोके समान इद्रियभोगको ही कर्मका लक्ष्य और उमीकी पूर्णताको जीवका परम ध्येय बनाते है उनके उपदेश हमारे कामके नही। अत.स्थ निर्विषय आत्मानद हमारा सच्चा लक्ष्य है और यही हमारी शाति और मुक्तिकी उच्च और व्यापक समस्थिति है।

अत बुद्धिको ऊर्ध्वमुख और अनर्मुख करना ही हमारा "व्यवसाय" होना चाहिये अर्थात् निश्चयपूर्वक बुद्धिको स्थिर रूपसे एकाग्र करके अध्यवसायके साथ पुरुषके प्रशात आत्मज्ञानमे स्थित करना चाहिये। इसमे सबसे पहली बात 'काम' से छुटकारा पाना है, क्योकि काम ही सब दुःखो और कष्टोका मूल कारण है। कामसे छुटकारा पानेके लिये कामका जो कारण है अर्थात् इंद्रियोंका विषयोकी ओर उन्हे पाने और भोगनेके लिये दौड पडना, उसीका अत करना होगा। जब इस तरहसे इंद्रिया दौड पडें तब उन्हें पीछे खीचना होगा, विषयोसे सर्वथा हटा लेना होगा—जैसे कछुआ अपने अगोको अपनी ढालके अंदर कर लेता है वैसे ही इद्रियोको उनका जो मूल मन है उसमे लाकर शांत करना होगा, और मनको बुद्धिमें लाकर शात करना होगा और बुद्धिको आत्मा और उसके आत्मज्ञानमें लाकर शांत करना होगा। यह आत्मा वह पुरुष है जो प्रकृतिके कर्मको देखता है, उसमे फंसता नही; क्योंकि विषयोंसे मिलनेवाली कोई

भी चीज वह नहीं चाहता।

किसीके चित्तमें ऐसी शंका उठ सकती है कि यहा मानो सन्यासका ही उपदेश किया जा रहा है। इसी शकाको दूर करनेके लिये भगवान् यह सूचित करते है कि यहा मै किसी बाह्य वैराग्य या विषयोके भौतिक सन्यासकी बात नही कह रहा हू। साख्योका सन्यास या प्रखर विरागी तपस्वियोके उपवासादि तप, कायक्लेश या अन्नतकका त्याग आदिसे मेरा अभिप्राय नही है, मेरा आत्मअनु-शासन और सयम यह नही है, मै जो कुछ बता रहा हू वह आतरिक वैराग या सयम है, वह सन्यास कामनाका सन्यास है। देहीके जबतक देह है तबतक इस देहको नित्य दैहिक कर्म करनेके योग्य बना रखनेके लिये आहार देना ही होगा, निराहार होनेसे देही विषयोके साथ अपने दैहिक सबधका ही विच्छेद कर सकता है, पर इससे वह आतरिक सबध नही छूटता जो उस सबधको दु:खद बनानेका कारण है। विषयोका जो रस उसमे है—राग और द्वेष जिसके दो पहलू है—वह तो बना ही रहता है; देहीको तो, इसके विपरीत, ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे वह रागद्वेषसे अलिप्त रहकर बाह्य स्पर्शको सह सके। अन्यथा विषय तो निवृत्त होते है, 'विषया विनिवर्त्तन्ते' परतु आतरिक निवृत्ति नही होती, मन निवृत्त नही होता; और इद्रिया है मनकी, अतरंग है, इसलिये रस-की आतरिक निवृत्ति ही वशित्वका एकमात्र वास्तविक लक्षण है। परतु विषयोसे इस प्रकारका निष्काम सपर्क, इंद्रियोंका इस प्रकार निर्लेप उपयोग कैसे सभव है? यह सभव है परमको देखनेसे "पर दृष्ट्वा," परम पुरुषके दर्शनसे और बुद्धियोगके द्वारा उसके साथ सर्वान्तःकरणसे युक्त होनेसे, एकत्वको प्राप्त होनेसे; क्योंकि वह 'एक' आत्मा शांत है, अपने ही आनंदसे संतुष्ट है, और एक बार जहां हमने अपने अंदरमें रहनेवाले इस परम पुरुषका दर्शन कर लिया, अपने मन और सकल्पको उसके अंदर स्थापित कर दिया कि यह आनंद, जो द्वंद्वशून्य है—इंद्रियोंके विषयोंसे पैदा होनेवाले मानसिक

सुख और दुःखका स्थान अधिकार कर लेता है। यही मुक्तिका सच्चा रास्ता है।

निश्चय ही आत्म-सयम, आत्म-वशित्व कोई हंसी-खेल नही है। सभी बुद्धिमान् मनुष्य इस बातको जानने है कि उन्हे थोड़ा-बहुत संयम करना ही चाहिये, अपने-आपको वशमे रखना ही चाहिये और इंद्रियोंको वशमे रखनेके लिये जितने उपदेश मिलते है उतने शायद किसी दूसरी चीजके लिये नही। परंतु सामान्य स्थिति यही है कि यह उपदेश अपूर्ण रूपसे ही दिया जाता है और इसका पालन भी अपूर्ण रूपसे ही और वह भी बहुत ही मर्यादित और अपर्याप्त मात्रामे किया जाता है। पूर्ण आत्मप्रभुत्वको प्राप्त करनेके लिये परिश्रम करनेवाला ज्ञानी, स्पष्ट द्रष्टा, बुद्धिमान् और विवेकी पुरुष भी यह पाता है कि इद्रिया उसको बेकाबू करके सहसा खीच ले जाती है। ऐसा क्यो होता है? इसलिये कि मन इद्रियोके विषयोमें आतरिक रस लेता है, इन विषयोंपर जाकर वह जम जाता है और उनको बुद्धिके तल्लीन विचारका और सकल्पके लिये तेज रसका विषय बना देता है। इससे आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे कामना, कामनासे अर्थात् कामनाकी पूर्ति न होनेपर या उसके विफल या विपरीत होनेपर संताप, आवेश और क्रोध उत्पन्न होता है, इससे मोह होता है और मोहसे पुरुषपर परदा पड़ जाता है, बुद्धिके बोध और सकल्प दोनो ही स्थिर साक्षी पुरुषको देखना और उसीमें स्थित रहना भूल जाते है, अपने सदात्माकी स्मृतिसे ही पतन हो जाता है और इस पतनसे बुद्धि आच्छादित हो जाती है, यहांतक कि वह नष्ट भी हो जाती है। कारण, उस समयके लिये तो हमारी स्मृतिसे उसका लोप ही हो जाता है, वह मोहके बादलमे छिप जाती है और हम स्वयं मोह, क्रोध और शोक बन जाते तथा आत्मा, बुद्धि और संकल्प नही रहते है। इसलिये ऐसा न होने देना चाहिये और सब इंद्रियोंको अच्छी तरह वशमें ले आना चाहिये; क्योंकि इंद्रियोंके पूर्ण संयमसे ही विज्ञ और स्थिर बुद्धि दृढ़तापूर्वक स्वस्थान-

में प्रतिष्ठित हो सकती है।

बुद्धिके अपने प्रयत्नसे ही, केवल मानसिक संयमसे ही यह कार्य पूर्ण रूपसे सिद्ध नही हो सकता, हो सकता है केवल ऐसी वस्तु-के साथ युक्त होनेसे जो बुद्धिसे ऊंची है और स्थिरता तथा आत्म-प्रभुत्व जिसके अंदर स्वभावतः ही निहित है। इस योगकी सिद्धि भगवान्‌की ओर लगनेसे, भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि 'मेरी ओर' लगनेसे, 'मद्‌भावापन्न' होनेसे, सर्वात्मना 'मेरे समर्पित' होने-से, होती है; कारण मुक्तिदाता श्रीभगवान् हमारे अंदर है, पर हमारा मन या हमारी बुद्धि या हमारी अपनी इच्छा यह भागवत सत्ता नही है, ये तो केवल उपकरण है। हमें, जैसा कि गीताके अंतमें बताया गया है, सर्वभावसे ईश्वरकी ही शरण जाना होगा और इसके लिये हमें पहले उन्हें अपनी संपूर्ण सत्ताका ध्येय बनाना होगा और आत्म-संबंध बनाये रखना होगा। "सर्वथा मत्पर होकर, मुझमें योगयुक्त होकर स्थित रह" यह जो कहा गया, इसका यही अभिप्राय है। परतु अभी यह केवल सकेतमात्र है, जो गीताकी प्रतिपादनशैलीके अनुसार ही है। "युक्त आसीत मत्परः" इन तीन शब्दोंमे वह परम रहस्य बीज-रूपसे भर दिया गया है जिसका विस्तार आगे होना है।

ऐसा जब हो जाय तब विषयोमे विचरते हुए, उनके संपर्कमें रहते हुए, उनपर क्रिया करते हुए भी इंद्रियोको अंतरात्माके सर्वथा अधीन रखना—विषय और उनके संस्पर्श तथा उनकी प्रतिक्रियाओके वशी-भूत होकर नहीं—और फिर इस अंतरात्माको परम-आत्मा, परम पुरुषके अधीन रखना संभव होता है। तब विषयोंकी प्रतिक्रिया-ओंसे छूटकर इंद्रियां रागद्वेषसे वियुक्त, काम-क्रोधसे मुक्त होती हैं और तब आत्मप्रसाद अर्थात् आत्माकी स्थिरता, शांति, विशुद्धता और संतुष्टि प्राप्त होती है। वह आत्मप्रसाद जीवके परम सुख-का कारण है; उसके रहते कोई दुःख उस शांत पुरुषको स्पर्श नहीं कर सकता; उसकी बुद्धि तुरत आत्माकी शांतिमें स्थित हो जाती

है; दुःख रह ही नहीं जाता। इसी आत्मावस्था और आत्मज्ञान-में स्थिर, निष्काम, दुःखरहित बुद्धिकी धृतिको गीताने समाधि कहा है।

समाधिस्थ मनुष्यका लक्षण यह नही है कि उसको विषयों और परिस्थितियोका तथा अपने मनोमय और अन्नमय पुरुषका होश ही नही रहता और शरीरको जलाने या पीडित करनेपर भी उसको इस चेतनामे नही लौटाया जा सकता, जैसा कि साधारणतया लोग समझते है; इस प्रकारकी समाधि तो चेतनाकी एक विशिष्ट प्रकार-की प्रगाढता है, यह समाधिका मूल लक्षण नही है। समाधिकी कसौटी है सब कामनाओका बहिष्कार, किसी भी कामनाका मन-पर चढ़ाई न कर सकना, और यह वह आतरिक अवस्था है जिससे यह स्वतंत्रता उत्पन्न होती है, आत्माका आनद अपने ही अदर जमा रहता है और मन सम, स्थिर तथा ऊपरकी भूमिकामे ही अवस्थित रहता हुआ आकर्षणो और विकर्षणोसे तथा बाह्य जीवनके घड़ी-घडी बदलनेवाले आलोक-अंधकार और तूफानो तथा झझटोसे नि-र्लिप्त रहता है। वह बाह्य कर्म करते हुए भी अंतर्मुख रहता है; बाह्य पदार्थोको देखते हुए भी आत्मामे ही एकाग्र होता है; दूसरोकी दृष्टिमे सासारिक कर्मोमे लगा हुआ प्रतीत होनेपर भी लगा रहता है सर्वथा भगवान्‌की ही ओर। अर्जुन औसत मनुष्यके मनमें उठनेवाला यह प्रश्न करता है कि इस महान् समाधिका वह कौनसा लक्षण है जो बाह्य, शारीरिक और व्यावहारिक रूपमे जाना जा सके; समाधिस्थ मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है? इस तरहके कोई लक्षण नही बताये जा सकते और न भगवान् गुरु ही बतलानेका प्रयास करते है; क्योकि समाधिकी जो कोई कसौटी हो सकती है वह आतरिक है और कसकर देखनेकी बहुतसी विरोधी शक्तियां है और ये भी मनोगत है। मुक्त पुरुषका महान् लक्षण समता है और इस समताकी पहचानके लिये जो अति स्पष्ट चिह्न है वे भी आंतरिक है। "दुःखमें जिसका मन उद्विग्न नहीं

होता, सुखकी इच्छा जिसकी जाती रही है, राग, भय और क्रोध जिसका निकल गया है, जिसकी बुद्धि स्थिरतामें प्रतिष्ठित है, वही मुनि ह।" वह "निस्त्रैगुण्य, निर्द्वंद्व, सदा अपनी सत्य सत्तामे प्रतिष्ठित, निर्योगक्षेम, आत्मवान्" होता है। कारण मुक्त पुरुषका योग-क्षेम क्या ? जहा एक बार हम आत्मवान् हुए तहा सब कुछ तो प्राप्त हो गया, सब कुछ तो हमारा ही है।

पर फिर भी आत्मवान् पुरुष कर्मसे विरत नही होता। यही गीताकी मौलिकता और शक्ति है कि पुरुषकी इस स्थितिशील अवस्थाका प्रतिपादन करके भी, प्रकृतिपर पुरुषका श्रेष्ठत्व बताके भी, मुक्त पुरुषके लिये प्रकृतिकी साधारण क्रियाकी नि.सारताको दिखाके भी वह उसके लिये कर्मको जारी रखनेको कहती है, कर्मका उपदेश करती है और ऐसा करनेके कारण गीता उस बड़े भारी दोषसे बच जाती है जो मात्र शांतिकामी और वैरागी मतोमे पाया जाता है,—यद्यपि आज वे इस दोषसे बचनेकी चेष्टा कर रहे है। "कर्ममे तेरा अधिकार है पर केवल कर्ममे, कर्मके फलोमें कदापि नहीं; अपने कर्मोके फलोंकी इच्छा करनेवाला तू मत बन और अकर्ममें भी तेरी आसक्ति न हो।" इस बातसे यह स्पष्ट है कि यह कर्म वेदवादियोंका वह कर्म नही है जो फलविशेषकी कामनासे किया जाता है, और न यह उस प्रकारका कर्म है जिसका दावा सासारिक या राजसी वृत्तिके कर्मी किया करते है और जो अशांत उद्योगी मनकी संतुष्टिके लिये सदा किया जाता है। 'योगस्थ होकर कर्म कर, संगका त्याग करके, सिद्धि-असिद्धिमे सम होकर; कारण समत्व ही योगसे अभिप्रेत है।" यह प्रश्न उठता है कि शुभ और अशुभके आपेक्षिक विचारके कारण, पापसे भय और पुण्यके कठिन प्रयासके कारण कर्म क्या केवल दुःखदायी ही नही होता ? परंतु वह मुक्त पुरुष जिसने अपनी बुद्धि और संकल्पको भगवान्‌के साथ एक कर लिया है, वह इस द्वंद्वमय संसारमें भी शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनोंका परित्याग किये रहता है; क्योंकि वह शुभाशुभके परे जो धर्म है,

जिसकी प्रतिष्ठा आत्मज्ञानकी स्वाधीनतामें है, उसमें ऊपर उठ जाता है। शायद आप यह कहे कि ऐसे निष्काम कर्ममें कोई निश्चितता, कोई अमोघता, कोई लाभदायक प्रेरक-भाव, कोई विशाल या ओजपूर्ण सृष्टि-सामर्थ्य नही हो सकता ? ऐसा नही है; योगस्थ होकर किया जानेवाला कर्म न केवल उच्चतम प्रत्युत अत्यंत ज्ञानपूर्ण, सांसारिक विषयोंके लिये भी अत्यत शक्तिशाली और अत्यंत अमोघ होता है; क्योकि उसमें सब कर्मोंके स्वामी भगवान्का ज्ञान और संकल्प भरा रहता है; "योग है कर्मकी कुशलता" (योगः कर्मसु कौशलम्)। परंतु आप कहेगे कि जीवनके लिये किया जानेवाला कर्म योगीको उसके महान् ध्येयसे दूर कर देता है और यह बात तो सर्वसम्मत ही है कि योगीका ध्येय इस दु:खशोकमय मानव-जन्मके बंधनसे छुटकारा पाना होता है ? नही, ऐसा भी नही है; जो योगी कर्मफलकी इच्छाके बिना, भगवान्के साथ योगमें स्थित होकर कर्म करते है वे जन्मबधसे विनिमुक्त होते है और उस परम पदको प्राप्त होते है जहां दु:खी मानव-जातिके मन और प्राणको सतानेवाली किसी भी व्याधिका नामोनिशानतक नही होता।

योगी जिस पदको प्राप्त होता है वह ब्राह्मीस्थिति है, वह ब्रह्ममें दृढ़प्रतिष्ठ हो जाता है। संसार-बद्ध प्राणियोकी जो कुछ दृष्टि, अनुभूति, ज्ञान. मूल्याकन और देखना-सुनना है वहा यह सब कुछ पलट जाता है। यह द्वंद्वमय जीवन जो इन बद्ध प्राणियोंका दिन है, जो इनकी जागृति है, जो इनकी चेतना है, जो इनके लिये कर्म करने और ज्ञान प्राप्त करनेकी उज्ज्वल अवस्था है, उसके लिये यह रात है, दु:खभरी नीद और आत्मविषयक अधकार है; और वह उच्चतर सत्ता जो इन बद्ध प्राणियोके लिये रात है, वह नीद है जिसमें इनका सारा ज्ञान और कर्मसंकल्प लुप्त हो जाता है, उस संयमी पुरुषके लिये उसकी जागृत अवस्था है, सत्य सत्ता, ज्ञान और शक्तिका प्रकाशमय दिवस है। ये बद्ध प्राणी उन चंचल पंकिल जलाशयोंकी तरह हैं जो कामनाकी जरासी लहरका धक्का लगते ही हिलने

लग जाते हैं; योगी विशाल सत्ता और चेतनाका वह समुद्र है जो सदा भरा जानेपर भी अपने आत्माकी विशाल समस्थितिमें सदा अचल रहता है; संसारकी सब कामनाएं उसमें प्रविष्ट होती हैं, जैसे समुद्रमें नदियां, पर फिर भी उसमें कोई कामना नही होती, कोई चाचल्य नही होता। इन प्राणियोमें भरा रहता है अहंकार और 'मेरा-तेरा' का उद्वेगजनक भाव, और वह होता है सबके एक अखिलांतरात्माके साथ एकीभूत, उसमें न "मैं" है न "मेरा"। वह कर्म करता है वैसे ही जैसे दूसरे कर्म करते है, पर वह सब कामनाओं और उनकी लालसाओको छोडे हुए है। वह महान् शाति-को प्राप्त होता है और बाहरी दिखावोसे विचलित नही होता; उसने अपने व्यष्टिगत अहभावको उस एक अखिलातरात्मामे निर्वापित कर दिया है, उसी एकत्वमे वह रहता है और अतकालमे उसीमे स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है—यह ब्रह्मनिर्वाण बौद्धोका अ-भावात्मक आत्म-विध्वस नही है, प्रत्युत् पृथकीभूत वैयक्तिक आत्मा-का उस एक अनत नैर्व्यक्तिक सत्ताके विराट् सत्यमे महान् निमज्जन है।

इस प्रकार साख्य, योग और वेदातका यह सूक्ष्म एकीकरण गीता-की शिक्षाकी पहली नीव है। यही सब कुछ नही है, बल्कि ज्ञान और कर्मकी यह प्राथमिक अनिवार्य व्यावहारिक एकता है जिसमें जीवकी परिपूर्णताके लिये परमावश्यक सर्वोच्च और आत्यतिक जो तीसरा अग है उसका अर्थात् भागवत प्रेम और भक्तिका सकेत मात्र किया गया है।

कर्म और यज्ञ

बुद्धियोग और ब्राह्मीस्थितिमे उसकी परिसमाप्ति, जो गीताके द्वितीय अध्यायके अतिम भागका विषय है, उसमे गीताकी बहुत कुछ शिक्षा बीजरूपसे आ गयी है—गीताका निष्काम कर्म, समत्व, बाह्य संन्यासका वर्जन और भगवद्‌भक्ति, ये सभी सिद्धात इसमे आ गये है। परतु अभी ये सब बहुत ही अल्प और अस्पष्ट रूपसे ही हैं। जिस बातपर अभीतक सबसे अधिक जोर दिया गया है वह यही है कि मनुष्यके कर्म करनेका जो सामान्य प्रेरक-भाव हुआ करता है उससे, अर्थात् उसकी अपनी कामनासे तथा आवेशो और अज्ञानके साथ इद्रिय-सुखके पीछे दौड़नेवाले विचार और सकल्पमय उसके सामान्य प्राकृत स्वभावसे और अनेक शाखापल्लवोसे युक्त सतप्त विचारो और इच्छाओमे भटकते रहनेका उसका जो अभ्यास पड़ा हुआ है उससे, मनुष्यकी बुद्धि हट जाय और वह ब्राह्मीस्थितिकी निष्काम स्थिर एकता और निर्विकार प्रशातिमे पहुच जाय। इतनासा अर्जुनने समझ लिया है। इसमे उसके लिये कोई नयी बात नही; क्योकि उस समयकी प्रचलित शिक्षाका यही सार था जो मनुष्यको सिद्धि प्राप्त करनेके लिये ज्ञानका मार्ग तथा जीवन और कर्मसे सन्यासका मार्ग दिखा देता था। बुद्धिका इंद्रियोसे, विषय-वासनाओसे तथा मानव-कर्मसे हटकर उस परममे, उस एकमेवाद्वितीय अकर्त्ता पुरुषमे, उस अचल निराकार ब्रह्ममे लगना ही ज्ञानका सनातन बीज है। यहा कर्मके लिये कोई स्थान नही, क्योकि कर्म अज्ञानके है; कर्म ज्ञानसे सर्वथा विपरीत है; कर्मका बीज काम है और उसका फल बधन। यही कट्टर

दार्शनिक मत है और श्रीकृष्ण भी इसे स्वीकार करतेसे मालूम होते हैं जब वे यह कहते है कि कर्म बुद्धियोगके सामने बहुत ही छोटी चीज है। और फिर भी जोर देकर यह कहा जाता है कि योगके अंग-स्वरूप कर्म करना होगा; इस तरह इस शिक्षामें कोई मूलगत परस्पर विरोधसा देख पड़ता है। इतना ही नहीं; क्योकि ज्ञानकी अवस्थामें भी कुछ कालतक किसी प्रकारका कोई कर्म बना रह सकता है, ऐसा कर्म जो कम-से-कम हो, अत्यंत निर्दोष हो; पर यहा जो कर्म बताया जा रहा है वह तो ज्ञानके, सौम्यताके और स्वात:सुखी जीवकी अचल शांतिके सर्वथा विरुद्ध है,—यह कर्म तो एक भयानक, यहांतक कि राक्षसी कर्म है, खूनामरकीसे भरा हुआ एक संघर्ष है, एक निर्दय सग्राम है, एक दानवी हत्याकांड है। फिर भी इसी कर्मका यहां विधान किया जा रहा है और अंत:स्थ शाति और निष्काम समता तथा ब्राह्मीस्थितिकी शिक्षासे इसका समर्थन किया जा रहा है! यह एक ऐसा परस्पर-विरोध है जिसका अभी मेल नही मिला है। अर्जुन इस बातका उलहना देता है कि मुझे ऐसी शिक्षा दी जा रही है जिसमें सिद्धांतोंका परस्पर-विरोध है और उससे बुद्धि बड़े असमंजसमें पड़ती है, ऐसा कोई स्पष्ट और सुनिश्चित मार्ग नही दिखाया जा रहा है जिसपर चलकर मनुष्यकी बुद्धि बिना इधर-उधर भटके सीधे परम कल्याणकी ओर चली जाय। इसी आपत्तिका उत्तर देनेके लिये गीता तुरत अपने निश्चित और अ-लंघनीय कर्म-सिद्धांतका अधिक स्पष्ट प्रतिपादन आरंभ करती है।

गुरु पहले मोक्षके उन दो साधनोंका भेद स्पष्ट करते है जिन्हें मनुष्य इस लोकमें अलग-अलग अपना सकते है, एक है ज्ञानयोग और दूसरा है कर्मयोग। साधारण मान्यता ऐसी है कि ज्ञानयोग कर्मोंको मुक्तिका बाधक कहकर त्याग देता है और कर्मयोग इनको मुक्तिका साधन मानकर स्वीकार करता है। गुरु अभी इन दोनोंको मिला-देनेपर, इन दोनोंका विभाजन करनेवाले विचारोंमें मेल मिलानेपर बहुत अधिक जोर नहीं दे रहे है, बल्कि यहां इतनेसे ही आरंभ करते

हैं कि सांख्योंका कर्मसंन्यास न तो एकमात्र मोक्षमार्ग ही है और न यह कर्मयोगसे उत्तम ही है। नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मरहित शांत शून्यता अवश्य ही वह अवस्था है जो पुरुषको प्राप्त करनी है; क्योंकि कर्म होता है प्रकृतिके द्वारा और पुरुषको सत्ताकी कर्मण्यताओंमें लिप्त होनेकी अवस्थासे ऊपर उठकर उस शात कर्मरहित अवस्था और समस्थितिमे पहुचना होगा जहासे वह प्रकृतिके कर्मोका साक्षित्व तो कर सके, पर उनसे प्रभावित न हो। पुरुषका नैष्कर्म्य तो यथार्थमे यही है, प्रकृतिके कर्मोका बंद हो जाना नही। इसलिये यह समझना भूल है कि किसी प्रकारका कर्म न करनेसे ही नैष्कर्म्य अवस्थाको पाया और भोगा जा सकता है। केवल कर्मोका संन्यास न तो मुक्तिका पर्याप्त साधन है न समीचीन ही। "कर्म न करनेसे ही मनुष्य नैष्कर्म्यको नही प्राप्त होता न केवल (कर्मोके) संन्याससे ही उसे सिद्धि प्राप्त होती है।" सिद्धिसे मतलब है, योग-साधनाके लक्ष्यकी प्राप्ति।

पर कम-से-कम कर्मोका संन्यास एक आवश्यक, अनिवार्य और अलंघनीय साधन तो होगा ही ? कारण यदि प्रकृतिके कर्म होते रहे तो पुरुषके लिये यह कैसे सभव है कि वह उसमे लिप्त न हो ? यह कैसे संभव है कि मै युद्ध करूं भी और अपने अदर यह न समझू, यह न अनुभव करू कि मै अमुक व्यक्ति युद्ध कर रहा हू, न तो विजय-लाभकी इच्छा करूं न हार होनेपर अंदरमे दु.खी ही होऊ ? सांख्योंका यह सिद्धांत है कि जो पुरुष प्रकृतिके कर्मोंमे नियुक्त होता है, उसकी बुद्धि अहंकार, अज्ञान और काममे फंस जाती है और इसलिये वह कर्ममें प्रवृत्त होती है; दूसरी ओर, बुद्धि यदि निवृत्त हो तो इच्छा और अज्ञानकी समाप्ति होनेसे कर्मका भी अंत हो जाता है। इसलिये मोक्षमार्गकी साधनामे ससार और कर्मका परित्याग एक आवश्यक अंग, अपरिहार्य अवस्था और अनिवार्य अंतिम साधन है। उस समयकी विचार-पद्धतिका यह आक्षेप—यद्यपि अर्जुनके मुखसे यह बात बाहर नहीं हुई है, पर यह

उसके मनमें है, यह उसकी बादकी बातचीतसे झलकता है—भगवान् गुरु ताड़ जाते है। वे कहते है कि, नही, इस प्रकारके संन्यासका अनिवार्य होना तो दूर रहा, ऐसे संन्यासका होना ही सभव नही है। "कारण कोई प्राणी एक क्षणके लिये भी बिना कर्म किये नही रह सकता; प्रकृतिजात गुण हर किसीसे बरबस कर्म कराते ही है।" इस महान् विश्वकर्मका और विश्वप्रकृतिकी शाश्वत कर्मण्यता और शक्तिका यह स्पष्ट और गभीर अनुभव गीताकी एक विलक्षण विशेषता है। प्रकृतिके इसी भावपर तान्त्रिक शाक्तोने आगे चलकर बहुत ही जोर दिया, उन्होंने यहां-तक किया कि प्रकृति या शक्तिको पुरुषसे ही श्रेष्ठ बना दिया। प्रकृति या शक्तिकी महिमाका गीतामे यद्यपि मृदु संकेतमात्र हुआ है, फिर भी उसके ईश्वरवादी और भक्तिवादी तत्त्वोकी शिक्षाके साथ मिलकर यह महिमा काफी बलवान् हो गयी है और इसने यह काम किया है कि प्राचीन दार्शनिक वेदांतकी शातिकामी प्रवृत्तिका संशोधन कर अपने योगमार्गमें कर्मकी उपयोगिताको सिद्ध कर दिया है। प्रकृतिके जगत्मे प्रकृतिका जामा पहना हुआ मनुष्य एक क्षणके लिये, एक पल-विपलके लिये भी, कर्मको नही छोड़ सकता; उसका यहा रहना ही एक कर्म है, सारा विश्व-ब्रह्मांड ईश्वरका एक कर्म है, केवल जीना भी उसीकी एक क्रिया है।

हमारा दैहिक जीवन, उसका पालन, उसकी निरवच्छिन्न स्थिति एक यात्रा है, एक 'शरीरयात्रा' है, और कर्मके बिना यह यात्रा पूरी नही हो सकती। परतु यदि कोई मनुष्य अपने शरीरको न पोसे-पाले, यो ही बेकार छोड दे, किसी वृक्षसा सदा चुप खड़ा रह जाय या पत्थरसा अचल बैठा रहे तो इस वैटप या शैल अचलतासे वह प्रकृतिके हाथसे नही बच सकता; प्रकृतिके गुण-कर्मसे उसकी मुक्ति नही हो सकती। कारण केवल हमारे शरीरका चलना-फिरना और दूसरे-दूसरे कर्म करना ही कर्म नही है, हमारा मानसिक जीवन भी तो एक बहुत बड़ा जटिल कर्म है,

बल्कि चंचला प्रकृतिके कर्मोंका यह बृहत्तर और महत्तर अंग ही है—हमारे बाह्य दैनिक कर्मका यही आंतरिक कारण और नियामक है। यदि हमने आंतरिक कारणकी क्रियाको तो जारी रखा और उसके फलस्वरूप होनेवाले बाह्य कर्मका निग्रह किया तो इससे हमें कोई लाभ नही हुआ। इंद्रियोके विषय तो हमारे बंधनके केवल निमित्त कारण है, असल कारण तो मनका तद्विषयक आग्रह है। मनुष्य चाहे तो कर्मेंद्रियोका नियमन कर सकता है और उन्हे उनकी स्वाभाविक कर्मक्रीडासे रोक सकता है, पर यदि उसका मन इद्रियोके विषयोंका ही स्मरण और चितन करता है तो ऐसे सयम और दमनसे उसे क्या मिला? ऐसा मनुष्य तो आत्म-संयमको कुछ-का-कुछ समझकर अपने-आपको भ्रममें डालता है; वह न तो सयमके उद्देश्यको समझता है न उसकी वास्तविकताको, न अपने अतःकरणके मूल तत्त्वोको ही; इसलिये सयमके सबधमे उसके सब प्रयत्न मिथ्या और व्यर्थ हो जाते है और वह मिथ्याचारी* कहलाता है। शरीरसे होनेवाले कर्म, और मन-बुद्धिसे होनेवाले कर्म भी स्वय कुछ भी नही है, न बधन है न बधनके मूल कारण ही। जो बात मुख्य है वह है प्रकृतिकी वह प्रबल शक्ति जो मन, प्राण और शरीरके महान् क्षेत्रमे अपना कर्म करेगी ही, वह अपने रास्तेसे चलेगी ही, प्रकृतिमे जो कुछ खतरनाक है वह त्रिगुणकी वह ताकत है जिससे बुद्धि मोहित होती और भरमती है और इस तरह आत्माको आच्छादित करती है। आगे चलकर हम लोग देखेंगे कि कर्म और मोक्षके सबधमे गीताका सारा रहस्य यही

---

*मेरे विचारमे 'मिथ्याचार' का अर्थ पाखडी नही हो सकता। जो अपने शरीरको इतने क्लेश पहुचाता और भूखो मार डालता है वह पाखडी कैसे हो सकता है? वह भूला हुआ है, भ्रममे है, 'विमूढात्मा' है और उसका आचार मिथ्या और व्यर्थ है, अवश्य ही ही गीताका यहा यही अभिप्राय है।

है। त्रिगुणके व्यामोह और व्याकुलतासे मुक्त हो जाओ, फिर कर्म हुआ करे, क्योंकि वह तो होता ही रहेगा; फिर वह कर्म चाहे जितना भी विशाल हो, समृद्ध हो या कैसा भी विकट और भीषण हो, उससे कुछ भी नही आता-जाता, क्योंकि तब पुरुषको उसका कोई स्पर्श नही होता, जीव नैष्कर्म्यकी अवस्थाको प्राप्त हो चुका है।

परतु इस बृहत्तर तत्त्वका गीता अभी तुरत वर्णन नही कर रही है। जब मन ही कारण है, अकर्म जब असंभव है तब जो कुछ युक्ति-संगत, आवश्यक और उचित है वह यही कि आंतर और बाह्य कर्मोंको सयमके साथ किया जाय। मन जो बुद्धिका यंत्र है उसे चाहिये कि वह इंद्रियोको अपने वशमें करे और उन्हें उनके अपने-अपने कर्ममे अर्थात् कर्मयोगमे लगावे। पर इस आत्म-संयमका सारतत्त्व क्या है, कर्मयोगका अभिप्राय क्या है? कर्मयोगका अभिप्राय है अनासक्ति, कर्म करना, पर मनको इंद्रियोके विषयोंसे और कर्मोंके फलोसे अलिप्त रखना। संपूर्ण अकर्म नही, संपूर्ण अकर्म तो भ्रम है, मनकी उलझन है, आत्मप्रवंचन है, ऐसा होना तो असभव ही है, बल्कि वह कर्म जो पूर्ण हो और स्वतंत्र हो, जो इंद्रियों और आवेशोके वश होकर नही किया गया हो,—ऐसा निष्काम और आसक्तिरहित कर्म ही सिद्धिका प्रथम रहस्य है। इस प्रकार भगवान् कहते है कि, नियत कर्म करो, "नियतं कुरु कर्मत्वं"। मैने यह कहा है कि ज्ञान, बुद्धि, कर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; "ज्यायसी कर्मणो बुद्धिः"; पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि कर्मसे अकर्म श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ तो अकर्मकी अपेक्षा कर्म ही है, "कर्म ज्यायो अकर्मणः"। कारण ज्ञानका अर्थ कर्मका संन्यास नही है, ज्ञानका अर्थ है समता, तथा वासनासे और इंद्रियोंके विषयोंसे अनासक्ति; और इसका अर्थ है बुद्धिका उस आत्मामें स्थिर प्रतिष्ठ होना जो स्वतंत्र है, प्रकृतिके निम्न कर्मोंके बहुत ऊपर है और वहीसे मन, इंद्रियों और शरीरके कर्मोंको आत्म-ज्ञानकी तथा आध्यात्मिक अनुभूतिके वि-

शुद्ध निर्विषय आत्मानंदकी शक्तिद्वारा नियत करता है। इस प्रकारसे जो कर्म नियत होता है, वही "नियत कर्म"* है। बुद्धि-योग कर्मयोगद्वारा परिपूर्ण होता है, आत्म-मुक्तिको देनेवाला बुद्धियोग निष्काम कर्मयोगद्वारा सार्थक होता है। निष्काम कर्मकी आवश्यकताका यह सिद्धात गीता प्रस्थापित करती है, और सांख्योकी ज्ञान-साधनाको—एकमात्र उनकी बाह्य विधिका परि-त्याग करके—योगकी साधनाके साथ एक करती है।

परंतु फिर भी इस विचार-प्रणालीमे एक मूलगत समस्या रह जाती है जिसका अभीतक कोई समाधान नही हुआ है। मनुष्योके जितने भी कर्म होते है वे सभी किसी-न-किसी कामनाके प्रेरित ही हुआ करते है और इसलिये यह कहना पड़ता है कि पुरुष यदि कामना-से ही मुक्त हो जाय तो फिर उसके लिये कर्मका प्रेरक कोई कारण नही रहता। हो सकता ह कि शरीरकी रक्षाके लिये फिर भी

---

*नियत कर्मका आजकल जो कुछ अर्थ लगाया जाता है उसे भी मै नही मान सकता। नियत कर्मका अर्थ बंधे-बधाये और वैध कर्म अर्थात् वेदोक्त याज्ञिक आनुष्ठानिक नित्यकर्म और दिनचर्या नही है। निश्चय ही पिछले श्लोकके 'नियम्य' शब्दका तात्पर्य लेकर ही इस श्लोकमे 'नियत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवान् पहले एक वर्णन करते है, "जो कोई मनसे इंद्रियोंका नियमन करके कर्मेंद्रियोद्वारा कर्मयोग करता है, वह श्रेष्ठ है (मनसा नियम्य आ-रभते कर्मयोगम्)" और यह कहकर फिर तुरत इसी कथनसे, इसी-के सारांशस्वरूप इसीको विधि बनाते हुए यह आज्ञा करते है कि "तू नियत कर्म कर (नियतं कुरु कर्म त्वम्)"—'नियतं' शब्दमें 'नियम्य'को लिया गया है और 'कुरु कर्म' शब्दमें 'आरभते कर्मयोगम्' को। यहां किसी बाह्य विधिद्वारा निश्चित वैध कर्मकी बात नही है, बल्कि गीताकी शिक्षा है मुक्त बुद्धिद्वारा नियत किया हुआ निष्काम कर्म।

हमें कुछ-न-कुछ कर्म करना पड़े, पर यह भी शरीरसंबंधी वासनाकी एक अधीनता ही तो हुई और ऐसी वासनासे भी हमे मुक्त होना होगा यदि हमें सिद्धि प्राप्त करनी है। परतु यदि हम यह मान ले कि ऐसा नही किया जा सकता, तो फिर एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि हम कर्मका कोई ऐसा नियम मान लें जो हमारे अपने-आपसे बाहरका हो और जो हमारे अत करणकी किसी चीजसे परिचालित न होता हो, अर्थात् जो मुमुक्षु है वह वैदिक नित्यकर्म, आनुष्ठानिक यज्ञ, दैनदिन कर्म, सामाजिक कर्त्तव्य आदि किया करे और इन सबको वह केवल इसलिये करे कि यह शास्त्रकी आज्ञा है तथा इनमें वह न तो कोई वैयक्तिक हेतु रखे और न आतरिक रस ले, वह जो कुछ करे सो सर्वथा उदासीन रहकर करे, प्रकृतिके वश होकर नही बल्कि शास्त्रका आदेश समझकर करे। परंतु यदि कर्मतत्त्व इस प्रकार बाहरकी कोई चीज न होकर अत.करणकी वस्तु हो, यदि मुक्त और ज्ञानी पुरुषोके कर्म भी उनके स्वभावसे ही नियत और निश्चित होते हो (स्वभावनियतम्) तब तो यह आतरिक तत्त्व एकमात्र कामना ही हो सकती है, फिर वह कामना चाहे कैसी ही हो; चाहे वह शरीरकी लालसा हो या हृदयका भावावेग हो या मनका कोई क्षुद्र या महान् ध्येय हो, पर यह कामना होगी प्रकृतिके गुणोंके अधीन ही। यदि यह मान लिया जाय तो गीताके नियत कर्मको वेदविहित नित्यकर्म और उसके 'कर्त्तव्य कर्म' को सामाजिक आर्यधर्म समझना होगा और उसके 'यज्ञार्थ कर्म' को वैदिक यज्ञ, एवं नि:स्वार्थ भावसे तथा बिना किसी वैयक्तिक उद्देश्यके किया हुआ बंधा-बधाया सामाजिक कर्त्तव्य समझना होगा। लोग गीताके नि.स्वार्थ कर्मकी बहुधा इसी तरहकी व्याख्या किया करते है। परतु मुझे ऐसा जान पड़ता है कि गीताकी शिक्षा इस सबके जितनी स्थूल और सहज नही है, इतनी देशकालमर्यादित और लौकिक तथा अनुदार नही है। गीताकी शिक्षा उदार, स्वतंत्र, सूक्ष्म और

गंभीर ह; सब काल और सब मनुष्योके लिये है, किसी खास समय और देशके लिये नही। गीताकी यह विशेषता है कि यह सदा बाहरी आकारो, ब्योरो और साप्रदायिक धारणाओके बधनोको तोड़कर मूल सिद्धांतोकी ओर तथा हमारे स्वभाव और हमारी सत्ताके महान् तथ्योकी ओर ही अपना रुख रखती है।. गीता व्यापक दार्शनिक सत्य और आध्यात्मिक व्यवहारिकताका ग्रथ है, सकुचित साप्रदायिक और दार्शनिक सूत्रो और बधे-बधाये मत-वादोका ग्रथ नही।

परन्तु कठिनाई यह है कि, हमारा स्वभाव, जैसा कि यह है उसके होते हुए और इसके कर्मोका प्रेरक तत्त्व 'काम' होनेके कारण निष्काम कर्म करना संभव है क्या? कारण जिस कर्मको हम लोग साधारणतया नि:स्वार्थ कर्म कहते है वह यथार्थमे निष्काम कर्म नही है, उदाहरणार्थ, पुण्य सचयके लिये, देशसेवाके लिये, मानवसमाजकी सेवाके लिये किये जानेवाले कर्मोमे अवश्य ही छोटे-मोटे वैयक्तिक स्वार्थ तो नही होते, पर इसकी जगह दूसरी-दूसरी बृहत्तर वासनाए होती है, जो बाहरसे देखनेमे ही नैर्व्यक्तिक-सी मालूम होती है। फिर कर्ममात्र ही, जैसा कि भगवान् आग्रहपूर्वक कहते है, प्रकृतिके गुणोद्वारा हमारे स्वभावद्वारा ही हुआ करता है; जब हम शास्त्रके अनुकूल आचरण करते है तब भी हम अपने स्वभावके ही अनुकूल कर्म करते होते है—शास्त्रोक्त कर्मका तो एक नाम हुआ करता है, उसके पीछे हमारी इच्छाए, हमारे पूर्वनिश्चित मत, आवेश, अहकार, हमारे वैयक्तिक, राष्ट्रीय और सांप्रदायिक अभिमान, मत और अनुराग छिपे होते है। यदि, मान लीजिये, ऐसा न भी हो और अत्यन्त विशुद्ध भावसे ही शास्त्रोक्त कर्म किया जाय तो भी ऐसे कर्मके करनेमें हम अपनी प्रकृतिकी पसन्दका ही अनुसरण करते है, क्योकि यदि हमारी प्रकृति ऐसे कर्मके अनुकूल न होती, यदि हमारी बुद्धि और हमारे संकलपपर गुणोंके किसी दूसरे संघातकी क्रिया हुई होती तो

हम शास्त्रोक्त कर्म करनेकी ओर कदापि न झुकते, बल्कि अपनी मौज या अपनी बुद्धिकी धारणाके अनुसार ही अपना जीवन व्यतीत करते होते अथवा सामाजिक जीवनका त्याग कर एकांतवास करते या वैरागी या सन्यासी हो जाते। अस्तु, अपने-आपसे बाहरका कोई विधान माननेसे ही हम नैर्व्यक्तिक नही हो सकते, कारण इस प्रकार हम अपने-आपसे बाहर हो ही नही सकते। यह काम हम केवल हमारे अन्दर जो उच्चतम तत्त्व है उसको प्राप्त करके ही कर सकते है, अर्थात् हमे हमारे नित्यमुक्त अन्तरात्मा और जीवात्माको प्राप्त करना होगा, जो सबके अन्दर वही 'एक' ही है और इसलिये इसका अपना कोई निजी स्वार्थ होता ही नही, और फिर हमें हमारी सत्तामे जो भगवान् है उन्हे प्राप्त करना होगा, क्योकि भगवान् अपनी विश्वातीत महिमामे नित्यप्रतिष्ठ होनेके कारण अपने विश्वकर्मो और अपनी व्यक्तिगत क्रियाओसे बंधे हुए नही है—जब हम यह कर सकेगे तभी हम अपने नर्व्यक्तिक स्वरूपमे प्रतिष्ठ हो सकेंगे। यही गीताकी शिक्षा है और निष्कामता इस नैर्व्यक्तिक अवस्थाको प्राप्त करनेका केवल एक साधन है, स्वयं कोई साध्य नही। माना, पर यह हो कैसे ? केवल यज्ञार्थ कर्मके द्वारा—इस विषयमे भगवान्का जो उत्तर है वह यही है। "यज्ञार्थको छोड़कर जो कर्म किये जाते है उससे यह मनुष्यलोक कर्ममे बंधा है; तू, हे कुंतिसुत, मुक्तसग होकर यज्ञके लिये कर्म कर।" यह स्पष्ट है कि केवल यज्ञ-याग और सामाजिक कर्त्तव्य ही नही, बल्कि सभी कर्म इस भावसे किये जा सकते है। कोई भी कर्म संकुचित या संवर्धित अहभावसे किया जा सकता है या फिर भगवान्के लिये किया जा सकता है। प्रकृतिकी सारी सत्ता और सारा कर्म भगवान्के लिये ही है; भगवान्से ही उसका उद्भव होता है, भगवान्से ही उसकी स्थिति है और भगवान्की ओर ही उसकी गति। पर जबतक हम अहंभावके ही अधीन है तबतक हम इस सत्यको नहीं जान सकते न सत्यके इस भावके साथ कर्म

कर सकते हैं, तबतक हमारा सारा कर्म अहंभावसे, अहंकारकी तुष्टिके लिये अर्थात् यज्ञके विपरीत भावसे (यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र) ही हुआ करता है। यह अहकारकी ही बधनकी गांठ है। अहंकारको छोड़कर, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेसे यह गाठ ढीली पड़ जाती है और अन्तमे हम मुक्त हो जाते है।

जो हो, आरभमे गीताने यज्ञके वेदोक्त भावको ही ग्रहण किया है और उस समयकी वैदिक प्रचलित परिपाटीके अनुसार ही यज्ञके विधानका वर्णन किया है। ऐसा करनेका एक विशिष्ट हेतु है। हम लोग यह देख चुके है कि सन्यास और कर्मने जो झगड़ा है उसके दो रूप है, एक साख्य और योगका विरोध जिसका सिद्धातत: समन्वय इससे पहले किया जा चुका है और दूसरा वेदवाद और वेदातवादका विरोध जिसका समन्वय भगवान् गुरु अब करेगे। इस विरोधविषयक पहले वर्णनमे श्रीकृष्णने कर्मको सर्वसाधारण और व्यापक अर्थमे ग्रहण किया है। साख्यका निरूपण आरंभ होता है इसी सिद्धातको मानकर कि अक्षर और अकर्त्ता पुरुषकी जो स्थिति है वही परा स्थिति है और प्रत्येक जीव यही अक्षर अकर्त्ता पुरुष है तथा पुरुषका नैष्कर्म्य और प्रकृतिकी कर्मण्यता ये दोनो परस्पर-विरोधी तत्त्व हैं। अतएव साख्य-सिद्धातका कर्मकी समाप्तिमे पर्यवसान होना न्यायसगत ही है। दूसरी ओर, योगमार्गका निरूपण आरभ होता है भगवान्की धारणाके साथ, उन भगवान्की जो ईश्वर है, प्रकृतिके कर्मोके स्वामी है, इसलिये उनके परे है, अतएव योगमार्गका पर्यवसान कर्मकी समाप्तिमें नही होना बिलकुल युक्तिसगत है, योगमार्गका पर्यवसान है समस्त कर्म करते हुए भी जीवकी श्रेष्ठता और मुक्तावस्थामे। अब वेदवाद और वेदातवादके बीच जो विरोध है उसमे कर्म वैदिक कर्मोमे ही परिसीमित है और कही-कहीपर तो कर्मका अभिप्राय वैदिक यज्ञ और श्रौतकर्मोसे ही है, बाकी सब कर्मोको मुक्तिमार्गके लिये अनुपयुक्त कहकर छोड़ दिया गया है। मीमांसकोंके

वेदवादने इन कर्मोंको मुक्तिके साधन मानकर इनको करनेपर जोर दिया और वेदांतवाद उपनिषदोंपर अपना आधार रखकर इनको केवल प्राथमिक अवस्थाके लिये ही स्वीकार किया और वह भी यह कहकर कि कर्म अज्ञानकी अवस्थाके है और अंतमें इनका अतिक्रमण और त्याग ही करना होगा, क्योंकि मुमुक्षुके लिये कर्म बाधक है। वेदवाद यज्ञके साथ देवताओकी पूजा करता और इन देवताओंको वे शक्तियां मानता ह जो हमारी मुक्तिकी सहायक है। वेदांतवादके मतसे ये देवता सब मानसिक और जड़प्राकृतिक जगत्की शक्तियां है और हमारी मुक्तिके बाधक हैं (उपनिषद् कहते है कि मनुष्य देवताओके ढोर है और देवता यह नही चाहते कि मनुष्य ज्ञानवान् और मुक्त हों); इसने भगवान्को अक्षर ब्रह्म-रूपमें देखा है और इसके अनुसार हम ब्रह्मको यज्ञकर्मों और उपासनाकर्मोंके द्वारा नही, बल्कि ज्ञानद्वारा ही प्राप्त कर सकते है। वेदांतवादके मतसे कर्म केवल भौतिक फलोंको देनेवाले है, और उनसे प्राप्त होनेवाला स्वर्ग भी कनिष्ठ कोटिका ही है; इसलिये कर्मोंका त्याग करना ही होगा।

गीता इस विरोधका समाधान इस सिद्धांतके प्रतिपादनसे करती है कि ये देवता एक ही देवके, ईश्वरके, सब योगों उपासनाओं यज्ञों और तपोंके परमेश्वरके ही केवल अनेक रूप है, और जितनी यह बात सच है कि देवताओंको दिया हुआ हव्य भौतिक फल और स्वर्गको देनेवाला है उतनी ही यह बात भी सच है कि ईश्वरप्रीत्यर्थ किया हुआ यज्ञ इनके परे ले जानेवाला और महान् मोक्षका देनेवाला होता है। कारण परमेश्वर और अक्षर ब्रह्म कोई दो अलग-अलग सत्ताएं नहीं हैं, बल्कि दोनों एक ही है और इसलिये जो कोई इनमेंसे किसीको भी पानेकी चेष्टा करता है वह उसी एक ही भागवत सत्ताको पानेकी चेष्टा करता है। समस्त कर्म ज्ञानमें परिसमाप्त होते हैं (सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते)। कर्म अंतराय नहीं हैं, बल्कि परम ज्ञानके साधन

हैं। इस प्रकार इस विरोधका भी यज्ञ शब्दके अर्थको व्यापक दृष्टिसे सुस्पष्ट करके समाधान किया गया है। यथार्थमें यह विरोध योग और साख्यका जो बड़ा विरोध है उसीका एक सक्षिप्त रूप है। वेदवाद योगका ही एक विशिष्ट और मर्यादित रूप है; और वेदातियोका सिद्धात हूबहू सांख्योके सिद्धांत जैसा ही है, क्योंकि दोनोंके लिये ही मोक्ष प्राप्त करनेकी साधना है बुद्धिका प्रकृतिकी भेदात्मक शक्तियोसे, अहंकार मन और इन्द्रियोंसे तथा आतरिक और बाह्य विषयोसे निवृत्त होकर निर्विशेष और अक्षर पुरुषमें वापस लौट आना। विभिन्न मतोंका समन्वय साधन करनेकी इस बातको ध्यानमे रखकर ही भगवान् गुरुने यज्ञविषयक अपने सिद्धांतके कथनका उपक्रम किया है; परंतु इस संपूर्ण कथनमें आरंभसे अंततक, उपक्रमके 'अथ'तकमें उनका ध्यान यज्ञ और कर्मके मर्यादित वैदिक अर्थपर नही, बल्कि उनकी उदार और व्यापक व्यवहार्यतापर रहा है—गीताकी दृष्टि सदा इन मतोंकी मर्यादित और बाह्य धारणाओंको विस्तृत करने और इन्होंने जिन महान् सर्वसाधारण सत्योको सीमित रूप दे रखा है उन्हें उनके सत्य स्वरूपमें प्रकट करनेपर रही है।

यज्ञ-रहस्य

यज्ञसंबंधी गीताकी परिकल्पनाका वर्णन दो स्थलोमे हुआ है; एक तीसरे अध्यायमे और दूसरा चौथे अध्यायमे। पहला वर्णन इस तरहका है कि यदि हम उसीको देखे तो ऐसा मालूम होगा कि गीता केवल आनुष्ठानिक यज्ञकी बात कह रही है, दूसरा वर्णन उसीको एक बहुत व्यापक दार्शनिक अर्थका प्रतीक बनाता है और इस प्रकार उसका अभिप्राय ही एकदम बदलकर उसे आतरिक और आध्यात्मिक सत्यके एक ऊचे क्षेत्रमे ला बैठाता है। "पूर्वमे यज्ञके साथ प्रजाओंकी सृष्टि करके प्रजापतिने कहा, इससे तुम लोग फलो-फूलो, यह तुम्हारी सब इच्छाओको पूर्ण करनेवाला हो। इससे तुम लोग देवताओका पोषण करो और देवता तुम्हारा पालन-पोषण करे; परस्पर पालन-पोषण करते हुए तुम लोग परम श्रेयको प्राप्त होओगे। यज्ञसे पुष्ट होकर देवता तुम्हें इष्ट भोग प्रदान करेगे, जो कोई उनके दिये हुए भोगोको भोगता है और उन्हे नही देता है, वह चोर है। जो यज्ञसे बचे हुए अन्नका भक्षण करते हैं वे सब पापोसे मुक्त हो जाते है; परंतु वे पापी है और वे पाप ही भक्षण करते हैं जो अपने ही लिये रसोई बनाते है। अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते है, अन्न वर्षासे होता है, वर्षा यज्ञसे होती है, यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है; कर्मको यह समझो कि ब्रह्मसे उत्पन्न होता है और ब्रह्मकी उत्पत्ति अक्षरसे ह; इस-लिये सर्वगत जो ब्रह्म है वह यज्ञमें प्रतिष्ठित है। इहलोकमें जो कोई इस प्रकार चलाये हुए चक्रके पीछे नही चलता उसका जीवन पापमय है, वह इंद्रियोंमें रमता है; व्यर्थ ही, हे पार्थ, वह जीता है।"

इस प्रकार यज्ञकी आवश्यकता बतलाकर—अवश्य ही हमें आगे चलकर यह देखना है कि यहा यज्ञका जो वर्णन है जो प्रथम दृष्टिमें कर्मकांडसबधी परंपरागत मान्यता और आनुष्ठानिक हवन करनेकी आवश्यकताका ही निर्देश करता हुआ प्रतीत होता है उसे हम लोग और किस व्यापक अर्थमे ग्रहण कर सकते है—श्रीकृष्ण आगे यह बतलाते है कि इन कर्मोंकी अपेक्षा उस पुरुषकी स्थिति श्रेष्ठ है जो आत्मामे स्थित है। "जिस पुरुष की रति अपने आत्माके अंदर ही है, जो आत्मासे ही तृप्त है, आत्मामे ही सतुष्ट है, उसके लिये ऐसा कोई कर्म नही है जिसका करना आवश्यक हो। उसे कृत कर्मसे न तो कुछ पाना है न अकृत कर्मसे कुछ लेना है, न किसी इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिये समस्त भूतोमे किसीपर भी निर्भर करना है।"

ये दो विभिन्न आदर्श है दोनो मानो अपने मूलगत परस्पर-पार्थक्य और विरोधको लिये हुए खड़े है। एक है वैदिक आदर्श और दूसरा है वेदातिक आदर्श; एक है यज्ञके द्वारा और मनुष्यों तथा देवताओके परस्पर अवलबनके द्वारा इहलोकमे ऐहिक भोग और परलोकमे परम श्रेयकी प्राप्तिका सक्रिय आदर्श, और उसीके सामने दूसरा है उस मुक्त पुरुषका कठोर आदर्श जो आत्माके स्वातंत्र्यमे स्थित है और इसलिये जिसे भोगसे या कर्मसे अथवा मानव-जगत्से या दिव्य जगत्से कुछ भी मतलब नही है, जो परम आत्माकी शातिमे निवास करता, ब्रह्मके प्रशांत आनदमे रमण करता है। इसके आगेके श्लोक इन दो चरम पंथोके बीच समन्वय साधन करनेके लिये जमीन तैयार करते है; इस समन्वयका रहस्य यह है कि उच्चतर सत्यकी ओर झुकनेके साथ ही जिस वृत्तिका ग्रहण इष्ट है वह अकर्म नही, बल्कि निष्काम कर्म है जो उस सत्यकी उपलब्धिके पहले और पीछे भी वांछनीय है। मुक्त पुरुषको कर्मसे कुछ लेना नही है, पर अकर्मसे भी उसे कोई लाभ उठाना नही है; उसे कर्म और अकर्ममेसे किसी एकको अपने ही लाभ या हानिकी दृष्टिसे पसंद नही करना है। "इसलिये अनासक्त हो-

कर सतत कर्तव्य कर्म करो (संसारके लिये, लोक-संग्रहके लिये जैसा कि आगे उसी सिलसिलेमें स्पष्ट किया गया है); क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेसे पुरुष परमको प्राप्त होता है। कर्मके द्वारा ही जनक और दूसरे-दूसरे लोगोने सिद्धिलाभ की।" यह सच है कि कर्म और यज्ञ परम श्रेयके साधक है, "श्रेयः परमवाप्स्यथ"; परंतु कर्म तीन प्रकारके होते है; एक वह जो यज्ञके बिना वैयक्तिक सुखभोगके लिये किया जाता है, ऐसा कर्म सर्वथा स्वार्थ और अहंकारसे भरा हुआ होता है और जीवनके वास्तविक धर्म, ध्येय और उपयोगसे वंचित रहता है, "मोघं पार्थ स जीवति"; दूसरा वह कर्म है जो होता तो है कामनासे ही पर यज्ञके साथ, और इसका भोग केवल यज्ञके फलस्वरूप ही होता है, और इसलिये उस हदतक यह कर्म निर्मल और पवित्र होता है; तीसरा वह कर्म है जिसमें कोई कामना या आसक्ति नही होती। इसी अंतिम कर्मसे जीव परमको प्राप्त होता है, "परमाप्नोति पूरुषः।"

यज्ञ, कर्म और ब्रह्म, इन शब्दोंसे जो अर्थ हम ग्रहण करे उसीपर इस शिक्षाका सपूर्ण अर्थ और अभिप्राय निर्भर करता है। यदि यज्ञका अर्थ केवल वैदिक यज्ञ ही हो, यदि जिस कर्मसे इसका जन्म होता है वह वैदिक कर्मविधि ही हो और यदि वह ब्रह्म जिससे समस्त कर्मोंका उद्भव होता है वह वेदोंकी शब्दराशिरूप 'शब्दब्रह्म' ही हो तो वेदवादियोंका जो कुछ मत है वह भी सभी स्वीकृत हो जाता है और फिर कहने-सुननेको कुछ नही रह जाता। आनुष्ठानिक यज्ञ संतति, संपत्ति और भोगकी प्राप्तिका सम्यक् साधन है; इस यज्ञका विधिपूर्वक संपादन करनेसे आदित्यलोकसे वृष्टि होती है और सुख-समृद्धि तथा वंशविस्तारका होना निश्चित हो जाता है; मानव-जीवन देवताओं और मनुष्योंके बीच आदान-प्रदानका चिरंतन व्यापार है जिसमे मनुष्य देवताओके दिये हुए भोग्य विषयोंमेंसे यज्ञाहुतिके द्वारा देवताओंको अंश प्रदान करते है और इसके बदलेमें देवता उन्हें संपन्न, सुरक्षित और संवर्द्धित करते है। इस-

लिये समस्त मानव-कर्मोंको आनुष्ठानिक यज्ञों और विधिवत् पूजनोंके साथ करना होगा और उन्हे धर्म-संस्कार मानना होगा; जो कर्म इस प्रकार देवताओंको अर्पित नही किया जाता वह अभिशप्त होता है; पहले आनुष्ठानिक यज्ञ किये बिना और देवताओको चढ़ाये बिना जो भोग भोगा जाता है वह पाप होता है। मोक्ष भी, परम श्रेय भी आनुष्ठानिक यज्ञसे प्राप्त होता है। इसको कभी भी छोड़ना नही होगा। मुमुक्षुको भी आनुष्ठानिक यज्ञ करते रहना चाहिये, यद्यपि वह हो आसक्तिरहित; आनुष्ठानिक यज्ञों और शास्त्रोक्त कर्मोंको निःसंग होकर करनेसे ही जनकादिकोको आत्मसिद्धि और मुक्ति प्राप्त हुई।

पर यह स्पष्ट है कि गीताका यह अभिप्राय नही हो सकता; क्योंकि ग्रंथके और सब स्थलोमे जो कुछ कहा गया है वह इसके विरुद्ध है। यज्ञ शब्दकी जो उद्‌बोधक व्याख्या चौथे अध्यायमे की गयी है उसको यहा न ले आवे तो भी जो कुछ यहां कहा गया है उसीमे यज्ञ शब्दकी व्यापकताका हमे संकेत मिलता है। यहा यह कहा गया है कि यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है, कर्म ब्रह्मसे, ब्रह्म अक्षरसे; इसलिये सर्वगत ब्रह्म यज्ञमे प्रतिष्ठित है। यहांपर "इसलिये" शब्दका पूर्वापर संबध और "ब्रह्म" शब्दकी पुनरुक्ति विशेष अर्थ रखते है; कारण इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस ब्रह्मसे सब कर्म उत्पन्न होते हैं उस ब्रह्मको हमे प्रचलित वेदवादियोका शब्दब्रह्म उतना नही समझना होगा जितना कि वेदका रूपात्मक अर्थ करके सर्जनकारी शब्दको सर्वगत ब्रह्मके साथ, शाश्वत पुरुषके साथ, सब भूतोमे जो एक आत्मा है उसके साथ तथा समस्त भूतोंकी क्रियाओंके अंदर प्रतिष्ठित जो ब्रह्म है उसके साथ, एक समझना होगा। वेद है भगवद्विषयक ज्ञान—आगे चलकर एक अध्यायमें श्री-

कृष्ण कहेंगे कि मैं वह हूं जो सब वेदोंका वेद्य अर्थात् ज्ञातव्य तत्त्व है, "वेदेषु वेद्यः"; पर उनके विषयका यह ज्ञान प्रकृतिके द्वारा होनेवाले त्रिगुणात्मक कर्मोंके अंदर उनकी जो सत्ता है उसीका ज्ञान है, "त्रैगुण्यविषयावेदाः।" प्रकृति-गत कर्मोंमे स्थित यह ब्रह्म या भगवत्तत्त्व, ऐसा कहा जा सकता है कि, उस अक्षर ब्रह्म या पुरुषसे उत्पन्न हुआ है जो निस्त्रैगुण्य है, प्रकृतिके सब गुणों और गुण-कर्मोंके ऊपर है। ब्रह्म एक है, पर उसकी आत्म-अभिव्यक्तिके दो पहलू है; एक है अक्षर पुरुष 'आत्मा' और दूसरा है सब भूतोमे कर्मोंका स्रष्टा और प्रवर्तक 'सर्वभूतानि', पदार्थमात्रका अचल सर्वस्थित आत्मा और पदार्थमात्रमे होनेवाली चलत् क्रियाका आध्यात्मिक तत्त्व; आत्मस्थित निष्क्रिय पुरुष और प्रकृतिस्थ सक्रिय पुरुष; ये ही ब्रह्मके दो भाव है, अक्षर और क्षर। इन दोनो ही भावोमे पुरुषोत्तम अपने-आपको विश्वमे अभि-व्यक्त करते है; गुणोके परे जो अक्षर भाव है वही है उनकी शांतिकी, आत्मवत्ताकी और समताकी स्थिति, उसीको 'समंब्रह्म' कहते है; उसीसे प्रकृतिके गुणोमे और विश्वके सब कर्मोंमें उनका प्राकटय होता है; प्रकृतिमे स्थित इन पुरुषसे, इन सगुण ब्रह्मसे ही मनुष्यमें और सब भूतोमे कर्मकी*

---

*कर्म, ब्रह्म, अक्षर, इन शब्दोका यही वास्तविक अर्थ है, यह बात आठवें अध्यायके उपक्रमसे भी स्पष्ट होती है जहां अक्षर (ब्रह्म), स्वभाव, कर्म, क्षरभाव, पुरुष, अधियज्ञ इन विश्व-तत्त्वोंका विवरण है। अक्षर अचल अविनाशी आत्मा है; स्वभाव आत्मतत्त्व है, वह अध्यात्मतत्त्व जो पुरुषकी मूल प्रकृति, स्वयंभू—स्वयं होनेकी प्रकृति है और अक्षर ब्रह्मसे ही इसकी प्रवृत्ति है; कर्मकी प्रवृत्ति उसीसे होती है, यह कर्म सर्जन कर्म अंर्थात् विसर्ग है जिससे प्रकृति-

उत्पत्ति होती है; इस कर्मसे ही यज्ञतत्त्व पैदा होता है। देवताओं और मनुष्योके बीच द्रव्योंका आदान-प्रदान भी इसी तत्त्वपर चलता है, जैसा कि वर्षा और उससे होनेवाले अन्न-का इसी क्रियापर निर्भर करना और उनसे फिर प्राणियोका उत्पन्न होना दृष्टांतस्वरूप बताया गया है। प्रकृतिका सारा कर्म ही अपने वास्तविक रूपमें यज्ञ है और सब कर्म, यज्ञ और तपोके भोक्ता सर्वभूतमहेश्वर श्रीभगवान् है "भोक्तारं यज्ञतपसा सर्वभूतमहेश्वरम्।" और इन भगवान्‌को जो सर्वगत है तथा यज्ञमे नित्य प्रतिष्ठित है, "सर्वगत नित्य यज्ञे प्रतिष्ठित", जानना ही सच्चा वैदिक ज्ञान है।

परतु इन्ही भगवान्‌को हम देवताओके रूपसे अर्थात् प्रकृतिस्थ परमेश्वरकी शक्तियोके रूपसे कर्मकी कनिष्ठ कोटिमे तथा इन शक्तियो और मानव-जीवके बीच होनेवाले सनातन परस्पर-व्यवहारमे भी जान सकते है। यह व्यवहार परस्पर-आदान-प्रदान, परस्पर-साहाय्य-सवर्द्धन और परस्परके कार्योंका उन्नयन रूप ऐसा व्यवहार है जिसमे मनुष्य उत्तरोत्तर परम श्रेयकी प्राप्तिका अधिकाधिक पात्र होता है। इस व्यवहारके द्वारा वह यह जानने लगता है कि उसका जीवन प्रकृतिस्थ परमेश्वरके कर्मका एक अशमात्र है, कोई ऐसा जीवन नही है जिसको वह अपने लिये ही धारण करे या बितावे। उसे

के सब भूत और भूतोके सब आतर और बाह्य रूप निर्मित होते है, कर्मका फल, इस प्रकार यह सारा क्षर भाव है जो स्वभावसे ही निकलकर प्रकृतिके इस नानात्वको प्राप्त हुआ है; पुरुष है जीव-भूत प्रकृतिगत भगवत्तत्त्व, अधि-दैवत, जिसकी उपस्थितिसे ही कर्मकी क्रिया अन्तःस्थित भगवान्‌के प्रति यज्ञ-स्वरूप होती है; अधियज्ञ ये ही गूढाशय स्थित भगवान् है जो इस यज्ञको ग्रहण करते है।

जो भोग प्राप्त होते हैं और उसकी कामनाओंकी जो पूर्ति होती है उन्हें वह यज्ञका फल और भागवत विश्वक्रियारत देवताओंकी दी हुई देन जानता है, और अब वह पापमय अहंकारपूर्ण स्वार्थपरताके मिथ्या और दुष्ट भावसे प्रेरित होकर उन भोगोंका पीछा करना छोड़ देता है और यह नहीं समझता कि ये भोग कोई ऐसा श्रेय है जो उसको अपने निजी बलकी ताकतपर जीवनसे छीन लेना है और इसके लिये उसे जीवनको न तो कोई प्रतिदान देना है न उसका कृतज्ञ होना है। यह भाव उसमें ज्यों-ज्यो बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह अपनी इच्छाओंको अपने अधीन करता है, जीवन और कर्मोंका सारतत्त्व यज्ञको ही जानकर उससे सतुष्ट होता और यज्ञावशेषको पाकर ही परितृप्त होता है, बाकी जो कुछ है उसे अपने जीवन और जगत्-जीवनके बीच परस्पर होनेवाले महान् और परम हितकर आदान-प्रदानपर स्वच्छंद रूपसे न्योछावर कर देता है। कर्मके इस विधानके विरुद्ध जो कोई चलता है और अपने ही वैयक्तिक पृथक् स्वार्थकी सिद्धिके नाते ही जो कर्म करता और फल भोग करता है वह व्यर्थ ही जीता है; वह जीवनके वास्तविक अर्थ और उद्देश्य और उपयोग तथा जीवकी ऊर्ध्वगतिसे वंचित रहता है; वह उस मार्गपर नही ह जो परम श्रेयकी ओर ले जाता है। परंतु परम श्रेयकी प्राप्ति होती है तभी जब यज्ञ किया जाता है देवताओके लिये नहीं, बल्कि उन सर्वगत श्रीपरमेश्वरके लिये जो यज्ञमें प्रतिष्ठित हैं और देवता जिनके कनिष्ठ रूप और शक्तियां हैं, और जब यजमान अपने काम-भोगपरायण अधमात्माको किनारे कर अपने व्यष्टिगत कर्त्तृत्वभावको सब कर्मोंकी यथार्थ कर्त्री प्रकृतिको तथा अपने भोक्तृत्वभावको प्रकृतिके सब कर्मोंके यथार्थ भोक्ता श्रीपरमेश्वर, परमात्मा, जगदात्मा-

को, अर्पण कर देता है। उसी परम आत्मस्थितिमें अपने किसी व्यष्टिगत भोगमे नही, वह अपना ऐकातिक सतोष, परम तृप्ति और विशुद्ध आनंद लाभ करता है; उसे अब कर्म या अकर्म से कुछ लेना देना नहीं ह, वह किसी भी पदार्थके लिये न देवताओंका आश्रित है न मनुष्योका, किसीसे वह किसी अर्थकी अभिलाषा नही करता; क्योकि वह स्वात्मानंदसे ही पूर्ण परितृप्त है; परंतु फिर भी वह केवल भगवान्‌के लिये, आसक्ति या कामनासे रहित होकर यज्ञरूपसे कर्म करता है। इस प्रकार वह समत्वको प्राप्त होता और प्रकृतिके त्रिगुणसे मुक्त "निस्त्रैगुण्य" हो जाता है; उसका आत्मा, जब वह प्रकृतिकी कर्मधारामे कर्म करता होता है तब भी, प्रकृतिकी अस्थिरतामे नही, बल्कि अक्षर ब्रह्मकी शातिमे स्थित होता है। इस प्रकार यज्ञ परमपदकी प्राप्तिमे उसका साधन-मार्ग होता है।

यज्ञसबंधी इस प्रकरणका यही अभिप्राय है, यह बात इसके आगे जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो जाती है, अर्थात् यह जो कहा गया कि कर्मका ध्येय लोकसंग्रह होना चाहिये, कर्म करनेवाली केवल प्रकृति है और भागवत पुरुष उन सब कर्मोंका समान भर्त्ता है तथा सब कर्म करते समय ही इस भागवत पुरुषको अर्पण करने होंगे—अन्तःकरणसे इस प्रकार सब कर्मोंका त्याग और फिर भी कर्मेंद्रियोद्वारा उनका आचरण, यही यज्ञकी परिसमाप्ति है—तथा यह जो कहा गया कि सम और निष्काम बुद्धिसे इस प्रकार जो कर्ममय यज्ञ किया जाता है उसका फल कर्मोंके बंधनोसे मुक्त होना है, ये सभी बातें इसी अभिप्रायको व्यक्त करनेवाली है। "जो पुरुष जो कुछ भी मिल जाय उसीसे संतुष्ट और सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है वह कर्म करके भी उसमें नही बंधता। जब कोई मुक्त अनासक्त पुरुष, यज्ञार्थ कर्म करता है तो

उसके समस्त कर्मोंका लय हो जाता है (समग्रं प्रविलीयते)," अर्थात् वह कर्म उसके मुक्त, शुद्ध, सिद्ध, सम आत्मापर अपना कोई बंधनकारक परिणाम या मंस्कार नही छोड़ जाता। यज्ञसंबंधी गीताके इन श्लोकोंकी आगे चलकर हमें फिरसे आलोचना करनी होगी। इन श्लोकोंके बाद ही यज्ञके अर्थकी विशद व्याख्या गीताने की है और वहां जिस भाषाका प्रयोग किया गया है उससे इस विषयमे कोई संदेह नही रह जाता कि यज्ञसबंधी यहां जो वर्णन है वह रूपात्मक है और इस शिक्षाके द्वारा जिस यज्ञको करनेके लिये कहा गया है वह यज्ञ आन्तरिक है। प्राचीन वैदिक पद्धतिमें सदा ही दो तरहका अर्थ रहा है, एक भौतिक और दूसरा मनोवैज्ञानिक, एक बाह्य और दूसरा रूपकात्मक, एक यज्ञका बाह्य अनुष्ठान और दूसरा उसकी सब विधियोंका आंतरिक आशय। परंतु प्राचीन वैदिक योगियोकी गूढ़ रहस्यमय रूपकात्मक भाषाको, जो सर्वथा यथावत्, अद्भुत, कवित्वमय और मनोवैज्ञानिक थी, इस समयतक लोग भूल चुके थे और इसलिये अब गीतामे उसीके स्थानमें वेदांत और पश्चात्कालीन योगके भावको लेकर व्यापक, सर्वसामान्य और दार्शनिक भाषाका प्रयोग किया गया है। यज्ञकी अग्निसे यहां किसी स्थूल अग्निका अभिप्राय नही है, प्रत्युत वह ब्रह्माग्नि अथवा ब्रह्ममुखीन ऊर्ध्वगामिनी शक्ति, आभ्यतर अग्नि, यज्ञपुरोहित स्वरूप अत:शक्ति अभिप्रेत है जिसमे हवन किया जाता है; अग्नि है फिर आत्म-सयम या विशुद्ध इद्रिय-क्रिया अथवा राजयोग और हठयोगमे समान रूपसे प्रयुक्त प्राणायामसाधनकी प्राणशक्ति, अथवा अग्नि है आत्म-ज्ञानाग्नि, आत्मार्पणरूप यज्ञकी अग्निशिखा। यज्ञका अवशिष्ट जो भक्षण किया जाता है उसको यह बतलाया गया है कि वह हुतशेष अमृत है; यहां भी हम देखते हैं

कि वेदोंकी वही रूपकात्मक भाषा कुछ-कुछ है, जिसमे सोम-रसको अमृतका भौतिक प्रतीक कहा जाता था—अमृत स्वयं वह दिव्य और अमरत्वप्रद आनंद है जो यज्ञसे प्राप्त होता, देवताओंको चढाया जाता और मनुष्योद्वारा पान किया जाता है। इस यज्ञमे मनुष्यकी भौतिक या मनोवैज्ञानिक किसी भी शक्तिका कोई भी कर्म हव्य है जो उसके द्वारा शारीरिक क्रिया अथवा मानसिक क्रियाके रूपमे देवताओके लिये, अथवा देवाधिदेवके लिये, आत्माके लिये अथवा विश्वसचालक शक्तियोके लिये, अपनी ही उच्चतर सत्ताके लिये अथवा मानव-जाति और सर्वभूतोके अतरात्माके लिये उत्सर्ग किया जाता है।

यज्ञका यह जो विस्तृत विवरण है उसका उपक्रम ही यज्ञकी एक ऐसी विशाल व्यापक व्याख्याके साथ होता है जिसमे यह स्पष्ट रूपसे घोषणा की गयी है कि यज्ञकी क्रिया, यज्ञकी अग्नि, यज्ञकी हवि, यज्ञका होता और यज्ञका भोक्ता, यज्ञका ध्येय और यज्ञका उद्देश्य, सब एक ब्रह्म ही है।

ब्रह्मार्पण ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्य ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।

"अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्मके द्वारा ब्रह्माग्निमे ही अर्पित है, ब्रह्मकर्ममे समाधिके द्वारा ब्रह्म ही वह है जिसे पाना है।" यही वह ज्ञान है जिससे युक्त होकर मुक्त पुरुषको यज्ञकर्म करना होगा। "सोऽहं", "सर्व खल्विद ब्रह्म, ब्रह्म एव पुरुषः" इन सब महान् वेदांत-वाक्योमे प्राचीन कालमे इसी ज्ञानकी घोषणा हुई है। समग्र एकत्वका यह ज्ञान है; वह एक है जो कर्त्ता कर्म और कर्मोद्देश्यके रूपसे, ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयके रूपसे प्रकट है। जिस विश्वशक्तिमे कर्मकी आहुति दी जाती है वह स्वयं भगवान् है; आहुति देनेकी उत्सृष्ट शक्ति भगवान् है; जिस किसी वस्तुकी आहुति

दी जाती है वह भगवान्‌का ही कोई-न-कोई रूप है, होता भी मनुष्यके अंदर स्वयं भगवान् ही है; क्रिया, कर्म, यज्ञ सब गतिशील कर्मशील भगवान् ही हैं; यज्ञके द्वारा गतव्य स्थान भी भगवान् ही हैं। जिस मनुष्यको यह ज्ञान है और जो इसी ज्ञानमें रहता और कर्म करता है उसके लिये बंधन करनेवाला कर्म कोई हो ही नहीं सकता, उसका कोई कर्म वैयक्तिक और अहंकार-प्रयुक्त नही होता। केवल दिव्य पुरुष ही है जो अपनी दिव्य प्रकृतिके द्वारा अपनी ही सत्तामे कर्म करता है और यह कर्म यही होता है कि वह अपनी ही स्वात्म-चेतन विश्व-शक्तिकी अग्निमे प्रत्येक पदार्थकी आहुति देता है; और इस भगवत्-परिचालित गति और कर्मका लक्ष्य है जीवका, भगवान्‌के साथ एकीभूत होकर, भगवान्‌की स्थिति और चेतनाके ज्ञानको प्राप्त करना और उनपर स्वत्व रखना। इस तत्त्वको जानना और इसी एकत्व-साधक चेतनामे रहना और कर्म करना ही मुक्त होना है।

परंतु योगियोंमें भी सभी इस ज्ञानको नहीं प्राप्त होते। "कुछ योगी दैव यज्ञ (देवताओके प्रीत्यर्थ किये जानेवाले यज्ञ) करते है; कुछ और यज्ञको यज्ञके द्वारा ही ब्रह्माग्निमें हवन करते है।" दैव यज्ञ करनेवाले भगवान्‌की कल्पना, उनके विविध रूपों और शक्ति-योंमें करते है और विविध साधनों या धर्मोंके द्वारा, अर्थात् कर्म-संबंधी सुनिश्चित विधि-विधान, आत्मसंयम और उत्सृष्ट कर्मके द्वारा उन्हें ढूंढ़ते है; और जो ब्रह्माग्निमे यज्ञके द्वारा ही यज्ञका हवन करनेवाले है अर्थात् जो ज्ञानी है उनके लिये, यज्ञका सीधा-सादा भाव ही अर्थात् जो कुछ भी कर्म किया जाय वह सीधे भग-वान्‌को ही अर्पण कर देना, अपनी सारी वृत्तियों और इंद्रिय-व्यापारोंको एकीभूत भागवत चैतन्य और शक्तिमें निक्षिप्त कर देना ही एकमात्र साधन है, एकमात्र धर्म है; यज्ञके साधन विविध है, हव्य भी नानाविध हैं। एक आत्म-वशित्व और आत्मसंयम-रूप आंतरिक यज्ञ है जिससे उच्चतर आत्मवत्ता और आत्मज्ञान-

की प्राप्ति होती है। "कुछ अपनी इद्रियोंको संयमाग्निमें हवन करते है, कुछ दूसरे इंद्रियाग्निमें विषयोका हवन करते है, कुछ समस्त इंद्रियकर्मों और प्राणकर्मोंका ज्ञानदीप्त आत्मसयमयोग-रूपी अग्निमे हवन करते है।" तात्पर्य, एक साधना यह है कि इद्रियोंके विषयोका ग्रहण तो किया जाता है, पर उस इद्रियव्यापार-से मनको कोई क्षोभ नही होने दिया जाता, मनपर उसका कोई असर नहीं पडने दिया जाता, इंद्रिया स्वयं ही विशुद्ध यज्ञाग्नि बन जाती है। फिर यह भी एक साधना है जिसमें इंद्रियोको इतना स्तब्ध कर दिया जाता है कि अतरात्मा अपने विशुद्ध, स्थिर और शांत रूपमे मन·क्रियाके परदेके भीतरसे निकलकर प्रकट हो जाता है। एक साधना यह है जिससे, आत्मस्वरूपका बोध होनेपर, सब इंद्रियकर्म और प्राणकर्म उस एक स्थिर प्रशांत आत्मामे ही ले लिये जाते है। सिद्धिका साधक योगी इस प्रकार जो यज्ञ करता है उसमें दी जानेवाली आहुति द्रव्यमय हो सकती है, जैसे भक्त लोग अपने इष्ट देवको पूजा चढाते है; अथवा यह यज्ञ तपो-यज्ञ भी हो सकता है अर्थात् आत्मसयमका वह तप जो किसी मह-त्तर उद्देश्यकी सिद्धिके लिये किया जाय; अथवा राजयोगियों और हठयोगियोके प्राणायाम जैसा कोई योग भी हो सकता है; अथवा अन्य किसी भी प्रकारका योग-यज्ञ हो सकता है। इन सबका फल साधकके आधारकी शुद्धि ही है; सब यज्ञ परमकी प्राप्तिके साधन ही है।

इन विविध साधनोंमें जो मुख्य बात है जिसके होनेसे ही ये सब साधन बनते है वह है निम्न प्रकृतिकी चेष्टाओको अपने अधीन करना, कामके प्रभुत्वको घटाकर उसके स्थानमें किसी महती शक्तिको प्रतिष्ठित करना, अहमात्मक भोगको त्याग कर उस दिव्य आनंदका आस्वादन करना जो यज्ञसे, आत्मोत्सर्गसे, आत्म-प्रभुत्वसे, अपने निम्न आवेगोंको किसी महत्तर ध्येयपर न्योछावर करनेसे प्राप्त होता है। "जो

यज्ञावशिष्ट अमृत भोग करते हैं वे ही सनातन ब्रह्मको लाभ करते हैं (यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्)।" यज्ञ ही विश्वका विधान है, यज्ञके बिना कुछ भी हासिल नहीं हो सकता, न इस लोकमें प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है न पर-लोकमें स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है न परम पदकी प्राप्ति ही हो सकती है—"जो यज्ञ नहीं करता उसके लिये यह लोक भी नही है, परलोककी तो बात ही क्या ? (नायं लोकोऽस्ति अयज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम)" इसलिये ये सब यज्ञ और अन्य अनेक प्रकारके यज्ञ 'ब्रह्मके मुखमें विस्तृत हुए हैं'—उस अग्निके मुखमे जो सब हव्योको ग्रहण करता है। ये सब कर्ममें प्रतिष्ठित उसी एक महान् सत्के साधन और रूप है, जिन साधनोके द्वारा मानव-जीवका कर्म उसी तत्को सर्मपित होता है। मानव-जीवका बाह्य जीवन भी उसी तत्का एक अश है और उसकी अंतरतम सत्ता उसके साथ एक है। ये सब साधन या यज्ञ 'कर्मज' है, सब भगवान्‌की उसी एक विशाल शक्तिसे निकले, उसी एक शक्तिद्वारा निर्दिष्ट हुए है जो विश्वकर्मके अंदर अपने-आपको अभिव्यक्त करती है और जो इस विश्वके समस्त कर्मको उसी एक परमात्मा परमेश्वरका क्रमशः बढ़ता जाता हुआ नैवेद्य बनाती है जिसकी चरम अवस्था, मानव-प्राणीके लिये आत्म-ज्ञानकी या भागवत चेतनाकी या ब्राह्मी चेतनाकी प्राप्ति है। "ऐसा जानकर तू मुक्त होगा (एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे)।"

परंतु यज्ञके जो ये विभिन्न रूप है इनके क्षेत्र उतरती चढ़ती श्रेणियोंमें बंटे हुए है, जिनमें सबसे नीची श्रेणी है द्रव्यमय यज्ञ और सबसे ऊंची श्रेणी है ज्ञानमय यज्ञ। ज्ञान वह चीज है जिसमें यह सारा कर्म परिसमाप्त होता है। ज्ञानसे यहां किसी निम्न कोटिका ज्ञान अभिप्रेत नही है बल्कि यहां अभिप्रेत है परम ज्ञान, आत्म-ज्ञान, भगवत्-ज्ञान, वह

ज्ञान जिसे हम उन्ही लोगोसे प्राप्त कर सकते हैं जो सृष्टिके मूल-तत्त्वको जानते हैं। यह वह ज्ञान है जिसके प्राप्त होने-पर मनुष्य मनके अज्ञानमय मोहमें तथा केवल इंद्रिय-ज्ञानकी और वासनाओ और तृष्णाओकी निम्नतर चेष्टाओमें अब और नही फंसता। यह वह ज्ञान है जिसमें सब कुछ परिसमाप्त होता है। उसके प्राप्त होनेपर "तू सब भूतोको अशेषतः आत्माके अंदर और तब मेरे अंदर देखेगा।" कारण आत्मा वही एक, अक्षर, सर्वगत, सर्वाधार, स्वतं सिद्ध सद्वस्तु या ब्रह्म है जो हमारी मन-बुद्धिके पीछे छिपा हुआ है और जिस-में हमारी चेतना अहंभावसे मुक्त होनेपर विशालताको प्राप्त होती है और तब हम जीवोंको उसी एक सत्के अंदर भूत-रूपमें देख पाते हैं।

परंतु यह आत्मतत्त्व या अक्षर ब्रह्म हमारी वास्तविक अंत-श्चेतनाके सामने उन परम पुरुषके रूपमें भी प्रकट होता है जो हमारी सत्ताके उद्गम-स्थान हैं और क्षर या अक्षर सब जिनका ही प्राकटच है। वे ही हैं ईश्वर, भगवान्, पुरुषोत्तम। उन्हींको हम हर एक चीज यज्ञरूपसे समर्पित करते हैं, उन्हींके हाथोमें हम अपने सब कर्म सौंप देते हैं, उन्हींकी सत्तामें हम जीते और चलते-फिरते हैं, अपने स्वभावमें उनके साथ एक होकर और उन्हींके अंदर जो यह सारी सृष्टि है उसके साथ एक होकर, हम उनके साथ और प्राणी-मात्रके साथ एक जीव, सत्ताकी एक शक्ति हो जाते हैं; हम अपनी आत्म-सत्ताको उनकी परम सत्ताके साथ तद्रूप और एक कर लेते है। कामवर्जित यज्ञार्थ कर्मोंके करनेसे हमें ज्ञान होता है और आत्मा अपने-आपको पा लेता है; आत्मज्ञान और परमात्मज्ञानमे स्थित होकर कर्म करनेसे हम मुक्त हो जाते और भागवत सत्ताकी एकता, शांति और आनंदमें प्रवेश करते हैं।

यज्ञके अधीश्वर

अब आगे बढनेमे पहले, यहातक जो कुछ कहा जा चुका है, उसके मूल सिद्धातोका हम लोग सिहावलोकन कर ले। गीताका सपूर्ण कर्म-सिद्धात उसकी यज्ञसबधी भावनापर अव-लबित है और ईश्वर, जगत् और कर्मके बीच सनातन योग-सूत्ररूप जो सत्य है, वह इसमे समाया हुआ है। मानव-मन साधारणतया जीवनके बहुमुखी सनातन सत्यकी केवल आशिक धारणाओ और दृष्टिकोणोको पकड़ पाता है और उन्हीके आधारपर जीवन, सदाचार और धर्मसबंधी अपने नाना प्रकारके सिद्धातोको गढ डालता है, तथा उनके इस या उस प्रकार या रूपपर जोर देने लगता है, किन्तु जब कभी वह किसी उदार प्रकाशके युगमे उसके जगत्-ज्ञानके साथ उसके ईश्वर-ज्ञान और आत्म-ज्ञानका पूर्ण समन्वय साधन करनेके लिये वापस आता है तब सदा ही सत्यकी किसी पूर्णताकी ओर उसका पुनर्जागृत होना अनिवार्य है। गीता-की शिक्षा वेदातके इस मूल सत्यपर आश्रित है कि सारी आत्मसत्ता एक ब्रह्मसत्ता ही है और सारी भूतसत्ता उसी ब्रह्मका चक्र है; एक ऐसी दिव्य ससृति है जिसकी प्रवृत्ति भगवान्से होती और भगवान्में ही जिसकी निवृत्ति होती है। सब प्रकृतिका ही प्राकट्य-कर्म है और प्रकृति भगवान्-की वह शक्ति है जो अपने कर्मोंके स्वामी और अपने रूपों-के अंतर्यामी भागवत पुरुषकी चेतना और इच्छाको ही कार्यमें परिणत किया करती है। उसी अंतर्यामीकी प्रसन्नताके लिये ही वह नाम-रूपकी लीलामें और प्राण तथा मनके कर्मोंमें अवतीर्ण होती है और फिर मन-बुद्धि और आत्म-ज्ञानके द्वारा

वह उस आत्माको सचेतन रूपसे पुनः प्राप्त कर लेती है जो उसके अंदर निवास करता है। पहले आत्मा, जो कुछ भी वह है तथा नामरूपात्मक विकासमें उसका जो कुछ भी अभिप्राय है वह सब, प्रकृतिमें समा जाता है; इसके बाद फिर आत्माका विकास होता है, अर्थात् जो कुछ भी वह है, जो कुछ भी उसका अभिप्राय है, जो कुछ भी छिपा हुआ है पर नामरूपात्मक सृष्टि जिसकी सूचना करती है, वह सब प्रकट होता है। प्रकृतिका जो यह चक्र है वह कभी भी संभव नहीं होता यदि पुरुष अपनी तीन शाश्वत अवस्थाओंको एक साथ धारण करके बनाये नहीं रखता, क्योंकि प्रत्येक अवस्था ही इस कर्मकी समग्रताके लिये आवश्यक है। पुरुषका क्षररूपमें अपने-आपको प्रकट करना अपरिहार्य है, और इस क्षररूपमें हम देखते हैं कि पुरुष परिच्छिन्न है, अनेक है, 'सर्वभूतानि' है। अब हम उसको अनंत वैचित्र्य और नानाविध संबंधोंमें युक्त जो असंख्य प्राणी हैं उनके परिच्छिन्न व्यक्तित्वके रूपमें देखते हैं, फिर हमें वह इन सब प्राणियोंके पीछे हो रही देवताओंकी क्रियाओंका मूलतत्त्व और उनकी शक्तिके रूपमें दिखायी देता है—अर्थात् भगवान्की उन विश्वशक्तियों और गुणोंके रूपमें जिनके द्वारा जगत्-जीवन संचालित होता है और जहां हमें वह एक सत्ता अपने विविध विश्व-रूपोंमें दिखायी देती है, अथवा यह कहिये कि एक ही परम पुरुषकी विभूतिके ये विविध आत्म-आविर्भाव हैं। फिर, इन सब रूपों और सत्ताओंके पीछे और इनके अंदर हमें यह भी प्रतीति होती है कि एक गूढ़, अक्षर, अनंत, देशकालातीत, नैर्व्यक्तिक, अव्यय सत् विद्यमान है, जो यह सब जो कुछ है उसका एक ही अखंड आत्मभाव है, जिसमें सृष्टिके ये सब बहुभाव यथार्थमें एक हो जाते हैं। अतएव उस एक पुरुष-भावमें लौट आनेपर व्यष्टिगत

पुरुषका सक्रिय सात व्यक्तित्व यह देख पाता है कि इस अखड अनंतसे जो कुछ निःसृत होता और इसके द्वारा जो कुछ धारित होता है उसके अक्षर और अलिप्त ऐक्यकी शांति और समस्थितिमे तथा विश्वव्यापकताकी प्रशात विशालतामे वह मुक्त हो सकता है। अथवा चाहे तो इसमे जाकर वह व्यष्टिसत्तासे भी छुटकारा पा सकता है। परतु सबसे परम गुह्य, 'उत्तम रहस्यं' जो है वह है पुरुषोत्तम-तत्त्व। पुरुषोत्तम परब्रह्म परमेश्वर है, जो अनत और सात दोनों अवस्थाओको ही अपने अदर धारण किये हुए है और जिनमे व्यक्ति और निर्व्यक्ति, एक ब्रह्म और अनेक भूत, आत्मसत्ता और भूतभाव, ससार-कर्म और विश्वातीत शान्ति, प्रवृत्ति और निवृत्ति, ये सब-के-सब मिलकर एकत्वको प्राप्त होते है, एक साथ और अलग-अलग भी धारण किये जाते है। सभी वस्तुओका गुह्य सत्य और निरपेक्ष समन्वय परमेश्वरके अदर ही होता है।

कर्मोका सारा सत्य सत्ताके सत्यपर ही निर्भर करता है। सारा सक्रिय जीवन अपने अंतस्तम सत् स्वरूपमे प्रकृतिका पुरुष-प्रीत्यर्थ कर्म-यज्ञके सिवाय और कुछ नही हो सकता। यह प्रकृतिका अपने अदर रहनेवाले सात बहुपुरुषकी कामनाको उस एक परम और अनत पुरुषके चरणोमे भेट चढाना है। जीवन एक यज्ञवेदी है जिसपर प्रकृति अपने सब कर्मों और कर्मफलोको ले आती और उन्हे भगवान्के उस रूपके सामने रखती है जिस रूपतक उसकी चेतना उस समय पहुंच पायी हो और इस यज्ञसे उसी फलकी कामना भी की जाती है जिसे शरीर-मन-प्राणमे रहनेवाला जीव अपना तात्कालिक या परम श्रेय मान बैठा हो। प्रकृतिस्थ पुरुष अपनी चेतना और आत्मसत्ताके जिस स्तरतक पहुंचा हुआ होता है तदनुसार ही उसके ईश्वरका वह स्वरूप होता है जिसे वह पूजता है, तदनुसार ही

उसके आनदका वह स्वरूप होता है जिसे वह ढूढ़ता है और तद-नुसार ही उसकी वह आशा होती है जिसके लिये वह यज्ञ करता है। प्रकृतिगत क्षर पुरुषकी प्रवृत्तिमे सारा व्यवहार परस्पर आदान-प्रदान है, इसके सिवाय और कुछ हो भी नही सकता। कारण सारा जीवन एक है और इसके जो विभाजन है वे स्वभावतः ही परस्पर अवलबनके किसी ऐसे विधानपर ही स्थापित हो सकते है जिसमे प्रत्येक विभाजन एक दूसरेके सहारे बढता रहे और सबके सहारे जीता रहे। जो कोई इस यज्ञमे अपना भाग स्वेच्छासे नही लेता उससे प्रकृति जबरदस्ती वसूल करती है और इस प्रकार अपने जीवनके विधानकी रक्षा करती है। परस्पर आदान-प्रदान ही जीवनका नियम है जिसके बिना एक क्षण भी कोई जी नही सकता, और यह तथ्य सृष्टिकर्त्ता परमेश्वरकी इच्छाकी उस ससारपर छाप है जिसे उसने अपनी आत्मसत्तामे प्रकट किया है, यही प्रमाण है इस बातका कि यज्ञके साथ, यज्ञको सदाके लिये उनका साथी बनाकर प्रजापतिने प्रजाओकी सृष्टि की। यज्ञका यह विश्वव्यापक विधान इस बातका सुस्पष्ट चिह्न है कि यह ससार ईश्वरका है और ईश्वरका ही उसपर दखल है और जीवन उसीका राज्य है और उसीका अर्चना-मदिर है, किसी स्वतत्र अहकारकी आत्मतुष्टिका साधन-क्षेत्र नही। अहकारकी पुष्टि हम लोगोका स्थूल और असस्कृत जीवनारम्भमात्र है, जीवनका परम हेतु तो भगवान्की प्राप्ति है, अनत देवेशकी पूजा और खोज है, इसका साधन निरतर उदार हो चलनेवाला वह यज्ञ है जिसकी परिपूर्णता पूर्ण आत्मज्ञानपर प्रतिष्ठित पूर्ण आत्मदानमे होती है। जीवनमे जो अनुभव प्राप्त होते है उनका हेतु अतमे भगवान्की ओर ले जाना ही है।

परन्तु व्यष्टिभूत जीवका जीवनारंभ अज्ञानके साथ ही होता है और वह बहुत कालतक अज्ञानमें ही रहता है। अपने-आप-पर ही दृष्टि रहनेके कारण वह भगवान्को नही बल्कि अहंकारको

ही जीवनका मूल कारण और एकमात्र अर्थ समझता है। वह अपने कर्मोका कर्त्ता अपने-आपको ही जानता है और यह नही देख पाता कि जगत्‌के सारे कर्म जिनमे उसके अपने आतर और बाह्य सब कर्म भी शामिल है, एक ही विश्वप्रकृतिद्वारा होनेवाले कर्म है, और कुछ भी नही। वह अपने-आपको ही सब कर्मोका भोक्ता समझता और यह कल्पना करता है कि यह सारा प्रपच मेरे भोग-के लिये ही तो है और इसलिये यही चाहता है कि प्रकृति मेरी व्यष्टिगत इच्छाओको माने और तृप्त करे; उसे यह नही सूझता कि उसकी इच्छाओको तृप्त करनेसे प्रकृतिका कुछ भी वास्ता नही है, उसकी अपनी क्या इच्छाए है यह जाननेकी उसे कुछ भी परवा नही है, प्रकृतिको जिस इच्छाका पालन करना है वह महती विश्व-व्यापिनी इच्छा है और जिस ईश्वरकी तृप्ति साधन करना उसका सारा प्रयास है वह वह ईश्वर है जो उससे, उसके कर्मो और उसकी सृष्टियोसे अतीत है, उसकी परिसीमित सत्ता, उसकी इच्छा और उसकी इच्छाकी तृप्ति उसकी अपनी नही, बल्कि प्रकृतिकी है और प्रकृति इन सब चीजोको प्रति क्षण उन भगवान्‌को यज्ञ-रूपमे अर्पण किया करती है जिनके प्रकृतिगत हेतुको सिद्ध करनेके लिये वह इन सब चीजोको अज्ञात, अप्रकट साधनमात्र बनाया करती है। इस अज्ञानके कारण ही, जिसकी मुहर-छाप है अहकार, जीव यज्ञ-के विधानकी उपेक्षा करता है और ससारमे सब कुछ अपने लिये ही बटोरना चाहता है और देता है केवल उतना ही जितना प्रकृति अपनी भीतरी और बाहरी जबरदस्तीसे उससे दिलाती है। यथार्थ-मे वह ले सकता है उतना ही जितना उसके हिस्सेमे बदा है, जितना प्रकृति उसे लेने देती है, जितना प्रकृतिमे स्थित ईश्वरी शक्तिया उसकी कामना पूरी करनेपर राजी होती है। यज्ञमय इस ससार-मे अहंकारविमूढ जीव ऐसा है जैसे कोई चोर या लुटेरा हो जो इन दैवी शक्तियोंका दिया हुआ सब कुछ लेता तो है, पर बदलेमें कुछ भी देनेकी नीयत नही रखता। वह जीवनके वास्तविक अभि-

प्रायको जाननेसे रह जाता है और चूकि वह अपने जीवन तथा कर्मोका उपयोग यज्ञके द्वारा अपनी सत्ताको उदार, विशाल और उन्नत बनानेमे नही करता, इसलिये वह व्यर्थ ही जीता है।

जब व्यष्टिभूत जीव अपने सब व्यवहारोमे दूसरोमे स्थित आत्माके महत्त्वको उतना ही अनुभव करने और मानने लगता है जितना कि वह अपने अहकारकी ताकत और आवश्यकताओको मानता है, जब वह अपने सब कार्योके पीछे विश्वप्रकृतिको अनुभव करने लगता और विश्वदेवताओके रूपमे उस अखड अनत एककी झलक पाता है तब वह अहकारकी बद्धताको पार करने और अपने आत्मस्वरूपको पा लेनेके रास्तेपर आ जाता है। इस रास्तेपर आनेपर वह एक ऐसे धर्मको, एक ऐसे विधानको जानने लगता है जो उसकी कामनाओके विधानसे भिन्न होता है, जिसके अधिकाधिक अधीन और अनुगत उसकी कामनाओको होना चाहिये। अबतक जहा उसकी सत्तामे केवल अहकार ही अहकार दिखायी देता था वहा अब समझ और नैतिकता विकसित हो जाती है। अब वह दूसरोके आत्माकी मागोको अधिक महत्त्व देने लगता है और अपने अहकारकी मागोको महत्त्व देना कम कर देता है, अहकार और परोपकारके बीच जो सघर्ष है उसे वह ग्रहण करता और अपनी परोपकारवृत्तिको बढाकर अपनी चेतना और सत्ताके विस्तारका साधन करता है। प्रकृति और प्रकृतिमे स्थित दैवी शक्तियोको वह अनुभव करने लगता और यह मानता है कि मुझे इनका यजन-पूजन करना चाहिये, इनकी आज्ञाओका पालन करना चाहिये, क्योकि इन्हीके द्वारा और इन्हीके विधानके द्वारा मनोमय और अन्नमय, दोनो जगत् नियत्रित होते है और वह यह समझने लगता है कि इन्हीकी उपस्थिति और महत्ताको अपने विचार, सकल्प और प्राणमे सवर्द्धित करनेसे मै अपनी शक्ति, ज्ञान और सत्कर्मको तथा इनसे प्राप्त होनेवाली तुष्टि-पुष्टिको बढ़ा सकता हू। इस प्रकार वह जीवन-

विषयक अपने जड़प्राकृतिक और अहमात्मक भावमें धार्मिक और अतिभौतिक भावको जोड़ देता और सातसे होकर अनंतमें ऊपर उठ जानेके लिये अपने-आपको प्रस्तुत करता है।

परंतु यह केवल एक बीचकी पर बहुत दिनोंतक रहनेवाली अवस्था है। यह अवस्था भी अभी कामनाके विधानके, उसके अहंकारकी आवश्यकता और धारणाकी प्रधानताके तथा उसकी सत्ता और कर्मोंपर उसकी प्रकृतिका जो नियंत्रण है उसके अधीन है, यद्यपि यह कामना संयत और नियंत्रित है, यह अहंकार परिमार्जित अहंकार है और यह प्रकृति सत्त्वगुणके द्वारा अधिकाधिक मात्रामें सूक्ष्मीभूत और प्रकाशमान है। पर यह सब जो कुछ होता है वह अभी भी क्षर, सांत व्यष्टि बुद्धिके क्षेत्रमें, अवश्य ही उसके बहुत अधिक व्यापक क्षेत्रमें, होता है। वास्तविक आत्मज्ञान और फलतः सच्चा कर्ममार्ग इसके परे है; क्योंकि ज्ञानयुक्त होकर किया जानेवाला यज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है और ज्ञानयुक्त ऐसे श्रेष्ठ यज्ञके द्वारा ही सिद्ध कर्म बनता है। यह अवस्था तभी आ सकती है जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि मेरे अंदर जो आत्मा है और दूसरोंके अंदर जो आत्मा है, वह एक ही सत्ता है और यह आत्मा अहंकारसे कोई ऊंची चीज है, यह अनंत है, नैर्व्यक्तिक है, एक विश्वव्यापी सत् है, जिसमें ही सब प्राणी चलने-फिरते और जीते-जागते है, जब वह यह अनुभव करता है कि समस्त विश्व-देवता, जिनके लिये वह इन सब यज्ञोंको करता है, एक ही अनंत परमेश्वरके विभिन्न रूप हैं और जब वह उस एक परमेश्वर-संबंधी अपनी मर्यादित और मर्यादित करनेवाली धारणाओंको परित्याग कर उन्हें वही एक अनिर्वचनीय परमदेव जानता है जो एक साथ सांत भी है और अनंत भी, जो एक पुरुष है और साथ ही अनेक भी, जो प्रकृतिके परे होकर भी प्रकृतिके द्वारा अपने-आपको

प्रकट करता है, जो त्रिगुणके बंधनोके परे होकर भी अपने अनत गुणोके द्वारा अपनी सत्ताकी शक्तिको नामरूपान्वित किया करता है। वही पुरुषोत्तम है जिन्हे यज्ञमात्र समर्पित करना होता है, किसी क्षणिक वैयक्तिक कर्मफलके लिये नही, बल्कि इसलिये कि भगवान् हमे मिलें और भगवान्के साथ तारमे तार मिलाकर हम रहे और एकता लाभ करे।

दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि उत्तरोत्तर बढनेवाली नैर्व्यक्तिकताके द्वारा ही मनुष्यको मुक्ति और सिद्धिका मार्ग मिलता है। मनुष्यका यह पुरातन और सतत अनुभव है कि जितना ही अधिक वह नैर्व्यक्तिक और अनत पुरुषकी ओर अपने-आपको उद्घाटित करता है, उसकी ओर जो विशुद्ध, ऊर्ध्व और सब वस्तुओमे और सत्ताओमे एक और सम है, जो प्रकृतिमे नैर्व्यक्तिक और अनत है, जो जीवनमे नैर्व्यक्तिक और अनत है, जो उसकी अतरगतामे नैर्व्यक्तिक और अनत है, उतना ही कम वह अपने अहकारसे तथा सातके दायरेमे बधता है, और उतना ही अधिक वह विशालता, शाति और निर्मल आनंदको अनुभव करता है। जो आमोद, सुख और चैन उसे केवल सातसे मिल सकता है या उसका अहकार अपने ही अधिकारसे प्राप्त कर सकता है, वह क्षणिक, क्षुद्र और अरक्षित होता है। अहभावमे और उसकी सकुचित धारणाओ शक्तियों और सुखोमे ही डूबे रहना इस ससारको सदाके लिये 'अनित्य असुख' बना लेना है, सात जीवन सदा ही व्यर्थताके भावसे व्यथित रहता है और इसका मूल कारण यह है कि सातता जीवनका समग्र या उच्चतम सत्य नही है; जीवन तबतक पूर्णतया प्रकृत जीवन ही नही होता जबतक वह अनंतकी भावनाकी ओर खुल नही जाता। यही कारण है कि गीताने अपनी कर्मयोगकी शिक्षाके आरंभमें ही ब्राह्मी स्थितिपर, नैर्व्यक्तिक जीवनपर इतना जोर दिया

है, जो प्राचीन मुनियोकी साधनाका महान् लक्ष्य था। कारण जिस नैर्व्यक्तिक अनत एकके अदर विश्वकी चिरतन क्षरणशील नानाविध कर्मण्यताओको स्थायित्व, सरक्षण और शाति प्राप्त होती है वह अचल अविनाशी आत्मा, अक्षर, ब्रह्म ही है, जो उसके ऊपर है। यदि इस बातको हम लोग समझ ले तो हम यह भी समझ लेगे कि अपनी चेतना और आत्मस्थितिको सीमाबद्ध व्यष्टिगत भावसे निकालकर इस अनत नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममे ऊपर उठा ले जाना सबसे पहली आध्यात्मिक आवश्यकता है। इस एक आत्माके अदर सब सत्ताओको अनुभव करना ही वह ज्ञान है जो जीवको अहभावजनित अज्ञान और उसके कर्मो तथा कर्मफलोमे ऊपर उठा देता है, इस ज्ञानमे रहना ही शाति लाभ करना और दृढ आध्यात्मिक नीवकी प्रतिष्ठा कर डालना है।

इस महान् रूपातरका जो मार्ग है वह द्विविध है, एक है ज्ञानका मार्ग और दूसरा कर्मका। गीता इन दोनोका सुदृढ समन्वय करती है। ज्ञानका मार्ग है बुद्धिको मन और इद्रियोंके व्यापारमे रत होनेवाली निम्न वृत्तिसे फेरना और उसे एक आत्मा, पुरुष या ब्रह्मकी ओर ऊर्ध्वमुखी कर देना, उसे सदा एक पुरुषकी एक ही भावनामे ले जाकर रख देना और उसे मनकी अनेक शाखा-प्रशाखाओवाली धारणाओ और कामनाओके नानाविध प्रवाहोसे बाहर निकाल लाना। केवल इतना ही यदि लिया जाय तो ऐसा दिखायी देगा कि यह मार्ग पूर्ण कर्मसन्यास, निश्चल निश्चेष्टता और प्रकृति-पुरुषके विच्छेदका ही मार्ग है। परतु यथार्थमें इस प्रकारका निरपेक्ष कर्मसन्यास, निश्चेष्टता और प्रकृति-पुरुष-विच्छेद संभव नही है। पुरुष और प्रकृति सत्ताके युगल तत्त्व है जो एक दूसरेसे अलग नही किये जा सकते, और जबतक प्रकृतिमें हमारा निवास है तबतक प्रकृतिमें हमारा कर्म भी निरंतर होता

ही रहेगा, तब अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार कर्म करता है उससे ज्ञानी मनुष्यका कर्म दूसरे ही प्रकारका और दूसरे ही अर्थमे होगा। सन्यास तो करना ही होगा, पर वास्तविक सन्यास कर्मसे भागना नही, बल्कि अहकार और कामका वध है। और इसका मार्ग है कर्म करते हुए कर्मफलके सगका त्याग करना और प्रकृतिको कर्मकी कर्त्री जानना और उसको अपने कर्म करने देना तथा साक्षी और भर्त्ता रूपसे पुरुषके अदर वास करके प्रकृतिके कर्मोको देखते रहना, उन्हे सभाले रहना, पर प्रकृतिके कर्मो या उनके फलोसे आसक्त न होना। इसमे अहकार अर्थात् सीमाबद्ध विक्षुब्ध व्यष्टिभाव शात होना और एक नैर्व्यक्तिक आत्माके चैतन्यमे निमज्जित हो जाना है और हमारी दृष्टिके आगे प्रकृतिके कर्म इस समय हमे जीते-जागते, चलते-फिरते और काम करते रहते हुए दिखायी देनेवाले इन सब भूत प्राणियो-के द्वारा सर्वथा प्रकृतिकी ही प्रेरणासे उस एक अनत आत्मसत्ताके अदर होते रहते है, हमारा अपना शात जीवन भी इन्ही भूतसत्ता-ओमेसे एक है, ऐसा देख पडता और अनुभूत होता है और इसके द्वारा होनेवाले कर्म अपने उस सदात्माके बोध नही होते जो सदा निश्चल-नीरव नैर्व्यक्तिक एकत्व है, बल्कि ऐसा दिखायी देता और अनुभूत होता है कि वे प्रकृतिके ही है। अहकार पहले यह दावा किया करता था कि ये हमारे कर्म है और इसलिये इन कर्मोको हम अपने कर्म समझते थे, पर अहकार तो अब मर गया और इसलिये कर्म भी अब हमारे नही रहे बल्कि प्रकृतिके हो गये। अहंकार-का वध करके हमने अपनी सत्ता और चेतनामे नैर्व्यक्तित्वको सिद्ध किया; और कामका सन्यास करके अपनी प्रकृतिके कर्मोमे नैर्व्यक्तित्वको सिद्ध किया। अब हम मुक्त है केवल अकर्ममे ही नही, बल्कि कर्ममे भी; हमारी मुक्ति शरीर और मनकी निश्चल-ता और शून्यतापर निर्भर नही करती, न कर्म करते ही हम अपनी मुक्तिसे च्युत होते है। स्वाभाविक कर्मके पूर्ण प्रवाहमे भी हमारा नैर्व्यक्तिक आत्मा स्थिर शात और मुक्त ही रहता है।

इस पूर्ण नैर्व्यक्तिकतासे प्राप्त होनेवाली मुक्ति सच्ची, पूरी और अनिवार्य होती है, परंतु क्या यही सब कुछ है, क्या यही इस विषयकी अंतिम बात है ? सारा जीवन, सारा जगत्-कर्म, हम कह चुके हैं कि एक यज्ञ है जो प्रकृति उस पुरुषके प्रीत्यर्थ किया करती है जो प्रकृतिके अंदर सबका एक गूढांतरात्मा है, जिसके अंदर ही प्रकृतिके सब कर्म होते है; परंतु यज्ञके इस वास्तविक स्वरूपको हमारा अहंकार, हमारा काम, हमारा सीमित सक्रिय बहुभावापन्न व्यक्तित्व छिपा देता है। अहंकारमे और काममे और सीमित व्यक्तित्वसे अब हम ऊपर उठ चुके है और इस अवस्थाका संशोधन करनेवाली जो नैर्व्यक्तिकता है उससे हमने नैर्व्यक्तिक ब्रह्मको पा लिया है, हमने अपनी सत्ताको उस एक आत्मा और पुरुषमें मिला दिया है जिसमे सब रहते है। कर्मोका यज्ञ जारी है, पर इसके करनेवाले अब हम नही, बल्कि प्रकृति है जो हमारी सत्ताके क्षर-भागके द्वारा अर्थात् मन-बुद्धि, इंद्रिय और शरीरके द्वारा, कर्म करती है पर करती है हमारी अनंत सत्ताके अंदर ही। परंतु इस यज्ञको तब किसके अर्पण किया जाता और किसलिये किया जाता है? क्योंकि नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममे कोई कर्तृत्व नही, कोई कामना-वासना नही, कोई प्राप्तव्य नही, प्राणियोके इस जगत्के अंदर किसी चीजपर उसकी निर्भरता नही; वह अपने लिये, अपने ही आत्मानंदमें अपनी ही अक्षर अविनाशी अव्यय सत्तामे रहता है। इस नैर्व्यक्तिक आत्मस्थिति और आत्मरतितक पहुचनेके लिये साधनके तौरपर निष्काम कर्म करना आवश्यक हो सकता है, पर जब इस क्रियाके द्वारा हम इस अवस्थातक पहुंच गये तब तो कर्मका ध्येय पूरा हो गया; फिर यज्ञकी क्या आवश्यकता ? कर्म तब भी हो सकते है, क्योंकि प्रकृति मौजूद है और उसके कर्म हो रहे है; परंतु फिर इन कर्मोसे प्राप्तव्य कुछ नही रहता। अर्थात् मुक्तिके बाद हमारे कर्म करते रहनेका एकमात्र कारण केवल अभावात्मक है; हमारी सत्ताके जो

सात भाग है, मन, प्राण और शरीर, उनसे प्रकृति इस प्रकार काम लिया करती है और यह प्रकृतिकी केवल जबरदस्ती है। परन्तु यदि यही सब कुछ हो तो पहली बात यह है कि कर्मोकी सख्या बहुत घटाकर उतने ही कम रखे जा सकते है जितने कम-से-कम आवश्यक हो, जितने प्रकृति हमारे शरीरमे जबरदस्ती कराके ही छोडती है, और दूसरी बात यह है कि कर्मोको चाहे कम-से-कम न भी किया जाय—क्योकि कर्मसे कुछ नही आता-जाता न अकर्मसे ही कुछ लेना-देना है—तो यह कोई बात नही है कि अमुक ही प्रकारका कर्म हो और अमुक प्रकारका न हो। अर्जुनको जहा ज्ञान प्राप्त हुआ कि वह अपने पुराने क्षत्रिय-स्वभावके अनुसार कुरुक्षेत्रकी लडाई लड भी सकता है अथवा उसे छोडकर अपनी नवीन निवृत्तिमूलक प्रेरणाके अनुसार सन्यासीका जीवन ही व्यतीत कर सकता है। इन दो चीजोमेसे वह कुछ भी करे, उससे कुछ नही आता-जाता, बल्कि यह कहा जा सकता है कि युद्धकर्मकी अपेक्षा सन्यासीका जीवन ही अधिक अच्छा है, क्योकि इससे यह होगा कि उसके पूर्व कर्मोकी प्रवृत्तिके कारण उसके मनपर प्रकृतिकी जिन प्रेरणाओका अभीतक दखल जमा हुआ है वे शीघ्र क्षीण हो जायगी और वह शरीर छूटनेपर निर्विघ्न रूपसे अनत नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममे चला जायगा, उसे इस 'अनित्य असुख लोक' के दु.खमय प्रमाद-मय जीवनमे लौट आनेकी कोई आवश्यकता न रहेगी।

यदि यही होता तो गीताका कोई मतलब ही न रह जाता; क्योकि इस बातसे गीताका प्रथम और प्रधान उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। परंतु गीता इस बातपर जोर देती है कि कर्मका स्वभाव भी एक महत्त्वपूर्ण सवाल है और कर्मको जारी रखनेके संबंधमें एक निश्चयात्मक आदेश है और इस विषयका जो सर्वथा अभावात्मक और यान्त्रिक कारण दिखाया

जाता है कि यह प्रकृतिकी मात्र उद्देश्यहीन जबरदस्ती है, सो यह बात इतनीसी ही नहीं है। अहंकारके जीते जानेके बाद भी भगवान् तो रह ही जाते है जो सब यज्ञोंके भोक्ता है (भोक्तारं यज्ञ तपसां) और इसलिये यज्ञका उद्देश्य फिर भी है ही। नैर्व्यक्तिक ब्रह्म ही अंतिम वचन या हमारी सत्ताका सर्वोत्तम रहस्य नहीं है, कारण नैर्व्यक्तिक और व्यक्तिक, सांत और अनंत, ये दो विपरीत पर सहवर्त्ती पहलूमात्र है उस एक ही भगवत्सत्ताके जो इन भेदोंसे सीमित नहीं है और जो एक ही साथ यह भी है और वह भी। परमेश्वर एक, चिर-अव्यक्त अनंत है और वे अपने-आपको सांतमे अभिव्यक्त करनेके लिये सदा स्वतःप्रेरित है, वे वह महान् नैर्व्यक्तिक पुरुष है सब व्यक्तित्व जिनके आंशिक रूप है, वे वह भगवान् है जो मानव-प्राणीमे अपने-आपको प्रकट करते है, वह प्रभु है जो मनुष्यके हृद्देशमे निवास करते है। ज्ञान हमें उन्ही एक नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममे ही सब प्राणियोंको देखनेकी शिक्षा देता है, क्योंकि यही उपाय है जिससे हम पृथकीभूत अहंभावसे मुक्त होते है और तब मुक्तिदायक नैर्व्यक्तित्वके द्वारा उनको इन प्रभुके अंदर देखते है, 'आत्मनि अथो मयि,' 'आत्माके अंदर और तब मेरे अंदर।' हमारा अहंकार, हमारे बंधनकारक व्यष्टि-भाव ही हमारे उन प्रभुको पहचाननेका रास्ता रोके हुए रहते है जो सबके अंदर है और सब जिनके अंदर है; क्योंकि व्यष्टिभाव के अधीन होनेसे हम उनके ऐसे ही खंड-खंड स्वरूपोंको देख पाते है जो वस्तुओंके सांत रूपोंके द्वारा हमारे सामने आते है। हमें उनके पास पहुंचना होगा अपने इस निम्न व्यष्टिभावके द्वारा नहीं, बल्कि अपनी सत्ताके उच्च अनंत और नैर्व्यक्तिक अंगसे; और यह आत्मा बनकर ही, जो सबके अंदर एक है और जिसकी सत्तामें ही सारा जगत्

अवस्थित है, हम उन प्रभुको पा सकते है। यह अनत जो सब सात रूपोको शामिल किये हुए है, उन्हे विलग किये हुए नही, यह नैर्व्यक्तिक जो समस्त व्यष्टित्वो और व्यक्तित्वोको अपने अन्दर लिये हुए है उनका त्याग किये हुए नही, यह अक्षर जो प्रकृतिकी सारी हलचलका पोषण किये हुए है, उसमे व्याप्त है और उसको धारण किये हुए है, उससे अलग नही—यही वह स्वच्छ दर्पण है जिसमे भगवान् अपनी सत्ताको प्रकट करेगे। इसलिये पहले नैर्व्यक्तिक ब्रह्मकी प्राप्ति करनी होगी, विश्वदेवताओके द्वारा, सातके विभिन्न अगोके द्वारा ही भगवान्‌का पूर्ण ज्ञान नही प्राप्त हो सकता। पर जैसी कि एक धारणा है कि शात, अचल, नैर्व्यक्तिक ब्रह्म अपने-आपमे बद है और जिनका वह पोषण करता, जिनको वह धारण करता तथा जिनमे वह व्याप्त रहता है उनसे उसका कोई वास्ता नही है, उनसे वह सर्वथा अलग रहता है,—ऐसे इस नैर्व्यक्तिक ब्रह्मकी नीरव अचलता भी भगवान्‌का सर्वप्रकाशक और पूर्ण सतोषप्रद सत्य नही है। उसके लिये हम इस नैर्व्यक्तिक ब्रह्मकी अचल शातिको प्राप्त होकर उन पुरुषोत्तमको देखना होगा जो अपनी भागवत महिमाके अदर अक्षर और क्षर दोनोको धारण किये हुए है। अचलतामे वे स्थित है, पर विश्वप्रकृतिकी सारी प्रवृत्ति और कर्ममें वे अपने-आपको अभिव्यक्त करते है। मुक्त होनेके बाद भी प्रकृतिमे होनेवाले कर्मोके द्वारा उनका यजन बराबर होता रहता है।

इसलिये भगवान् पुरुषोत्तमके साथ जीती-जागती और स्वत.परिपूरक एकता ही योगका वास्तविक लक्ष्य है, केवल अक्षर ब्रह्ममें आत्म-निर्वापन करनेवाला लय नही। अपने सारे जीवनको उन्हींमें ऊपर उठा ले जाना, उन्हींमें निवास करना, उनके साथ एक हो जाना, उनकी चेतनाके साथ अपनी

चेतनाको एक कर देना, अपनी खंड प्रकृतिको उनकी पूर्ण प्रकृतिका प्रतिबिब बना देना, अपने विचार और इंद्रियोंको संपूर्ण रूपसे भागवत ज्ञानके द्वारा अनुप्राणित करना, अपने संकल्पको और कर्मको सर्वथा और निर्दोषतया भागवत संकल्पके द्वारा प्रवृत्त करना, उन्हींके प्रेमानंदमें अपनी कामना-वासनाको खो देना—यही मनुष्यकी पूर्णता है, इसीको गीता-ने गुह्यतम रहस्य कहा है। मनुष्य-जीवनका यही वास्तविक लक्ष्य है, यही उसके जीवनकी चरितार्थता है और यही हमारे प्रगतिशील कर्म-यज्ञकी सबसे ऊंची सीढ़ी है। कारण वे ही अनंतक कर्मोंके प्रभु और यज्ञके अन्तरात्मा बने रहते हैं।

दिव्य कर्मका सिद्धांत

सो यही है गीताकी यज्ञविषयक शिक्षाका अभिप्राय। इसका पूर्ण मर्म पुरुषोत्तम-तत्त्वकी भावनापर निर्भर करता है, जिसका विवेचन अभीतक अच्छी तरह नही हुआ है—गीताके १८ अध्यायोके शेष भागमे ही इस तत्त्वका वर्णन स्पष्ट रूपसे आया है—और इसीलिये हमे गीताकी प्रगतिशील वर्णनशैलीकी मर्यादाका अतिक्रम करके भी इस केंद्रीभूत शिक्षाकी चर्चा पहलेसे ही करनी पड़ी। अभी भगवान् गुरुने पुरुषोत्तमकी परम सत्ताका और ब्राह्मी-स्थितिको प्राप्त कर जिस अक्षर पुरुषके अदर पूर्ण शाति और समताकी अवस्थामे अपने-आपको स्थिर करना हमारा पहला काम है, हमारी अति आवश्यक आध्यात्मिक मांग है, उस अक्षर पुरुषके साथ उनका क्या सबध है इसका, एक सकेतमात्र किया है, एक हलकी-सी झलक भर दिखायी है। अभी वे पुरुषोत्तम-भावकी स्पष्ट भाषामे नही बोल रहे हैं, बल्कि 'मैं' कृष्ण, नारायण, अवतार-रूपसे बोल रहे है—वह अवतार, वे नरमे नारायण जो इस विश्वमे भी परम प्रभु हे और जो कुरुक्षेत्रके सारथीके रूपमे अवतरित हुए है। "पहले आत्मामे पीछे मुझमे (आत्मनि अथो मयि)," यही सूत्र वे यहा बतलाते है जिसका अभिप्राय यह है कि व्यष्टिबद्ध पुरुषभावको स्वतःस्थित नैर्व्यक्तिक ब्रह्म-भावका ही एक 'भूतभाव' जानकर इस व्यष्टिबधनसे मुक्त होकर इसके परे पहुचना, उन गुह्यतम नैर्व्यक्तिक परम पुरुषको प्राप्त होनेका एक साधनमात्र है जो परम पुरुष इस प्रकार निश्चल, स्थिर और प्रकृतिके परे होकर नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें आसीन है, पर इसके साथ ही इन असंख्य भूतभावोंकी प्रकृतिमे भी विद्यमान और क्रियाशील है। अपने निम्नतर व्यष्टिबद्ध पुरुषभावको नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें

लय करके हम अंतमे उन परम पुरुषके साथ एकत्व लाभ करते है जो कोई पृथक् या व्यष्टिभाव न होते हुए भी सब व्यष्टि बने हुए है। त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृतिको पार कर और अतरात्माको त्रिगुणातीत अक्षर पुरुषमे स्थित कर, हम अतको उन अनत परमेश्वरकी परा प्रकृतिमे पहुच सकते है जो प्रकृतिद्वारा कर्म करते हुए भी त्रिगुणमें आबद्ध नही होते। शात पुरुषके आतर नैष्कर्म्यको प्राप्त होकर और प्रकृतिको अपना काम करनेके लिये छोड देकर हम कर्मोंके परे उस परम पदको, उस दिव्य प्रभुत्वको प्राप्त कर सकते है जिसमे सब कर्म किये जा सकते है पर बधन किसीका भी नही होता। इसलिये पुरुषोत्तम, जो यहा अवतीर्ण नारायण, कृष्णरूपमे दिखायी देते है उनकी भावना ही कुजी है। इस कुजीके बिना निम्न प्रकृतिमे निवृत्त होकर ब्राह्मीस्थितिमे चले जानेका अर्थ हो जाता है मुक्त पुरुषका निष्क्रिय हो जाना, जगत्के कर्मोसे उदासीन हो जाना, और इस कुजीके हानेमे यही अलग होना, यही निवृत्ति एक ऐसी प्रगति हो जाती है जिससे जगत्के कर्म भगवान्के स्वभावके साथ और भगवान्की स्वतत्र सत्तामे आत्माके अदर ले लिये जाते है। शात ब्रह्मको अपना लक्ष्य बनाओ तो ससार और उसके समस्त कर्मोंका त्याग करना ही होगा; और उन ईश्वर, भगवान्, पुरुषोत्तमको अपना लक्ष्य बनाओ, जो कर्मके परे होनेपर भी कर्मके आतर आध्यात्मिक कारण और ध्येय तथा मूल सकल्प है, तो संसार उसके सारे कर्मोंके साथ जीत लिया जाता और पुरुष अपने जगतातीत दिव्य स्वरूपमें स्थित होकर उसपर अधिकार रखता है। संसार तब कारागार नही रहता, बल्कि वह 'समृद्ध राज्य' बन जाता है जिसे दैत्यराट् अहंकारकी सीमाको पार कर, कामरूपी जेलरके बंधनको काटकर और अपनी वैयक्तिक संपत्ति और भोगके कैदखानेको तोड़कर हमने आध्यात्मिक जीवन बितानेके लिये जीता है। तब सर्वबंधविनिर्मुक्त विश्वात्मभृत अंतरात्मा ही स्वराट् सम्राट् हो जाता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यज्ञकर्म मुक्तिके साधक हैं और पूर्ण समिद्धिके भी। "उस महान् प्राचीन योगके करनेवाले जनक और अन्य बड़े-बड़े कर्मयोगी बिना किसी अहंता-ममताके सम और निष्काम कर्मको यज्ञरूपसे करके समिद्धिको प्राप्त हुए (कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः)।" उसी प्रकार और उसी निष्कामताके साथ, मुक्ति और समिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् भी हम विशाल भागवत भावसे तथा आध्यात्मिक प्रभुत्वसे युक्त अचला परा प्रकृतिसे कर्म कर सकते हैं। "लोकसंग्रहार्थ, अर्थात् जनताको एक साथ रखनेके लिये भी तुझे कर्म करना चाहिये (लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि)। श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करते हैं उसीका इतर लोग अनुसरण करते हैं; उन्हींके निर्माण किये हुए प्रमाणको मानकर ही सर्वसाधारण लोग चलते हैं। हे पार्थ, इस त्रिलोकमें मेरे लिये कुछ भी ऐसा काम नहीं है जिसे करनेकी मुझे कोई जरूरत हो, कोई चीज ऐसी नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो और जिसको प्राप्त करना अभी बाकी हो, फिर भी मैं कर्म करता ही हूं (वर्त्त एव च कर्मणि)।" 'एव' पदका फलितार्थ यह है कि मैं कर्म करता ही रहता हूं और उन सन्यासियोंकी तरह कर्मको छोड़ नहीं देता जो यह समझते हैं कि कर्मोंका त्याग तो हमें करना ही पड़ेगा। "यदि मैं कर्ममार्गमें अतंद्र होकर लगा न रहूं तो लोग तो हर तरहसे मेरे ही पीछे चलते हैं, वे मेरे कर्म न करनेपर ध्वंसको प्राप्त हो जायंगे और मैं संकरका कारण और इन प्राणियोंका हंता बनूंगा। जो जानते नहीं, वे कर्ममें आसक्त होकर कर्म करते हैं पर जो जानता है उसे लोकसंग्रहका हेतु रखकर अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये। कर्ममें आसक्त रहनेवाले अज्ञानियोंका वह बुद्धिभेद न करे, बल्कि स्वयं ज्ञानयुक्त और योगस्थ होकर कर्म करके उन्हें सब कर्मोंमें लगावे।" इन सात श्लोकोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण श्लोक गीतामें कम ही हैं।

परंतु इस बातको हम लोग अच्छी तरहसे समझ लें कि आधुनिक

कर्मवाद इन श्लोकोंका जैसा अर्थ लगानेका प्रयास करता है–कारण वह किसी उच्च और दूरस्थ आध्यात्मिक संभावनाकी अपेक्षा जगत्की वर्तमान अवस्थासे ही मतलब रखता है–और इन श्लोकोंका उपयोग वह जैसा समाजसेवा, देशसेवा, जगत्सेवा, मानवसेवा तथा आधुनिक बुद्धिको आकर्षित करनेवाली सैकड़ो प्रकारकी समाज-सुधारकी योजनाओं और स्वप्नोंका ही दार्शनिक और धार्मिक समर्थन करनेके काममे करना है, वैसा नही करना चाहिये। यहा इन श्लोकोंमे जिस विधानकी घोषणा की गयी है वह किसी व्यापक नैतिक और बौद्धिक परोपकारनिष्ठाका नियम नही, बल्कि ईश्वरके साथ और जो ईश्वरमे रहते तथा जिनमे ईश्वर रहता है उन प्राणियोंके इस जगत्के साथ आध्यात्मिक एकताका विधान है। यह व्यक्तिको समाज और मानवजातिके अधीन बना देने या समग्र मानवजातिकी वेदीपर अहकारकी बलि चढा देनेकी आज्ञा नही, बल्कि ईश्वरमे व्यक्तिको परिपूर्ण करने और अहकारको सर्वग्राही भागवत सत्ताकी एकमात्र सच्ची वेदीपर बलि चढानेकी आज्ञा है। गीता भावनाओं और अनुभूतियोंकी एक ऐसी भूमिकापर विचरण करती है जो आधुनिक मनकी भावनाओं और अनुभूतियोंकी भूमिकासे ऊंची है। आधुनिक मन अभी जिस अवस्थामे है उसमे वह अहकारके फंदोंको ही काटनेका प्रयास कर रहा है, इसमे सदेह नही; परंतु उसकी दृष्टि अभी भी लौकिक है और उसका भाव आध्यात्मिक नही बल्कि बौद्धिक और नैतिक है। देशप्रेम, विश्वबंधुत्व, समाजसेवा, समष्टिसेवा, मानव-सेवा, मानव-जातिका आदर्श या धर्म, ये सब सराहनीय साधन है व्यष्टिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय अहकाररूपी हमारी जो पहली अवस्था है उससे निकलकर एक दूसरी ही अवस्थामें हमारे चले जानेके, जिस अवस्थामें पहुंचकर व्यष्टि, जहांतककी बौद्धिक, नैतिक और भावावेग-मय भूमिकाओंपर संभव है, यह अनुभव करता है कि मेरा

अस्तित्व दूसरे सब प्राणियोके अस्तित्वके साथ एक है। यहा-पर यह जान लेना चाहिये कि इन भूमिकाओपर वह इस अनुभवको पूरे तौरपर और ठीक-ठीक तथा अपनी सत्ताके पूर्ण सत्यके अनुसार नही प्राप्त कर सकता। परतु गीताके विचार इस दूसरी अवस्थाके भी परे जाकर हमारी विकसन-शील आत्म-चेतनाकी एक तीसरी ही अवस्थाका दिग्दर्शन कराते है जिसमे पहुचनेके लिये यह दूसरी अवस्था केवल एक आशिक प्रगति मात्र है।

भारतका सामाजिक झुकाव व्यक्तिको समाजके दावोके अधीन रखनेकी ओर रहा है, कितु भारतके धार्मिक चिंतन और आध्यात्मिक अनुसधानका लक्ष्य सदा ही उदार रूपमे वैयक्तिक रहा है। गीता-जैसा भारतीय दर्शनशास्त्र व्यक्तिके विकासको, उसकी उच्चतम आवश्यकताको अपनी विशाल-तम आध्यात्मिक स्वतत्रता, महानता, गौरव और प्रभुत्वका विकास कर उन्हे उपयोगमे लानेका उसका जो दावा है उसको और आध्यात्मिक अर्थमे जिनको द्रष्टा और स्वराट् कहा जाता है वैसे प्रकाशमान द्रष्टा और स्वराट् पदमे विकसित होनेके उसके लक्ष्यको—और यही प्राचीन वैदिक ऋषियोकी आदर्श मानव-जातिके सबधमें पहली महान् सनद थी—सबसे पहला स्थान दिये बिना नही रह सकता। व्यक्तिके लिये वैदिक ऋषियोका यही लक्ष्य था कि वह जो कुछ है उसके आगे बढे, अपने वैयक्तिक उद्देश्योको किसी सुसंगठित मनुष्य-समाज-के उद्देश्यके पीछे खोके नही, बल्कि ईश्वरकी चेतनामें अपने-आपको फैलाके, ऊचा करके और बढाके। गीता यहा जिस नियमका विधान कर रही है वह नियम मानव-श्रेष्ठके लिये, अतिमानवके लिये, दिव्यीकृत मानव-सत्ताके लिये है। गीता-का अतिमानव या मानव-श्रेष्ठ एकांगी नही है, बेढंगा नही है, यह अतिमानवता नीतशेकी अतिमानवता नहीं है, यह

अतिमानवता यूनानी आलिम्पस[१], अपोलो[२] या डायोनीसियम[३] जैसी अथवा देवदूत और दैत्यके जैसी अतिमानवता नहीं है। गीताका अतिमानव वह मनुष्य है जिसका सारा व्यक्तित्व एकमेवाद्वितीय परात्पर विश्वव्यापी भगवान्‌की सत्ता, प्रकृति और चेतनापर उत्सर्ग हो गया है और जिसने अपने क्षुद्र भावको खोकर अपने महत्तर आत्माको, अपने दिव्य स्वरूपको पा लिया है।

निम्नतर अपूर्ण प्रकृतिसे, त्रैगुण्यमयी मायामे अपने-आपको ऊपर उठा ले जाना और भागवत सत्ता, चेतना और प्रकृतिके साथ[४] एक हो जाना (मद्‌भावमागताः),—यही योगका लक्ष्य है। परतु जब यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, जब ब्राह्मीस्थितिमे मनुष्य पहुच जाता है और अपने-आपको तथा जगत्‌को मिथ्या अहकारकी दृष्टिसे नही देखता, बल्कि प्राणिमात्रको आत्मामे, ईश्वरमे देखता है और आत्माको, ईश्वरको प्राणिमात्रम देखता है तब उसका वह कर्म क्या होगा—क्योंकि कर्म तो फिर भी रहेगा ही—जो उसके ब्राह्मी-स्थितिके ज्ञानसे उद्‌भूत होता है, और फिर उसके सब कर्मोंमे विश्वगत या व्यक्तिगत हेतु क्या होगा? यही अर्जुनका

---

[१]एक यूनानी पर्वत जो हिमालयकी तरह देवताओकी वास-भूमि माना जाता है।

[२]प्राचीन यूनानी पुराणोंमे वर्णित एक देवता जो काव्य, सगीत, आयुर्वेद, धनुर्वेद और शकुन-शास्त्रका अधिष्ठाता माना गया है।

[३]यूनानी सुरा-देवता, कोई-कोई इस देवताको नहुष और परशुरामके समान मानते हैं।

[४]सायुज्य, सालोक्य और सादृश्य या साधर्म्य। भगवान्‌के स्वरूप और कर्मके साथ एक होना साधर्म्य है।

प्रश्न* है, किंतु अर्जुनने जिस दृष्टिबिंदुसे प्रश्न किया था उससे एक दूसरे ही दृष्टिबिंदुसे उसको उत्तर दिया गया। अब बौद्धिक, नैतिक, भावावेगमय स्तरकी कोई वैयक्तिक कामना उसके कर्मका हेतु नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो छोड़ी जा चुकी,—नैतिक हेतु भी छोड़ा जा चुका, क्योंकि मुक्त पुरुष पाप-पुण्यके भेदसे ऊपर उठ चुका, अब वह उस महिमान्वित पवित्रतामें रहता है जो शुभ और अशुभके परे है। निष्काम कर्मके द्वारा पूर्ण आत्म-विकास करनेके लिये कोई आध्यात्मिक आवाहन भी अब उसके कर्मका हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि इस आवाहनका तो उत्तर दिया जा चुका, उसका आत्म-विकास सिद्ध और पूर्ण हो चुका। तब उसके कर्मोंका एकमात्र हेतु लोक-संग्रह ही हो सकता है (चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्)। ये सब लोग जो किसी अति दूरस्थ भागवत आदर्शकी ओर जा रहे हैं, उन्हें एक साथ रखना होगा, उन्हें मोहमें गिरनेसे, बुद्धि-भेद और बुद्धिभ्रंशमें जा पड़नेसे बचाना होगा, नहीं तो ये लोग उत्सन्न और नष्ट-भ्रष्ट हो जायंगे—दुनिया जो अपने अज्ञानकी अंधेरी रात या अंधेरे अर्धप्रकाशमें आगे बढ़ती चली जा रही है वह इस गर्तमें जा गिरेगी, यदि श्रेष्ठ पुरुषोंके ज्ञानालोक, बल, आचरण, उदाहरण और दृश्य मान-दंड तथा अदृश्य प्रभावके द्वारा इसे एक साथ न रखा जायगा, इसे वह रास्ता न दिखाया जायगा जिसपर चलनेसे ही इसका कल्याण है। श्रेष्ठ पुरुष अर्थात् वे व्यक्ति जो जन-समूहकी सर्वसाधारण पंक्ति और सर्वसाधारण भूमिकासे आगे बढ़े हुए हैं, वे ही मनुष्यजातिके स्वभावसिद्ध नेता हैं, क्योंकि वे ही जातिको उसके चलनेका रास्ता दिखा सकते हैं और वह पैमाना या आदर्श उसके सामने रख सकते

*किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्?

है जिसके अनुसार वह अपना जीवन बनावे। परंतु देव-मनुष्यकी यह श्रेष्ठता ऐसी-वैसी नही है; इसका प्रभाव, इसका उदाहरण इतना सामर्थ्यवान् होता है कि सामान्यत: हम जिसे श्रेष्ठ कहते है उसमें वह प्रभाव या बल नही हो सकता। तब वह जो उदाहरण लोगोंके सामने रखेगा, वह क्या होगा? किस विधान या प्रमाणको मानकर वह चलेगा?

अपने आशयको और भी अच्छी तरहसे स्पष्ट करनेके लिये भगवान् गुरु, अवतार अपना ही उदाहरण, अपना ही प्रमाण अर्जुनके सामने रखते है। वे कहते है, "मै कर्ममार्ग-पर चलता हूं, उस मार्गपर जिसका सब मनुष्य अनुसरण करते हैं, तुझे भी कर्ममार्गपर चलना होगा। जिस प्रकार मैं कर्म करता हूं उसी प्रकार तुझे भी कर्म करना होगा। मैं कर्मोंकी आवश्यकतासे परे हू, क्योंकि मुझे उनसे कुछ पाना नही है; मै भगवान् हूं और जगत्के सारे पदार्थ और प्राणी मेरे ही है और मै खुद जगत्के परे और जगत्के अंदर भी हू, किसी अर्थकी प्राप्तिके लिये मै इस त्रिलोकमे किसी भी पदार्थ या प्राणीका आश्रित नही हूं; तथापि मै कर्म करता हूं। कर्म करनेका यही तरीका और यही भाव तुझे भी ग्रहण करना होगा। मै परमेश्वर ही नियम और मान हूं; मै ही वह मार्ग बनाता हूं जिसपर लोग चलते है; मै ही मार्ग हू और मै ही गतव्य स्थान हू। पर यह सब मै उदार रूपसे, व्यापक रूपसे, केवल अंशत: ही दृष्ट रूपसे पर उससे कही अधिक अदृष्ट रूपसे किया करता हूं; मनुष्य यथार्थ रूपसे मेरे कर्म करनेकी रीतिको नहीं जानते। तुझे जब ज्ञान और दृष्टि होगी, तू जब देवमनुष्य बनेगा तब तू ईश्वरकी ही एक व्यष्टि-शक्ति हो जायगा, मनुष्यके लिये मनुष्य-रूपमें एक दिव्य दृष्टांत बन जायगा, वैसे ही जैसे मै अवताररूपमे हूं। अधिकांश मनुष्य अज्ञानमें रहते है, ईश्वर-

द्रष्टा ज्ञानमें रहता है; पर उसका यह काम नहीं कि अपनी श्रेष्ठताके वश वह संसारके कर्मोका त्याग कर दे और इस तरह मनुष्योके सामने ऐसा खतरनाक उदाहरण रखे जिससे उनका बुद्धिभेद हो, कर्मके सूतको पूरा कात लेनेके पहले ही वह उसे बीच ही मे न काट दे, जिन मार्गोको मैंने बनाया है उनकी चढती-उतरती अवस्थाओं और श्रेणियोंको वह गडबड न करे, उन्हे वह खोटा न बना दे। इस सारे मानव कर्म-क्षेत्रकी व्यवस्था मैंने इसलिये की है कि मनुष्य अपरा प्रकृतिमे परा प्रकृतिमें पहुच जाय और अपने बाह्य अभागवत रूपमे सचेतन भागवत स्वरूपको प्राप्त हो जाय। ईश्वरवेत्ता मानव-कर्मोके सारे क्षेत्रमे विचरण करता रहेगा। उसकी सारी व्यष्टिगत और सामाजिक क्रिया, उसकी बुद्धि, हृदय और शरीरके सारे कर्म अभी भी उसीके होगे, पर अपने पृथक् व्यक्तित्वके लिये किये हुए नही बल्कि संसारमें स्थित उन ईश्वरके लिये किये हुए जो सब प्राणियोमे विराज रहे है, और इसलिये कि वे सब प्राणी, जैसे वह स्वयं उन्नत हुआ है वैसे ही, कर्ममार्गपर चलकर उन्नत हो और अपने अदर रहनेवाले भगवान्को खोज ले।. बाह्यत यह हो सकता है कि उसके कर्मोमे अन्य मनुष्यके कर्मोसे कोई मूलगत अतर न हो; जैसा ही युद्धकर्म और शासनकर्म वैसा ही शिक्षादान और ज्ञानचर्चा, तात्पर्य मनुष्यके साथ मनुष्यके जितने विभिन्न प्रकारके आदान-प्रदान हो सकते है वे सभी उसके हिस्से पड सकते है; पर जिस भावसे वह इन कर्मोको करेगा वह भाव अवश्य ही भिन्न होगा और उसी भावका यह प्रभाव होगा कि लोग उसकी ऊंची स्थितिकी ओर खिचे हुए चले आवेंगे, मानवसमूहका जो आरोहण हो रहा है उसमें वह एक बडे भारी सहारेका काम करेगा।"

मुक्त मनुष्यके लिये भगवान्ने जो अपना दृष्टात रखा वह गंभीर अर्थपूर्ण है; क्योंकि इस दृष्टातसे दिव्य कर्मोके सबध-मे गीताका जो आधार है वह सपूर्ण रूपसे प्रकट हो जाता है। मुक्त पुरुष वही है जिसने अपने-आपको भागवत प्रकृतिमे उठा लिया है और उस भागवत प्रकृतिके अनुसार ही सब कर्म करता है। पर यह भागवत प्रकृति है क्या ? यह केवल अचल, अकर्त्ता, नैर्व्यक्तिक अक्षर ब्रह्मकी ही प्रकृति नही है; क्योंकि केवल यही भाव तो मुक्त पुरुषको निष्क्रिय निश्चलताकी ओर ले जायगा। यह केवल विविध, व्यष्टिगत, प्रकृतिबद्ध क्षर पुरुषकी प्रकृति भी नही है, क्योंकि ऐसा ही हो तो मुक्त पुरुष फिरसे अपने व्यष्टित्वके तथा अपरा प्रकृति और उसके गुणोंके अधीन हो जायगा। यह भागवत प्रकृति उन पुरुषोत्तमकी प्रकृति है जो अक्षर भाव और क्षर भाव दोनोको एक साथ धारण करते और अपनी परम दिव्यता-के द्वारा एक भागवत सामजस्यमे इनका समन्वय करते है। यही भगवत्सत्ताका परम रहस्य है, 'रहस्य ह्येतदुत्तमम्'। प्रकृतिसे बंधे हुए लोग जिस व्यष्टिगत भावमे कर्म किया करते है उस अर्थमे भगवान् कर्मोके कर्त्ता नही है, कारण भगवान् अपनी शक्ति, माया, प्रकृतिके द्वारा कर्म करते है, पर फिर भी उससे ऊपर रहते है, उसमे फसे हुए नही, उसके अधीन नही, ऐसे नही जो उसके बनाये हुए नियमो, कार्य-प्रणालियों और कर्म-सस्कारोसे ऊपर न उठ सके और उन्हीमें आसक्त या बंधे रहे तथा हम लोगोकी तरह मन-प्राण-शरीरकी क्रियाओंसे अपने-आपको अलग न कर सके। वे कर्मोंके ऐसे कर्त्ता है जिन्हें अकर्त्ता समझना चाहिये—"कर्त्तारम् अकर्त्तारम्"। भगवान् कहते है कि "चातुर्वर्ण्यका कर्त्ता मै हूं पर मुझे अविनाशी अकर्त्ता जान। कर्म मुझे लिप्त नही करते, न कर्मफलोंकी मुझे कोई स्पृहा है।" फिर भी भगवान्

कोई निष्क्रिय, उदासीन और निर्बल साक्षीमात्र नही हैं; क्योंकि उनकी शक्तिके जो पदक्षेप और कार्यमान हैं उनमें कर्म करनेवाले वे ही हैं; प्रकृतिकी प्रत्येक गतिमे, प्राणिजगत्के प्रत्येक अणु-रेणुमे उन्हीकी सत्ता व्याप्त है, उन्हीकी चेतना भरी हुई है, उन्हीका संकल्प काम कर रहा है, उन्हीका ज्ञान रूपान्वित हो रहा है।

फिर वे ऐसे निर्गुणी हैं जिनमे सब गुण हैं। उपनिषद् उन्हे 'निर्गुणोगुणी' कहते है। वे प्रकृतिके किसी गुणसे या कर्मसे बधे नही है, न वे हमारे व्यक्तित्वकी तरह प्रकृतिके गुणधर्मोके समूहोसे तथा मानसिक, नैतिक, भावावेगमय, प्राणमय और भौतिक सत्ताकी लाक्षणिक क्रियाओमे ही बने हुए है बल्कि वे तो समस्त धर्मो और गुणोके मूल है और किसी भी गुण या धर्मको अपनी इच्छाके अनुसार जब चाहे, जितना चाहे, जिस प्रकार चाहे विकसित करनेकी क्षमता रखते हे, वे वह अनत सत्ता है जिसके ये सब भूतभाव हैं, वह अपरिमेय प्राचुर्य और असीम अनिर्वचनीय है जिसके ही ये सब परिमाण, सख्या और प्रतीक है जिनको वे विश्वके मानदडके अनुसार छदोबद्ध और सख्याबद्ध करते है। फिर भी वे कोई नैर्व्यक्तिक अनिर्दिष्ट सत्ता ही नही है, न केवल ऐसी सचेतन सत्ता ही है जहासे समस्त निर्देश और व्यष्टिभाव अपना उपादान प्राप्त करते रहे, बल्कि वे परम सत्ता है, अद्वितीय मूल चिन्मय सत् है, पूर्ण पुरुष है जिनके साथ अत्यत स्थूल और घनिष्ठ सभी प्रकारके मानव-सबध स्थापित किये जा सकते है, क्योकि वे सुहृत्, सखा, प्रेमी, खेलके सगी, पथके दिखानेवाले, गुरु, प्रभु, ज्ञानदाता, आनददाता है और इन सब सबंधोमे रहते हुए भी इनसे अलिप्त, मुक्त और निरपेक्ष है। देवनर भी, अपनी यथाप्राप्त सिद्धिके अनुसार व्यक्तिभावमें रहते हुए भी नैर्व्यक्तिक ही, सांसारिक जनोके साथ सब प्रकारके अत्यंत वैयक्तिक और घनिष्ट सबंध रखते हुए भी गुण या कर्मसे सर्वथा अलिप्त ही, किसी भी धर्मका बाह्यतः आचरण करते हुए भी किसी भी धर्मसे अनासक्त

ही, रहता है। न तो कर्मप्रधान मनुष्यकी कर्मण्यता और न संन्यासी, वैरागी या निवृत्तिमार्गीका कर्मविहीन आलोक, न तो कर्मी मनुष्यका प्रचंड व्यक्तित्व और न तत्त्वज्ञानी ऋषिका उदासीन नैर्व्यक्तित्व, इनमेसे कोई भी सपूर्ण भागवत आदर्श नही है। ये ससारी जनोंके तथा संन्यासी, वैरागी या निवृत्तिमार्गीके दो परस्पर-विरोधी सर्वथा भिन्न मानदड है। इनमेसे एक क्षरके कर्ममें डूबे रहते है और दूसरे सर्वथा अक्षरकी शांतिमे निवास करनेका प्रयास करते है; परतु समग्र भागवत आदर्श पुरुषोत्तमकी उस प्रकृतिकी चीज है जो इस परस्पर-विरोधके परे है और जिसमें सभी भागवत सभावनाओंका समन्वय होता है।

कर्मी मनुष्य किसी ऐसे आदर्शसे सतुष्ट नही होता जो इस विश्वप्रकृतिकी, इसकी इस त्रिगुणक्रीडाकी, मन-बुद्धि-हृदय-शरीरके इस मानव-कर्मकी परिपूर्णतापर अवलबित न हो। वह यह कह सकता है कि इस कर्मकी चरम परिपूर्णता ही मेरी समझमे मनुष्यकी परम सिद्धि है, मनुष्यकी भागवत संभावनासे मै जो कुछ समझता हूं वह यही है; जिस आदर्शमे मानव-प्राणीको सतोष हो सकता है वह कोई ऐसा आदर्श होना चाहिये जो मनुष्यकी बुद्धिको, उसके हृदयको, उसकी नैतिक सत्ताको संतुष्ट कर सके, वह कोई ऐसा आदर्श होना चाहिये जो कर्मरत मानव-प्रकृतिका हो; वह यह कह सकता है कि मेरे सामने तो कोई ऐसी चीज होनी चाहिये जिसे मै अपने मन, प्राण और शरीरकी क्रियामें पा सकू। कारण यही उसकी प्रकृति है, उसका धर्म है और जो चीज उसकी प्रकृतिके बाहरकी हो उसके अंदर वह अपने-आपको कैसे परिपूर्ण कर सकता है? क्योकि प्रत्येक जीव अपनी प्रकृतिसे बंधा है और उसे अपनी सिद्धिको इस दायरेके अंदर ही ढूंढ़ना होगा। हमारी मानव-प्रकृतिके अनुसार ही हमारी

मानव-सिद्धि हो सकती है और इसलिये प्रत्येक मनुष्यको उसके लिये अपने व्यष्टिधर्म अर्थात् स्वधर्मके अनुसार ही यत्न करना चाहिये, और वह भी अपने जीवन और कर्ममे ही, जीवन और कर्मके बाहर नही। इस बातका गीता यह उत्तर देती है कि हा, इसमे भी एक सत्य है, मनुष्यके अंदर ईश्वरकी पूर्ण अभिव्यक्ति, जीवनमे भगवान्‌की लीला अवश्य ही आदर्श सिद्धिका एक अश है। परतु यदि तुम उसे केवल बाहर ही ढूढोगे, जीवनमे और कर्मके सिद्धातमें ही उसकी खोज करते रहोगे तो तुम उसे कभी नही पा सकते; क्योकि तब तुम केवल इतना ही नही करोगे कि अपनी प्रकृतिके अनुसार ही कर्म करो,— जो अपने-आपमे तो सिद्धिका ही एक विधान है—बल्कि सदा उसके गुणोके अधीन रहोगे (और यह असिद्धिका एक लक्षण है), सदा ही राग-द्वेष और सुख-दु:खके द्वंद्वोंमे धक्के खाते रहोगे, विशेषत: प्रकृतिकी उस राजसी प्रवृत्तिके वश हो जाओगे जो कामका चचल सर्वग्रासी तत्त्व है और क्रोध, शोक और लालसा जिसके जाल है, जो वह दुष्पूर हुताशन है जिसमे तुम्हारा सारा सासारिक कर्म घिरा रहता है, ज्ञानका जो चिरशत्रु है और जिससे ज्ञान तुम्हारे स्वभावके अदर वैसे ही ढका रहता है, जैसे आग धुएसे ढंकी रहती है या दर्पण धूलसे। उस कामको मार ही डालना होगा यदि तुम आत्मस्वरूपके शांत, स्वच्छ और प्रकाशमय सत्यमे रहना चाहते हो। इंद्रिया, मन और बुद्धि अपूर्णताके इस अनादि कारण कामके अधिष्ठान है और यह होते हुए भी तुम इन्ही इद्रिय, मन और बुद्धिके अंदर ही, इस निम्न प्रकृतिकी क्रीड़ाके अंदर ही सिद्धिकी खोज करना चाहते हो। तुम्हारा यह प्रयास व्यर्थ है। तुम्हारी प्रकृतिका जो कर्म-पार्श्व है उसे पहले निवृत्तिकी शांतिको भी अपने अंदर ले आना होगा;

तुम्हें अपने-आपको निम्न प्रकृतिसे ऊपर उठाकर उस प्रकृतिमे ले आना होगा जो त्रिगुणके ऊपर है, जो परमतत्त्वमे, आत्मतत्त्वमें प्रतिष्ठित है। जब तुम्हे वह आत्मप्रसाद लाभ होगा तभी तुम मुक्त भागवत कर्म करनेमे समर्थ होगे।

इसके विपरीत शांतिप्रार्थी, वैरागी या सन्यासी जहा कही भी जीवन और कर्मका प्रवेश देखते है वहा ही उन्हे सिद्धिकी कोई संभावना नही दिखायी देती। वे कहते है कि जीवन और कर्म ही क्या अपूर्णता और बधनके घर नही है? अपूर्णता क्या कर्मके साथ ही लगी हुई नही है, वैसे ही जैसे अग्निके साथ धुआं लगा हुआ है? कर्मका स्वयं धर्म ही क्या राजसिक नही है? इस रजोगुणसे ही तो काम पैदा होता है और जिसका फल होता है ज्ञानको ढाक देना, कामना तथा सफलता और विफलताके अंदर चक्कर काटते रहना, हर्ष और शोकमें डोलते रहना, पुण्य और पापके द्वंद्वमें फंसे रहना? परमेश्वर संसारमें हो सकते है, पर वे संसारके नही है; वे त्यागके ईश्वर है, हमारे कर्मोके प्रभु या कारण नही। हमारे कर्मोका स्वामी तो काम है और कर्मका कारण है अज्ञान। यदि यह जगत्, यह क्षर सृष्टि किसी प्रकार भगवान्की अभिव्यक्ति या लीला कही भी जाय तो यह अज्ञ मूढ प्रकृतिके साथ उनकी असिद्ध क्रीड़ा है, उनकी यह अभिव्यक्ति नही बल्कि उनका ढंकाव ही है। संसारकी प्रकृतिके प्रथम दर्शनमें ही यह बात स्पष्ट ही देख पड़ती है और फिर जगत्का जब पूर्ण अनुभव होता है तब भी क्या इसी सत्यकी शिक्षा नही मिलती। क्या यह अज्ञानका वह चक्र नहीं है जो जीवको काम और कर्मकी प्रेरणाके द्वारा बार-बार जन्म लेनेके लिये विवश करता है और क्या यह जन्म लेना तभी बंद नहीं होता जब अंतको इस प्रेरणाका या तो क्षय हो जाता या यह त्याग दी जाती है? केवल

काम ही नही, किंतु कर्म भी छोड़ देना आवश्यक है, तभी तो निश्चल आत्मामें प्रतिष्ठित होकर जीव गतिहीन, कर्म-हीन, क्षोभहीन, केवल ब्रह्ममे चला जायगा। संसारी मनुष्यकी, कर्मी मनुष्यकी आपत्तियोका उत्तर देनेमें गीताने जो परिश्रम किया है उससे कहीं अधिक मेहनत उसने निर्गुणब्रह्मवादी, शान्तिप्रार्थी, वैरागी या सन्यासीकी आपत्ति-योका उत्तर देनेमे की है। इसका कारण यह है कि निवृत्तिमार्ग एक उच्चतर और बलवत्तर सत्यका आश्रय लिये हुए है—अवश्य ही यह सत्य भी अभी समग्र या परम सत्य नहीं है—और यदि इस धर्मको मनुष्यजीवनका एक विश्व-व्यापी, पूर्ण और उच्चतम आदर्श कहकर इसका प्रचार किया जाय तो इसका परिणाम मानव-जातिके अपने लक्ष्यकी ओर आगे बढ़नेमे मात्र कर्मवादकी भूलकी अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिभेद और अनिष्ट करनेवाला हो सकता है। जब कोई भी बलवान् एकांगी सत्य पूर्ण सत्यके रूपमे सामने रखा जाता है तब उसका प्रकाश बहुत तीव्र होता है, पर साथ ही उससे बहुत तीव्र संकर भी होता है; क्योंकि उसमें जो सत्यांश है उसकी तीव्रता ही उसके प्रमादवाले अंशको बढ़ानेवाली होती है। कर्मवादियोंके आदर्शमे जो भूल है उससे केवल अज्ञानमे पड़े रहनेकी अवधि लंबी हो जाती और मानव-उन्नतिका क्रम रुक जाता है, क्योंकि यह कर्म-वाद मनुष्योंको पूर्णता या सिद्धिका अनुसधान करनेके लिये ऐसे मार्गमे प्रवृत्त करता है जहा सिद्धि या पूर्णता है ही नहीं; परंतु निवृत्तिमार्गके आदर्शमें जो भूल है उसमें तो संसारके नाशका ही बीज है। श्रीकृष्ण कहते है कि यदि इस आदर्शको सामने रखकर मै कर्म करूं तो मै इन सब प्राणियोंका खातमा कर दूं और संकरका कर्त्ता बनूं; और यद्यपि किसी व्यष्टि-पुरुषकी भूलसे, चाहे वह देवतुल्य पुरुष

ही क्यों न हो, सारी मानवजाति नष्ट नहीं हो सकती तथापि उससे कोई ऐसी विस्तृत विशृंखला हो सकती है जो मानव-जीवनके मूल तत्त्वको ही काटनेवाली और उसकी उन्नतिके सुनिश्चित क्रमको बिगाडनेवाली हो।

इसलिये मनुष्यके अंदर जो निवृत्तिका झुकाव है उसे अपनी अपूर्णताको जान लेना होगा और प्रवृत्तिके झुकावके पीछे जो सत्य है, अर्थात् मनुष्यके अन्दर भगवान्की पूर्णता और मानव-जातिके कर्मोंमें भगवान्की उपस्थिति, उसको भी अपनी बराबरीका स्थान देना होगा। भगवान् केवल नीरवतामें ही नही है, कर्ममे भी है। जिसपर प्रकृतिका कोई असर नही पड़ता ऐसे निष्कर्म पुरुषकी निवृत्ति और जो अपने-आपको इसलिये प्रकृतिके हवाले कर देता है कि यह महान् विश्वयज्ञ जिसे पुरुषयज्ञ कहते है संपन्न हो ऐसे कर्मी पुरुषकी प्रवृत्ति, ये दोनो बाते—निवृत्ति और प्रवृत्ति—कोई ऐसी चीजे नही है जिनमेसे एक सच्ची हो और दूसरी झूठी और इन दोनोंका सदासे सदाके लिये संग्राम चला आया हो, अथवा यह भी नही है कि ये एक-दूसरेकी विरोधी हो, एक श्रेष्ठ हो और दूसरी कनिष्ठ और दोनो एक-दूसरेके लिये घातक हों; बल्कि भागवत प्राकटचका यह द्विविध भाव है। अक्षर अकेला ही इनकी परिपूर्णताकी कुंजी या परम रहस्य नही है। इन दोनोकी परिपूर्णताको, इनके समन्वयको खोजना होगा पुरुषोत्तम-भावमें, जो यहा श्रीकृष्णरूपसे उपस्थित है और जो एक साथ परम पुरुष, जगत्-प्रभु और अवतार है। देवनर उन्हींकी दिव्य प्रकृतिमें प्रवेश कर वैसे ही कर्म करेगा जैसे वे करते है; वह अकर्मकी शरण नही लेगा। अज्ञानी और ज्ञानी दोनों ही मनुष्योंमें भगवान् कार्य कर रहे है। उन भगवान्का ज्ञान हो, यही है जीवका परम कल्याण और उसकी सिद्धिकी शर्त्त,

किंतु उन्हें विश्वातीत शांति और निश्चल-नीरवताके रूपमें जानना और उपलब्ध करना ही सब कुछ नहीं है, जिस रहस्यको जानना है वह तो अज अव्यय परमात्मा और उनके दिव्य जन्म-कर्म, इन दोनोंको एक साथ जानना है (जन्म कर्म च मे दिव्यम्)। इस ज्ञानसे जो कर्म निःसृत होता है वह सब बंधनोंसे मुक्त होता है, "इस प्रकार जो मुझे जानता है," भगवान् कहते हैं कि, "वह कर्मोंसे नही बधता।" यदि कर्म और वासनाके बंधनसे और पुनर्जन्मके चक्रसे छूटना उद्देश्य और आदर्श हो तो ऐसे ज्ञानको ही सच्चा ज्ञान, मुक्तिका प्रशस्त पथ जानना होगा; कारण गीताका कथन है कि, "जो तत्त्वतः मेरे दिव्य जन्म-कर्मको जानता है, वह इस शरीरको छोड़नेपर, पुनर्जन्मको नही बल्कि, हे अर्जुन, मुझे प्राप्त होता है।" दिव्य जन्मको जान और अधिकृत कर वह अज अव्यय भगवान्‌को, जो सकलांतरात्मा है, प्राप्त होता है; और दिव्य कर्मोंके ज्ञान और आचरणसे कर्मोंके अधीश्वरको, जो "भूतानां ईश्वरः" है, प्राप्त होता है। तब वह अज अविनाशी सत्तामें ही रहता है, उसके कर्म उस सर्वलोकमहेश्वरके कर्म ही होते हैं।

अवतारकी संभावना और हेतु

जिस योगमें कर्म और ज्ञान एक हो जाते है, जिस योगमें कर्म-यज्ञयोग और ज्ञानयोग एक हो जाते है, जिस योगमें कर्मकी परि-पूर्णता ज्ञानमें होती है और ज्ञान कर्मका पोषण करता, उनका रूप बदल देता और उन्हें आलोकित कर देता है और फिर ज्ञान और कर्म दोनों ही उन परम भगवान् पुरुषोत्तमको समर्पित किये जाते हैं जो हमारे अंदर नारायणरूपसे आविर्भूत होते, जो हमारी सत्ता और कर्मके अधीश्वररूपसे सदा हमारे हृदयोंमें गुप्त भावसे विरा-जमान हैं, जो मानव-आकारमें भी अवताररूपसे प्रकट होते है और जो दिव्य जन्म ग्रहण कर हमारी मानवताको अपने अधिकारमे ले लेते है, उस योगका वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण बातों-बातोमें यह कह गये कि यही वह सनातन आदि योग है जो मैंने सूर्यदेव विव-स्वान्को प्रदान किया और विवस्वान्ने जिसे मनुष्योके जनक मनु-को और मनुने जिसे सूर्यवंशके आदि पुरुष इक्ष्वाकुको दिया और इस प्रकार यह योग एक राजर्षिसे दूसरे राजर्षिको मिला और इसकी परंपरा चली और फिर बहुत काल बीत चुकनेके बाद इस योगको लोग भूल गये। वही योग भगवान् कहते है कि आज मै तुझे दे रहा हूं, क्योंकि तू मेरा प्रेमी और भक्त, सखा और साथी है। भगवान्ने इस योगको परम रहस्य कहकर इसे अन्य सब योगोंसे श्रेष्ठ बताया, क्योंकि अन्य योग या तो निर्गुण ब्रह्मको या सगुण साकार इष्टदेवको ही प्राप्त करानेवाले, या निष्कर्मज्ञान-स्वरूप मोक्ष अथवा आनंदनिमग्न मुक्तिके ही दिलानेवाले हैं, किंतु यह योग परम रहस्य और संपूर्ण रहस्यको खोलकर दिखानेवाला, दिव्य शक्ति और दिव्य कर्मको प्राप्त करानेवाला तथा पूर्ण स्व-तंत्रतासे युक्त दिव्य ज्ञान, कर्म और परमानंदको देनेवाला है।

जैसे भगवान्‌की परम सत्ता अपनी व्यक्त सत्ताकी सब परस्पर विभिन्न और विरोधी शक्तियों और तत्त्वोंका समन्वय कर उन्हें अपने अंदर एक कर लेती है वैसे ही इस योगमें भी सव योगमार्ग मिलकर एक हो जाते हैं। इसलिये गीताका यह योग केवल कर्मयोग नही है जैसा कि कुछ लोगोंका आग्रह है, जो इसे तीन मार्गोंमेंसे सबसे कनिष्ठ मार्ग बतलाते हैं, बल्कि यह परम योग है, पूर्ण समन्वयात्मक और अखंड है, जिसमें जीवके सब अंग-प्रत्यंगोंकी सारी शक्तियां भगवन्मुखी की जाती है।

इस योगको विवस्वान् आदिको दिये जानेकी बातको अर्जुनने अत्यंत स्थूल अर्थमें ग्रहण किया (इस बातको दूसरे अर्थमें भी लिया जा सकता है) और पूछा कि सूर्यदेव जो जीव-सृष्टिमें अग्रजन्माओंमेंसे एक है, जो सूर्यवंशके आदि पुरुष हैं उन्होंने मनुष्यरूप श्रीकृष्णसे, जो अभी-अभी जगत्‌में उत्पन्न हुए, यह योग कैसे ग्रहण किया। इस प्रश्नका उत्तर श्रीकृष्ण यह दे सकते थे कि संपूर्ण ज्ञानके मूलस्वरूप जो भगवान् हैं उस भगवद्रूपसे मैंने यह उपदेश उन सविताको किया था जो भगवान्‌के ही ज्ञानके व्यक्त रूप हैं और जो समस्त अंतर्बाह्य दोनों ही प्रकाशके देनेवाले हैं--भर्गो सवितुर्देवस्य यो नो धियः प्रचोदयात्। परंतु यह उत्तर उन्होंने नही दिया। उन्होंने इस प्रश्नके प्रसंगसे अपने छिपे हुए ईश्वररूपकी वह बात कही जिसकी भूमिका वे तभी बांध चुके थे जब उन्होंने कर्म करते हुए भी कर्मोंसे न बंधनेके प्रसंगमें अपना दिव्य दृष्टांत सामने रखा था। पर वहां उन्होंने उस बातको अच्छी तरहसे स्पष्ट नहीं किया था। अब वे अपने-आपको स्पष्ट शब्दोंमें अवतार घोषित करते हैं।

भगवान् गुरुकी चर्चाके प्रसंगमें वेदांतकी दृष्टिसे अवतारतत्त्वका प्रतिपादन संक्षेपमें किया जा चुका है। गीता भी इस तत्त्वको वेदांतकी ही दृष्टिसे हमारे सामने रखती है। अब हम लोग इस तत्त्वको जरा और अंदर पैठकर देखें और उस दिव्य जन्म-

के वास्तविक अभिप्रायको समझे जिसके बाह्य रूपको ही अवतार कहते हैं, क्योंकि गीताकी जो शिक्षा है उसमें यह चीज एक ऐसी लड़ी है जिसके बिना इस शिक्षाकी शृंखला पूरी नहीं होती। सबसे पहले हम श्रीगुरुके उन शब्दोंका अनुवाद करके सामने रख दें जिनमें अवतारके स्वरूप और हेतुका संक्षेपमें वर्णन किया गया है और उन श्लोकोंको या वचनोंको भी ध्यानमें ले आवें जो उससे संबंध रखते हैं। "बहुतसे जन्म, हे अर्जुन, मेरे और तेरे भी बीत चुके; मैं उन सबको जानता हूं, पर तू नहीं जानता। हे परंतप, मैं अपनी सत्तासे यद्यपि अज और अविनाशी हूं, सब भूतोंका स्वामी भी हूं, तो भी मैं अपनी प्रकृतिको अपने अधीन रखकर आत्म-मायासे जन्म लिया करता हूं। जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका उत्थान, तब-तब मैं अपना सृजन करता हूं। साधु पुरुषोंको उबारने और पापात्माओंको संहारने और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें जन्म लिया करता हूं। मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जो कोई तत्त्वतः जानता है, वह इस शरीरको छोड़नेपर पुनर्जन्मको नहीं, बल्कि, हे अर्जुन, मुझको प्राप्त होता है। राग, भय और क्रोधसे मुक्त, मेरे ही भावमें लीन, मेरा ही आश्रय करनेवाले, ज्ञानतपसे पुनीत अनेकों पुरुष मेरे भावको (पुरुषोत्तमके भावको) प्राप्त हुए हैं। जो जिस प्रकार मेरी ओर आते हैं, उन्हें मैं उसी प्रकारसे प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूं (भजामि); हे पार्थ, सब मनुष्य सब तरहसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं।"

परंतु बहुतसे मनुष्य, गीता अपना कथन जारी रखते हुए बतलाती है कि, अपने कर्मोंकी सिद्धि चाहते हुए, देवताओंके अर्थात् एक परमेश्वरके विविध रूपों और व्यक्तित्वोंके प्रीत्यर्थ यज्ञ करते है, क्योंकि कर्मोंसे—ज्ञानरहित कर्मोंसे—होनेवाली सिद्धि मानव-जगत्में सुगमतासे प्राप्त होती है; पर वह केवल उसी जगत्की होती है। परंतु दूसरी सिद्धि, अर्थात् पुरुषोत्तमके प्रीत्यर्थ

किये जानेवाले ज्ञानयुक्त यज्ञके द्वारा मनुष्यकी दिव्य आत्मपरिपूर्णता, उसकी अपेक्षा अधिक कठिनतामे प्राप्त होती है; इस यज्ञके जो फल होते है वे सत्‌की उच्चतर भूमिकाके होते है और जल्दी पकड़में नही आते। इसलिये मनुष्योको अपने गुण-कर्मके अनुसार चतुर्विध धर्मका पालन करना पडता है और सांसारिक कर्मके इस क्षेत्रमें वे भगवान्‌को उनके विविध गुणोंमें ही ढूढ़ते है। परंतु भगवान् कहते है कि यद्यपि मै चतुर्विध कर्मोंका कर्त्ता और चातुर्वर्ण्यका स्रष्टा हूं तो भी मुझे अकर्त्ता, अव्यय, अक्षर आत्मा भी जानना चाहिये। "कर्म मुझे लिप्त नही करते, न कर्मफलकी मुझे कोई स्पृहा है।" कारण भगवान् नैर्व्यक्तिक है और इस अहभावापन्न व्यक्तित्वके तथा प्रकृतिके गुणोके इस द्वंद्वके परे है, और अपने पुरुषोत्तम-स्वरूपमे भी, जो उनका नैर्व्यक्तिक पुरुषभाव है, वे कर्मके अदर रहते हुए भी अपनी इस परम स्वतंत्रतापर अधिकार रखते है। इसलिये दिव्य कर्मोंके कर्त्ताको चातुर्वर्ण्यका पालन करते हुए भी उसीको जानना और उसीमे रहना होता है जो परे है, जो नैर्व्यक्तिक है और फलतः जो परमेश्वर है। "इस प्रकार जो मुझे जानता है," भगवान् कहते है कि, "वह अपने कर्मोंसे नही बधता। यही जानकर मुमुक्षु लोगोने पुराकालमे कर्म किया; इसलिये तू भी उसी पूर्वतर प्रकारके कर्मका आचरण कर जो पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित हुआ है।"

जिन श्लोकोंका अनुवाद ऊपर दिया जा चुका, उनमें पीछेके श्लोक, जिनका सारांशमात्र दिया गया है, 'दिव्य कर्म' का स्वरूप बतलानेवाले है जिनका निरूपण हम लोग पिछले अध्यायमें कर चुके है; और इनमें जो पहलेके श्लोक है, जिनका संपूर्ण अनुवाद दिया गया है, वे 'दिव्य जन्म' अर्थात् अवतारतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले है। पर यहां हमें एक बात बड़ी सावधानीके साथ कह देनी है कि अवतारका आना—जो मानव-जातिके अंदर भगवान्‌का परम रहस्य है—केवल धर्मकी संस्थापना करनेके लिये ही नहीं होता;

क्योंकि धर्मसंस्थापन स्वयं कोई इतना बड़ा और पर्याप्त हेतु नहीं है, कोई ऐसा महान् लक्ष्य नही हैं जिसके लिये ईसा या कृष्ण या बुद्धको उतर आना पड़े, धर्मसंस्थापन तो किसी और भी महान्, परतर और भागवत संकल्पसिद्धिकी एक सहचरी अवस्थामात्र है। कारण दिव्य जन्मके दो पहलू हैं; एक है अवतरण, मानव-जातिमें भगवान्का जन्मग्रहण, मानव आकृति और प्रकृतिमे भगवान्का प्राकट्य, यही सनातन अवतार है; दूसरा है आरोहण, भगवान्के भावमें मनुष्यका जन्मग्रहण, भागवत प्रकृति और भागवत चैतन्यमें उसका उत्थान (मद्भावमागताः), यह जीवका नवजन्म, द्वितीय जन्म है। भगवान्का अवतार लेना और धर्मकी संस्थापना करना इसी नव-जन्मके लिये होता है। अवतारविषयक गीतासिद्धातके इस द्विविध पहलूकी ओर उन लोगोंका ध्यान नही जाता जो गीताको सरसरी तौरपर पढ जाते है और अधिकाश पाठक ऐमे ही होते है जो इस ग्रंथकी गंभीर शिक्षाकी ओर न जाकर इसके ऊपरी अर्थसे ही संतुष्ट हो जाते हैं। और वे भाष्यकार भी जो अपनी साप्रदायिक चहारदीवारीके अंदर बद रहते है. इसको नही देख पाते। इसलिये अवतारतत्त्वसंबधी गीताका जो सिद्धांत है उसके संपूर्ण अर्थको समझनेके लिये अवतारके इस द्विविध पहलूको जान लेना आवश्यक है। इसके बिना अवतारकी भावना एक मतविशेष भर, एक प्रचलित मूढ़-विश्वास भर रह जायगी अथवा यह हो जायगा कि ऐतिहासिक या पौराणिक अतिमानवोंको कल्पनाके जोरसे या रहस्यमय तरीकेसे भगवान् बना दिया जायगा और यह भावना वह नहीं रह जायगी जो गीताकी शिक्षा है, जो गंभीर दार्शनिक और धार्मिक सत्य है और जो "उत्तमं रहस्यं" को प्राप्त करानेका एक आवश्यक अंग या पदक्षेप है।

यदि परमेश्वर-सत्तामें मनुष्यके आरोहणकी सहायता करना मनुष्य-रूपमें परमेश्वरके अवतीर्ण होनेका प्रकृत हेतु न हो तो धर्मके लिये भगवान्का अवतार लेना एक निरर्थकसा व्यापार

प्रतीत होगा; कारण धर्म, न्याय और सदाचारकी रक्षाका कार्य तो भगवान्की सर्वशक्तिमत्ता अपने सामान्य साधनोंके द्वारा, अर्थात् महापुरुषों और महान् आदोलनोंके द्वारा तथा ऋषियों, राजाओं और धर्माचार्योंके द्वारा सदा कर ही सकती है, उसके लिये अवतारकी कोई प्रकृत आवश्यकता नहीं। अवतारका आना होता है मानव-प्रकृतिमें भागवत प्रकृतिको प्रकटानेके लिये, ईसा, कृष्ण और बुद्धकी भगवत्ताको प्रकटानेके लिये, जिससे कि मानव-प्रकृति अपने सिद्धांत, विचार, अनुभव, कर्म और सत्ताको ईसा, कृष्ण और बुद्धके साचेमें ढालकर स्वय भागवत प्रकृतिमे रूपातरित हो जाय। अवतार जो धर्म संस्थापित करते है उसका मुख्य हेतु भी यही होना है; ईसा, बुद्ध, कृष्ण इस धर्मके तोरणद्वार बनकर स्थित होते है और अपने अदरसे होकर ही वह मार्ग निर्माण करते है जिसका अनुवर्त्तन करना मनुष्योंका धर्म होता है। यही कारण है कि प्रत्येक अवतार मनुष्योंके सामने अपना ही दृष्टांत रखते और अपने-आपको ही एकमात्र मार्ग और तोरणद्वार घोषित करते है; अपनी मानवताको ईश्वरकी सत्ताके साथ एक बतलाते और यह भी प्रकट करते है कि मै जो मानव पुत्र हूं वह और जिस ऊर्ध्व-स्थित पितासे मै अवतरित हुआ हूं वह, दोनो एक ही है,—मनुष्य-शरीरमें जो श्रीकृष्ण है वे (मानुषी तनुमाश्रितम्) और परमेश्वर तथा सर्वभूतोंके सुहृत् जो श्रीकृष्ण है वे, ये दोनो उन्ही भगवान् पुरुषोत्तमके ही प्रकाश है, वहां वे अपनी ही सत्तामे प्रकट है, यहां मानव-आकारमें प्रकट है।

अवतारके होनेका यह जो दूसरा और वास्तविक उद्देश्य है, यही गीताके समग्र प्रतिपादनका मुख्य विषय है। यह बात उस श्लोकसे ही, यदि उसका यथार्थ रूपसे विचार किया जाय तो, प्रकट है। पर केवल उस एक श्लोकसे ही नही—क्योंकि ऐसा करना गीताके श्लोकोंका ठीक अर्थ लगानेका गलत रास्ता है—बल्कि अन्य श्लोकोंके साथ उसका जो संबंध है उसका पूरा ध्यान

रखते हुए और समग्र प्रतिपादनके साथ उसका मेल मिलाते हुए विचार किया जाय तो यह बात और भी अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जाती है। गीताका यह जो सिद्धांत है कि सबमे एक ही आत्मा है, फिर जो यह सिद्धांत भी है कि प्रत्येक प्राणीके हृद्देशमें भगवान् विराजमान है और साथ ही सृष्टिकर्त्ता प्रजापति और उनकी सृष्ट की हुई प्रजा, इन दोनोंका जैसा परस्पर-सबध गीता बतलाती तथा विभूतितत्त्वका प्रतिपादन जिस जोरदार आग्रहके साथ करती है, इन सभी बातोंको हमे ध्यानमें रखना होगा और एक साथ विचारना होगा। भगवान् अपने निष्काम कर्मका जो उदाहरण देते है, जो मानव श्रीकृष्णपर उतना ही घटता है जितना कि सर्व-लोकमहेश्वरपर, उसकी भाषाको भी ध्यानमें रखना होगा और नवे अध्यायके इस वचनको भी उसका प्राप्य स्थान देना होगा कि, "मूढ़ लोग मानुषी तनुमे आश्रित मेरा तिरस्कार करते है क्योंकि वे मेरे सर्वलोकमहेश्वर परम भावको नही जानते;" और इन विचारोंको सामने रखकर तब इस वचनका अभिप्राय निकालना होगा जो इस समय हमारे सामने है कि उनके दिव्य जन्म और दिव्य कर्मके ज्ञानद्वारा मनुष्य भगवान्‌के पास आता है और भगवन्मय होकर तथा उनका आश्रित होकर वह उनके भावको प्राप्त होता है (मद्‌भावम्)। तब हम लोग दिव्य जन्म और उसके हेतुको तत्त्वतः समझ सकेंगे कि यह कोई सबसे न्यारी अचरजभरी विलक्षणसी चीज नहीं है, बल्कि जगत्-प्राकट्यका जो संपूर्ण क्रम है उसमें इसका भी एक विशिष्ट स्थान है; इसके बिना हम अवतारके इस दिव्य रहस्यको समझ ही नहीं सकेंगे, और तब या तो उसे एक फालतू-सी चीज समझकर छोड़ देंगे या बिना समझे ही अंध-श्रद्धासे मान लेंगे अथवा इसके बारेमें आधुनिक मनके उन क्षुद्र और बाहरी विचारोंमें जा फंसेंगे जिससे इसका जो आंतरिक और उपकारी अर्थ है वह नष्ट हो जायगा।

कारण आधुनिक मनके लिये अवतारतत्त्व तर्कबद्ध मानव-चेतना-पर पूर्वकी ओरसे आ गिरनेवाली विचारधाराओमेसे एक विचार है और इस भावको स्वीकार करना या समझना उसके लिये बहुत ही कठिन है। यदि वह अवतारतत्त्वको उदार भावसे ले तो वह कहेगा कि यह मानव शक्तिका, स्वभावका, प्रतिभाका, जगत्के लिये या जगत्मे किये गये किसी महान् कर्मका एक प्रतीक-मात्र है और यदि वह इसको अनुदार भावसे ग्रहण करे तो वह कहेगा कि यह एक कुसस्कार या मूढ-विश्वासमात्र है। नास्तिकके लिये यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है और यूनानीके लिये मार्गका रोडा। जडवादी तो इस विचारको अपने ध्यानमे भी नही ला सकते, क्योकि वे ईश्वरकी सत्ताको ही नही मानते; युक्तिवादी या भागवत प्राकट्यको न माननेवाले ईश्वरवादी इसे मूर्खता और उपहासका एक विषयमात्र ही समझ सकते है, कट्टर द्वैतवादियोकी दृष्टिमें मानव-स्वभाव और देव-स्वभावके बीचका अतर कभी मिट ही नही सकता, इसलिये उनकी दृष्टिमे तो ऐसी बात कहना ईश्वर-की ही निदा करना है। युक्तिवादियोका पक्ष यह है कि ईश्वर यदि है तो वह विश्वातीत है, विश्वके परे है, ससारके मामलोमें वह दखल नही देता, बल्कि ससारका अनुशासन एक सुनिश्चित विधानके बने-बनाये यत्रके द्वारा होने देता है—यथार्थमे वह विश्वसे दूर रहनेवाला कोई वैधानिक राजासा या कोई आध्यात्मिक राजा जडभरतसा है, उसकी अधिक-से-अधिक प्रंशसा यही हो सकती है कि वह प्रकृतिके पीछे रहनेवाला, सांख्यवर्णित साधारण और वस्तुनिरपेक्ष साक्षी पुरुषका-सा अकर्त्ता आत्मतत्त्व है; वह विशुद्ध आत्मा है, वह शरीर धारण नही कर सकता; वह अपरिच्छिन्न अनंत है, मनुष्यकी तरह सांत परिच्छिन्न नहीं हो सकता; वह अजन्मा सृष्टिकर्त्ता है, संसारमें जन्मा हुआ सृष्ट प्राणी नहीं हो सकता—ये बातें उसकी निरपेक्ष शक्तिमत्ताके लिये भी असंभव हैं। कट्टर द्वैतवादी इन बातोंमें अपनी तरफसे इतनी

बात और जोड़ देगा कि ईश्वर है पर उनका स्वरूप, उनकी कर्मभूमिका और उनका स्वभाव मनुष्यसे भिन्न और पृथक् है; वे पूर्ण है और मनुष्यकी अपूर्णताको अपने ऊपर नही ओढ सकते; अज अविनाशी पुरुष परमेश्वर मनुष्य नही बन सकते; सर्वलोक-महेश्वर प्रकृतिसे बधे हुए मानवकर्ममे और नाशमान मानव-शरीर-मे सीमाबद्ध नही हो सकते। ये आक्षेप जो पहली नजरमें बड़े प्रबल मालूम होते है, गीताके वक्ता भगवान् गुरुकी दृष्टिके सामने मौजूद रहे होगे जब वे कहते है कि, यद्यपि मै अपनी आत्म-सत्तामें अज हूं, अव्यय हूं, प्राणिमात्रका ईश्वर हूं, फिर भी मै अपनी प्रकृति-को अधिष्ठान करके अपनी आत्म-मायाके द्वारा जन्म लिया करता हू; और जब वे यह कहते है कि मूढ लोग मनुष्य-शरीरमे होनेके कारण मुझे तुच्छ गिनते है पर यथार्थमे अपनी परम सत्ताके अंदर मै प्राणिमात्रका ईश्वर हू, और यह कि मै अपनी भागवत चेतना की क्रियामें चातुर्वर्ण्यका स्रष्टा हूं तथा जगत्के कर्मोका कर्त्ता हू और यह होते हुए भी अपनी भागवत चेतनाकी नीरवतामें उसी समय मै अपनी प्रकृतिके कर्मोका उदासीन साक्षी हूं, क्योकि मै सदा कर्म और अकर्म दोनोके ही परे हू, परम प्रभु हूं, पुरुषोत्तम हूं। और इस तरह गीता अवतार-तत्त्वके विरुद्ध किये जानेवाले आक्षेपोका पूरा जवाब दे देती है और इन सब परस्पर-विरोधोका समन्वय करनेमे समर्थ होती है, क्योंकि ईश्वर और जगत्के संबंधमें वेदांत-शास्त्रका जो सिद्धांत है उसीसे गीताका उपक्रम होता है।

वेदांतकी दृष्टिमें ये आपातप्रबल आक्षेप प्रारंभसे ही निस्सार और निरर्थक है। वेदातकी योजनाके लिये अवतारकी भावना अनिवार्य नही है सही, पर फिर भी यह भावना उसके अंदर सर्वथा युक्तियुक्त और न्यायसंगत धारणाके रूपमें सहज भावसे आ जाती है। कारण, यहां जो कुछ है सब ईश्वर, आत्मा, एकमेवा-द्वितीय ब्रह्म ही तो है और दूसरी कोई भी चीज नही जो उससे भिन्न हो, कोई चीज हो ही नहीं सकती जो उससे इतर और भिन्न हो;

प्रकृति भागवत चेतनाकी ही एक शक्ति होनेके अतिरिक्त न कुछ है न हो सकती है; सब प्राणी एक ही भागवत सत्ताके आतर और बाह्य, अहं और इदं, जीवरूप और देहरूपके अतिरिक्त न कुछ है न हो सकते हैं, ये उसी भागवत चेतनाकी शक्तिसे उत्पन्न होते और उसीमें स्थित रहते है, अनत ईश्वर सात भावको नही धारण कर सकता, यह सवाल ही नही उठता जब कि यह सारा जगत् उस अनंतके अतिरिक्त और कुछ है ही नही। इस समग्र विशाल जगत्में, जहां कि हम रहते है, हम चाहे जिधर दृष्टि उठाकर देखे, चाहे जैसे देखें, पर देखेंगे उसीको और किसीको नही। आत्माका साकार न हो सकना अथवा अन्नमय या मनोमय रूपके साथ संबध जोड़ने और परिच्छिन्न स्वभाव या शरीर धारण करनेसे घृणा करना तो दूर रहा, यहा तो जो कुछ है वही है, उसी सबंधसे, उसी परिच्छिन्न स्वभाव और शरीरको धारण करनेसे ही इस जगत्का अस्तित्व है। यह तो कोई बात ही नही कि जगत् कोई यत्रवत् चलनेवाला विधानमात्र है जिसकी शक्तियोकी गतियोमे या जिसके मनप्राण-शरीरसे होनेवाले कर्मोमे हस्तक्षेप करनेवाला कोई आत्मा या पुरुष नही; यह भी नही कि किसी मूल तटस्थ आत्मतत्त्वकी कोई सत्ता अगर हो भी तो वह इस जगत्मे नही, कही इसके बाहर या ऊपर निष्क्रिय रूपसे रहती होगी, बल्कि यह सारा जगत् और इसका प्रत्येक अणु-रेणु कर्मरत भागवत शक्ति ही है और उसकी प्रत्येक गतिका निर्धारण और नियमन उसी भागवत शक्तिके द्वारा होता है, इसके प्रत्येक रूपमें उसीका निवास है, प्रत्येक जीव और उसका अंतःकरण उसीका है; सब कुछ ईश्वरमें है और उसीमे सब कुछ होता रहता है, सबमे वही है, वही कर्म करता और अपनी सत्ता दरसाता है; प्रत्येक प्राणी छद्मवेशमें नारायण ही है।

अजन्मा जन्म नही ले सकता ऐसी तो कोई बात ही नही, बल्कि बात तो यह है कि प्रत्येक जीव अपने व्यक्तित्वके अंदर रहते हुए भी

वही अजन्मा आत्मा है, वही सनातन है जिसका न कोई आदि है न अंत। और अपने मूल अस्तित्व और अपनी विश्वव्यापकतामें सभी जीव वही एक अजन्मा आत्मा है, जिसके आकार-ग्रहण और आकार-परिवर्तनका नाम ही जन्म और मृत्यु है। इस जगत्का सारा रहस्यमय व्यापार यही तो है कि पूर्ण अपूर्णताको कैसे धारण किये हुए है? पर यह अपूर्णता धारण किये हुए मन और शरीरके रूप और कर्ममें ही प्रकट होती है, यहाके प्रपचमें ही रहती है; जो इसे धारण करता है उसमें कोई अपूर्णता नही होती, जैसे सूर्य, जो सबको आलोकित करता है उसमें प्रकाश या दर्शन-शक्तिकी कोई कमी नही होती, कमी होती है व्यक्तिविशेषके दर्शनेद्रियकी क्षमतामें ही। फिर, यह भी कोई बात नही है कि भगवान् बहुत दूर किसी स्वर्गमें विराजे इस जगत्का राज करते हो, वल्कि उनका राज तो उनकी अपनी निगूढ सर्वव्यापकतासे हुआ करता है; प्रत्येक परि-च्छिन्न सांत गुणकर्म अपिरिच्छिन्न अनत शक्तिका ही एक कार्य है, किसी पृथक् परिच्छिन्न स्वयंभू क्रियाशक्तिका नही जो अपने ही बलसे कोई परिश्रम कर रही हो; मन-बुद्धिके सकल्प और ज्ञानकी प्रत्येक परिच्छिन्न क्रियामें हम अपरिच्छिन्न अखिल संकल्प और अखिल ज्ञानके किसी कर्मका आश्रयरूपसे होना ढूढकर देख सकते है। भगवान्का राज कोई ऐसा राज नही है जहांका शासक अनुपस्थित रहता हो, विदेशी हो या बाहरी हो; वे इसलिये सब-का शासन करते हैं कि वे सबके परे हैं, पर साथ ही इसलिये भी कि वे सब क्रियाओंमें स्वयं रहते है और वे ही उन क्रियाओंके एक-मात्र प्राण और आत्मा है। इसलिये अवतारकी संभावनाके विरुद्ध जो-जो आक्षेप हमारी तर्क-बुद्धिमें आया करते हैं वे सिद्धांत-तः नहीं टिक सकते क्योंकि यह सब हमारे बौद्धिक तर्कद्वारा उपस्थित किया हुआ एक ऐसा व्यर्थका विभेद है जिसे जगत्का सारा व्यापार और उसकी सारी वास्तविकता दोनों ही प्रतिक्षण खंडित और अप्रमाणित कर रहे हैं।

परंतु अवतारकी संभावनाके प्रश्नको छोड़कर एक और प्रश्न है और वह यह कि क्या भगवान् सचमुच ही इस प्रकार कर्म करते है, क्या सचमुच ही भागवत चेतना परदेके बाहर निकलकर इस सात, मनोमय, अन्नमय, परिच्छिन्न, अपूर्ण बाह्य जगत्‌में सीधे कर्म करती है ? यह सात बाह्य परिच्छिन्न रूप आखिर क्या है—यह अनतके ही विभिन्न चिद्‌भावोके सामने अनतकी ही अपनी अभिव्यक्तियो-का एक सुनिश्चित बाह्य रूप, उनका एक बाहरी मूल्य है; प्रत्येक सांत बाह्य रूपका वास्तविक मूल्य तो यह है कि यह बाह्य व्यापार भी आत्म-स्थितिमे एक अनंत ही है, फिर चाहे उसकी बाह्य प्रकृति-के कर्ममें, उसकी सासारिक आत्म-अभिव्यक्तिमे वह कैसा ही क्यो न हो। यदि हम अधिक गौरसे देखे तो मनुष्य सर्वथा अकेला नही है, वह सर्वथा पृथक् रहनेवाला कोई स्वत:स्थित व्यक्ति नही है, बल्कि वह किसी मनविशेष और शरीरविशेषके अदर स्वयं मानव-जाति ही है; और स्वयं मानव-जाति भी कोई स्वत:स्थित सबसे पृथक् जाति नही है, बल्कि भूमा विश्वपति ही मानवजातिके रूपमें मूर्त्तिमान है; इस रूपमे वे कतिपय सभावनाओको क्रिया-न्वित करते हैं, आधुनिक भाषामें यों कहिये कि अपनी अभिव्यक्ति-की शक्तियोंको प्रस्फुटित और विकसित करते है, पर जो कुछ विकसित होकर आता है वह स्वयं अनंत ही होता है, स्वय आत्मा ही होता है।

आत्मासे हमारा अभिप्राय है उस स्वयंभू सत्तासे जिसमें चेतनाकी अनंत शक्ति और अपार आनंद निहित हैं; आत्मा यही है और यदि यह न हो तो कुछ भी नही है अथवा कम-से-कम मनुष्य और जगत्‌के साथ उसका कुछ भी संबंध नहीं है और इसलिये मनुष्य और जगत्-को भी उससे कुछ लेना-देना नही है। स्थूल, द्रव्य, शरीर तो सचेतन सत्ताकी शक्तिका ही पुजीभूत कर्ममात्र है, चेतनाकी इंद्रिय-शक्तिद्वारा क्रियान्वित होनेवाले चेतनाके परिवर्तनशील संबंधोंको काममें लानेके लिये प्रारंभिक साधनके तौरपर यह उपयोगमें लाया

जाता है। यथार्थमें स्थूल कही भी चेतनासे खाली नही है; क्योंकि एक-एक अणु-रेणु और छिद्र-रंध्रमें भी कोई संकल्पशक्ति, कोई बुद्धि कर्म कर रही है, यह बात अब आधुनिक सायंसको भी मजबूरन स्वीकार करनी पड़ी है। परंतु यह संकल्पशक्ति या बुद्धि उस आत्मा या ईश्वरकी ही तो है जो उसके अंदर है, यह किसी जड़ छिद्र या अणु-रेणुका अपना, अपनेसे ही उपजा हुआ कोई पृथक् संकल्प या विचार नही है। स्थूलमें अंतर्लीन यह विराट् संकल्प और बुद्धि एकके बाद एक रूपोंके अंदरसे होकर अपनी शक्तियोंका विकास करते रहते हैं और अंतमें पृथ्वीपर मनुष्यके अंदर पहुंचकर यह होता है कि ये पूर्ण भागवत शक्तिके एकदम पास पहुंच जाते हैं और यहा ही इनको, इनकी बहिर्गत और रूपगत बुद्धिमें भी, पहले-पहल अपनी दिव्यताका कुछ-कुछ धुंधलासा आभास मिलता है। परंतु यहांकी भी एक सीमा होती है, कारण यह प्राकट्य भी अभी अपूर्ण है और इसलिये निम्नतर रूपोंको भगवान्के साथ अपने तादात्म्यका ज्ञान नहीं हो पाता। क्योंकि प्रत्येक ससीम प्राणीमें बाह्य जगत्की क्रियाकी एक सीमा बंधी होती है और उसके साथ-साथ उसकी जो बाह्य चेतना है उसकी भी एक सीमा लगी रहती है जो जीवके स्वभावका निरूपण करती और एक-एक जीवके अंदर एक आंतरिक भेद उत्पन्न कर देती है। अवश्य ही भगवान् इस सबके पीछे रहकर कर्म करते है और इस बाह्य अपूर्ण चेतना और संकल्पके द्वारा उनकी जो विशेष-विशेष अभिव्यक्तियां होती हैं उनका नियमन करते हैं, किंतु, जैसा कि वेदमें कहा गया है, वे अपने-आपको गुहामें छिपाये रहते है। गीता इसी बातको यों कहती है कि "ईश्वर सब प्राणियोंके हृद्देशमें वास करते हैं और सबको मायासे यंत्रारूढवत् चलाते रहते हैं।" हृद्देशमें छिपे हुए भगवान्, अहमात्मक प्राकृत चेतनाके द्वारा जिस प्रकार कर्म करते हैं वही ईश्वरकी कार्य-प्रणाली है जगत्के प्राणियोंके साथ। जब ऐसा ही है, तब हमें यह माननेकी क्या आवश्यकता है कि, वे

किसी रूपमें, याने प्राकृत चेतनामें भी सामने आकर प्रकट होते और प्रत्यक्षमें अपने विशुद्ध चैतन्यके साथ अपना कार्य करते है ? इसका उत्तर यही है कि यदि भगवान् इस तरह आते है तो मनुष्य और अपने बीचके परदेको फाडनेके लिये आते है जिस परदेको अपनी प्रकृतिसे बधा हुआ मनुष्य उठातक नही सकता।

गीता कहती है कि जीव साधारणतया जो अपूर्ण रूपसे कर्म करता है उसका कारण यह है कि वह प्रकृतिकी यांत्रिक क्रियाके वशमें होता है और मायाके रूपोसे बंधा होता है। प्रकृति और माया भागवत चैतन्यकी कार्यशक्तिके ही दो परस्पर-पूरक पहलू है। माया यथार्थमे भ्रम नही है,—भ्रमका भाव या आभास केवल अपरा प्रकृतिके अज्ञानसे अर्थात् त्रिगुणात्मिका मायासे उत्पन्न होता है—बल्कि भागवत चैतन्यमें अपनी सत्ताकी विविध आत्म-अभिव्यक्तियोको करनेकी जो शक्ति है, उसीको माया कहते है, और प्रकृति उसी चैतन्यकी वह कार्यशक्ति है जो भगवान्के प्रत्येक अभिव्यक्त रूपका उसके स्वभाव और स्वधर्मके अनुसार, उसके गुण-कर्मके अनुसार उसके जगत्-अभिनयमें परिचालन करती है। भगवान् कहते है कि, "मै अपनी प्रकृतिपर उठंगकर, उसको चांपकर इन विविध प्राणियोंको, जो प्रकृतिके वशमें अवश है, सिरजता हूं।" जो लोग मानुष शरीरमें निवास करनेवाले भगवान्को नहीं जानते, वे इस बातको भी नही जानते, क्योंकि वे सर्वथा प्रकृतिकी यांत्रिकता-के वशमें, उसके मनोमय बंधनोमें अवश रूपसे बंधे हुए और उन्हीं-को मानकर चलनेवाले होते है और उस आसुरी प्रकृतिमें वास करते है जो कामसे मनको मोहती और अहंकारसे बुद्धिको भरमाती है (मोहिनीं प्रकृतिं श्रिताः)। क्योंकि अंतःस्थित भगवान् पुरु-षोत्तम हर किसीके सामने सहसा प्रकट नहीं होते; वे अपने-आपको किसी घने काले मेघके अंदर या किसी उजले बादलके अंदर छिपाये, अपनी योगमायाका आवरण ओढ़े रहते हैं (नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः)। गीता बतलाती है कि, "यह सारा जगत्

प्रकृतिके त्रिगुणमय भावोंमे विमोहित हुआ मुझे नही पहचानता; क्योंकि मेरी यह दैवी गुणमयी माया बड़ी दुस्तर है; वे ही इसे तर जाते है जो मेरे प्रपन्न होते है; पर जो लोग आसुरी प्रकृतिका आश्रय किये रहते है उनका ज्ञान माया हर लेती है।" तात्पर्य, सबके अंदर ही भागवत चैतन्य निहित है, क्योंकि सबमे ही भगवान् निवास करते है; परंतु भगवान्का यह निवास उनकी मायासे आवृत है और इस कारण इन प्राणियोंका मूल आत्म-ज्ञान इनसे अपहृत हो जाता है और मायाकी क्रियासे, प्रकृतिकी यत्रवत् क्रियासे, अहकार-रूप भ्रममें पर्यवसित हो जाता है। तथापि प्रकृतिकी इस यात्रिक-तासे पीछे हटकर उसके जो आतर और गुप्त स्वामी है उनकी ओर जानेसे मनुष्यको अंतर्यामी भगवान्का प्रत्यक्ष बोध होता है।

अब यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि गीता भगवान्के सामान्य प्राणिजन्म करानेका कर्म और स्वयं अवताररूपसे जन्म लेनेका कर्म इन दोनों ही कर्मोका शब्दोके सामान्यसे पर महत्त्वपूर्ण फेरफारके साथ एकसा ही वर्णन करती है। "अपनी प्रकृतिको चापकर (प्रकृति स्वामवष्टभ्य) मै इन प्राणियोंके समूहको जो प्रकृतिके वश-में है उत्पन्न करता हूं (विसृजामि)।" फिर, "अपनी प्रकृति-के ऊपर स्थित होकर मै अपनी आत्ममायासे जन्म लेता हूं (प्रकृति स्वामधिष्ठाय....आत्ममायया)—अपने-आपको उत्पन्न करता हूं (आत्मानम् सृजामि)।" 'अवष्टभ्य' पदसे चांपना सूचित करते हैं जिससे अधिकृत वस्तु परवश, परपीड़ित, अपनी क्रियामें अवरुद्ध या परिसीमित और वशीके वशमें (अवशं वशात्) होती है; इस क्रियामें प्रकृति यंत्रवत् जड़ होती है और प्राणिसमूह उसकी इस यांत्रिकतामें वेबस फंसे रहते है, अपने कर्मके स्वामी नही। 'अधि-ष्ठाय' पद इसके विपरीत, अंदर स्थित होना तो सूचित करता ही है, पर साथ ही प्रकृतिके ऊपर स्थित होना भी सूचित करता है जिस-से यह अभिप्राय निकला कि इसमें भगवान् अंतर्यामी अधिष्ठातृ देवता होकर प्रकृतिका सचेतन नियंत्रण और शासन करते है, यहां

पुरुष अज्ञानके वशमें विवश होकर प्रकृतिके चलाये नहीं चलता, बल्कि प्रकृति ही पुरुषके प्रकाश और संकल्पसे परिपूर्ण होती है। इसलिये सामान्य प्राणिजन्मरूप जो विसर्ग है वह प्राणियों या भूतोंकी सृष्टि है जिसे गीता 'भूतग्रामं' कहती है और दिव्य जन्मरूप जो सर्ग या आत्मसृष्टि है वह स्वात्म-सचेतन स्वयंभू आत्माका जन्म है जिसे गीता 'आत्मानं' कहती है। यहांपर यह बात जान लेनी चाहिये कि 'आत्मानं' और 'भूतानि'का वेदांतशास्त्रमें वही भेद माना गया है जो भेद पाश्चात्य दर्शन सत्ता (Being) और उसकी सम्भूति (becoming) मे करता है। दोनों जन्मोंमे माया ही सृष्टि या अभिव्यक्तिका साधन है, पर दिव्य जन्ममें यह 'आत्म-माया' है, अज्ञानकी निम्नतर मायामे संवेष्टन नही, बल्कि उस स्वतःस्थित परमेश्वरका प्रकृतिरूपमे अपने-आपको प्रकट करनेका सचेतन कर्म है जिसे अपनी क्रिया और अपने हेतुका पूरा बोध है। इसी कर्मशक्तिको गीताने अन्यत्र योगमाया कहा है। सामन्य प्राणिजन्ममें भगवान्‌ इस योगमायाके द्वारा अपने-आपको निम्नतर चेतनासे ढांके और छिपाये रहते है, इसलिये यही हमारे अज्ञानका कारण बनती है, यही अविद्या माया है; परंतु फिर इसी योगमायाके द्वारा हमारी चेतनाको भगवान्‌की ओर पलटाकर हमे आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति करायी जाती है, वहां यह ज्ञानका कारण बनती और विद्या-माया कहाती है; और दिव्य जन्ममे इसकी क्रिया यह होती है कि जो कर्म सामान्यतः अज्ञानमे किये जाते है उनको यह स्वयं ज्ञानस्वरूप रहकर संयत और आलोकित करती है।

इसलिये गीताकी भाषासे यह स्पष्ट होता है कि दिव्य जन्ममें भगवान् अपनी अनंत चेतनाके साथ मानव-जातिमें जन्म लेते है और यह मूलतः सामान्य जन्मका उलटा प्रकार है—यद्यपि जन्मके साधन वे ही हैं जो सामान्य जन्म के होते है—क्योकि यह अज्ञान-मे जन्म लेना नहीं, बल्कि यह ज्ञानका जन्म है, कोई भौतिक घटना नही बल्कि यह आत्माका जन्म है। यह आत्माका स्वतःस्थित

पुरुषरूपसे जन्मके अंदर आना है, अपने भूतभावको सचेतन रूपसे नियंत्रित करना है, अज्ञानके बादलमें अपने-आपको खो देना नहीं। यह पुरुषका प्रकृतिके प्रभुरूपसे शरीरमें जन्म लेना है। यहां प्रभु अपनी प्रकृतिके ऊपर खड़े स्वेच्छासे स्वच्छंदतापूर्वक उसके अंदर कार्य करते है, उसके अधीन होकर, बेबस, भवचक्ररूपी यंत्रमें फंसे भटकते नही रहते, क्योंकि उनका कर्म ज्ञानकृत होता है, सामान्य प्राणियोकासा अज्ञानकृत नही। यह सब प्राणियोके अंदर छिपे हुए अंतर्यामी अंतरात्माका ही परदेकी आड़से बाहर निकल आना और मानवरूपमें पर भगवान्की भांति, उस जन्मको अधिकृत करना है जिसे वह सामान्यतः परदेकी आड़में ईश्वररूपसे अधिकृत किये रहता है, जब कि परदेके बाहरकी जो बहिर्गत चेतना है वह अधिकारी होनेकी अपेक्षा स्वयं ही अधिकृत रहती है, क्योंकि वहां वह आंशिक सचेतन सत्ता-रूपसे आत्मविस्मृत जीव है और प्रकृतिके अधीन जो यह जगत्-व्यापार है उसके द्वारा अपने कर्ममें बंधा है। इसलिये अवतार* का अर्थ है भागवत पुरुष श्रीकृष्णका पुरुषके दिव्य भावको मानवताके अंदर प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट करना। भगवान् गुरु अर्जुनको, जो मानव-आत्मा है, मानव-प्राणीका श्रेष्ठतम नमूना है, विभूति है, उसी दिव्य भावमे ऊपर उठनेके लिये निमंत्रित करते है जिस भावमें वह तभी पहुंच सकता है जब वह अपनी सामान्य मानवताके अज्ञान और सीमाको पार कर चुका होता है। यह ऊपरसे उसी तत्त्वका नीचे आकर आविर्भूत होना है जिसे हमें नीचेसे ऊपर चढ़ा ले जाना है; यह मानव-सत्ताके उस दिव्य जन्ममें भगवान्का अवतरण है जिसमें हम मर्त्य प्राणियोंको आरोहण करना है;

*'अवतार' शब्दका अर्थ है उतरना; यह भगवान्का उस रेखाके नीचे उतर आना है जो भगवान्को मानव-जगत् या मानव-अवस्थासे पृथक् करती है।

यह मानव-प्राणिके सम्मुख, मनुष्यके ही आकार और प्रकारके अंदर तथा मानव-जीवनके सिद्ध आदर्श नमूनेके अंदर, भगवान्‌का एक आकर्षक दिव्य उदाहरण है।

भगवान्‌की अवतरण-प्रणाली

हम यह देखते है कि मनुष्यमें परमेश्वरका अवतरण अर्थात् परमेश्वरका मानव-रूप और मानव-स्वभाव धारण एक ऐसा रहस्य है जो गीताकी दृष्टिमें स्वयं मानव-जन्मके ही चिरंतन रहस्यका केवल एक दूसरा पहलू है; क्योंकि मानव-जन्म मूलतः, बाह्यतः न सही, ऐसा ही एक आश्चर्यमय व्यापार है। प्रत्येक मनुष्यका सनातन और विराट् आत्मा परमेश्वर है; उसका व्यष्टिपुरुष भी परमेश्वरका ही अंश है (ममैवांशः) जो निश्चय ही परमेश्वरसे कटकर अलग हुआ कोई टुकड़ा नही,—कारण परमेश्वरके संबंधमें कोई ऐसी कल्पना नही की जा सकती कि वे छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बटे हुए हों,—बल्कि वह एक ही चैतन्यका आशिक चैतन्य है, एक ही शक्तिका शक्त्यंश है, एक ही भूमानद-के द्वारा जगत्-सत्ताका आशिक आनंद उपभोग है, और इसलिये व्यक्त रूपमें या यह कहिये कि प्रकृतिमें यह जीव उसी एक अनंत अपरिच्छिन्न पुरुषका एक सांत परिच्छिन्न भाव है। इस परिच्छिन्नताकी छाप जो उसपर पड़ी है वह एक ऐसा अज्ञान है जिससे वह न केवल उन परमेश्वरको जिनसे वह आया, बल्कि उन परमेश्वरको भी भूल जाता है जो सदा उसके अंतरमें विराजमान् है, उसकी अपनी प्रकृतिके गुह्य हृद्देशमें अवस्थित है और उसके अपने मानव-चैतन्यके देवालयकी अंतर्वेदीमें प्रच्छन्न अग्निके समान प्रज्वलित है।

मनुष्य उन्हें नहीं जानता, क्योंकि उसके अंतरात्माकी आंखोंपर और उसकी समस्त इंद्रियोंपर उस प्रकृतिकी, उस मायाकी छाप लगी हुई है जिसके द्वारा वह परमेश्वरकी सनातन सत्तासे बाहर निकालकर अभिव्यक्त किया गया है; प्रकृतिने उसे भाग-

वत सत्वके अत्यंत मूल्यवान् धातुसे ही एक सिक्केके रूपमें ढाला है, पर उसपर अपने प्राकृत गुणोंके खादका इतना गहरा लेप चढा दिया है, अपनी मुद्राकी और पाशविक मानवताके चिह्नकी इतनी गहरी छाप लगा दी है कि यद्यपि भागवत भावका गुप्त चिह्न वहां मौजूद है तो भी वह आरंभमें देख नही पड़ता, उसका बोध होना सदा ही दुस्तर होता है, उसका पता चलता है तो केवल अपने आत्म-स्वरूपके रहस्यकी उस दीक्षाके मिलनेसे ही जो दीक्षा बहिर्मुख मानवतासे ईश्वराभिमुख मानवताका पार्थक्य स्पष्ट दिखा देती है। अवतारमे अर्थात् भागवत जन्मजात मनुष्यमे वह भागवत सत्व बाह्य लेपके रहते हुए भी भीतरसे जगमगा उठता है; प्रकृतिकी मुहरछाप वहा केवल रूपभरके लिये है, उनकी दृष्टि होती है अतःस्थित ईश्वरकी, उनकी जीवन-शक्ति होती है अतःस्थित ईश्वरकी और अवतार धारण की हुई मानव-प्रकृतिकी मुहरछापको भेदकर बाहर निकल पड़ते है; ईश्वरका यह चिह्न और अंतरात्माका चिह्न कोई बाह्य या भौतिक चिह्न न होनेपर भी उन सबके लिये स्पष्ट बोधगम्य है जो उसे देखना चाहें या देख सकें; आसुरी प्रकृति अवश्य ही यह सब नही देख सकती, क्योंकि वह केवल शरीरको देखती है आत्माको नही, वह बाह्य सत्ताको देखती है अंतःसत्ताको नही, वह परदेको देखती है उसके भीतरके पुरुषको नही। सामान्य मानव-जन्ममें मानवरूप धारण करनेवाले जगदात्मा जगदीश्वरका प्रकृतिभाव ही मुख्य होता है; अवतारके मनुष्य-जन्ममें उनका ईश्वरभाव प्रकट होता है। एकमें ईश्वर मानव-प्रकृतिको अपनी आंशिक सत्तापर अधिकार और शासन करने देते है और दूसरेमें वे अपनी अंशसत्ता और उसकी प्रकृतिको अपने अधिकारमें लेकर उसपर शासन करते हैं। गीता हमें बतलाती है कि साधारण मनुष्य जिस प्रकार विकासको प्राप्त होता हुआ या ऊपर उठता हुआ भागवत जन्मको प्राप्त होता है उसका नाम अवतार नहीं है, बल्कि भगवान् जब

मनुष्यरूपमें प्रत्यक्ष उतर आते है और मनुष्यके ढांचेको पहन लेते है, तब वह अवतार कहाता है।

परंतु अवतार लेनेके लिये यह स्वीकृति या यह अवतरण मनुष्यके आरोहण या विकासको सहायता पहुंचानेके लिये ही होता है, इस बातको गीताने बहुत विशद करके कहा है। ऐसा कहा जा सकता है कि मानव-प्राणीके रूपमें भगवान्‌के प्राकटचकी संभावनाको दृष्टांतरूपसे सामने रखनेके लिये यह होता है, जिससे कि मनुष्य देखे कि यह क्या चीज है और उसमे इस बातका साहस हो कि वह अपने जीवनको उसके जैसा बना सके। और यह इसलिये भी होता है कि पार्थिव प्रकृतिकी नसोमे इस प्राकटचका एक प्रभाव बहता रहे और उस प्राकटचका आत्मा पार्थिव प्रकृतिके ऊर्ध्वगामी प्रयासका नेतृत्व करता रहे। यह मनुष्यको दिव्य मानवताके एक ऐसे आध्यात्मिक सांचेको देनेके लिये होता है जिसमें मनुष्यका जिज्ञासु अंतरात्मा अपने-आपको ढाल दे सके। यह एक ऐसे धर्मको देनेके लिये—किसी मप्रदाय या मतविशेषमात्रको नहीं, बल्कि आंतर और बाह्य जीवनयापनकी एक प्रणालीको देनेके लिये—आत्म-सस्कारक एक मार्ग, एक नियम और विधानको देनेके लिये होता है जिसके द्वारा मनुष्य दिव्यताकी ओर बढ़ सके। चूंकि मनुष्यका इस प्रकार आगे बढना, इस प्रकार आरोहण करना मात्र पृथकीभूत और वैयक्तिक व्यापार ही नही है, बल्कि भगवान्‌के समस्त जगत्-कर्मकी तरह एक सामूहिक व्यापार है, मानवजातिमात्रके लिये किया गया एक कर्म है इसलिये अवतारका आना मानव-यात्राकी सहायताके लिये, मानवजातिके महान् संकटकालके समय जनताको एक साथ रखनेके लिये, अधोगामी शक्तियां जब बहुत अधिक बढ़ जाती है तब उन्हें चूर्ण-विचूर्ण करनेके लिये, मनुष्यके अंदर जो भगवन्मुखी महान् धर्म है उसकी स्थापना या रक्षाके लिये, भगवान्‌के साम्राज्यको (फिर चाहे वह कितना ही दूर क्यों न हो) जमानेके लिये,

प्रकाश और पूर्णताके साधकों (साधुनां) को विजय दिलानेके लिये और जो लोग अशुभ और अंधकारको बनाये रखनेके लिये युद्ध करते है उनके विनाशके लिये भी होता है। अवतारके आनेके ये सब सर्वमान्य हेतु है और अवतारके कर्मको देखकर ही जन-समुदाय उन्हे विशिष्ट पुरुष जानता और उन्हें पूजनेको तैयार होता है। केवल आध्यात्मिक मनुष्य ही यह देख पाते है कि अवतारका यह बाह्य पहलू सनातन आतर परमेश्वरका ही मानव-जीवके रूपमे एक चिह्न है, जो मनुष्यकी अपनी मनोभूमि और शरीरके क्षेत्रमे इसलिये प्रकट होते है कि मनुष्य उनके साथ एक हो जाय और उनके अधिकारमे आ जाय। बाह्य मानव-रूपमें ईसा, बुद्ध या कृष्णका जो दिव्य प्राकट्य होता है और मनुष्यके अपने अदरमें भगवान्‌के चिरतन अवतारका जो प्राकट्य होता है उसके मूलमें एक ही गूढ़ सत्य है। जो कुछ अवतारोके द्वारा इस पृथ्वीपरके मानवजीवनमे किया गया है वह समस्त मानव-प्राणियोके अदर दोहराया जा सकता है।

अवतार लेनेका यही उद्देश्य होता है, पर इसकी प्रणाली क्या है? सबसे पहले हम अवतारके संबंधमे उस यौक्तिक या संकीर्ण विचारको देखे जिसको केवल इतना ही दिखायी देता है कि अवतार किन्ही उन नैतिक, बौद्धिक और क्रियात्मक दिव्यतर गुणोंकी असाधारण अभिव्यक्तिमात्र होते है, जो गुण औसत दर्जेके मनुष्यमें नही पाये जाते। इस विचारमे अवश्य ही कुछ सत्य है। अवतार विभूति भी है। ये श्रीकृष्ण जो अपनी अंतःसत्तामे मानव-शरीरधारी स्वयं ईश्वर है, वे ही अपनी बाह्य मानव-सत्तामें अपने युगके नेता, वृष्णिकुलके महापुरुष है। प्रकृतिके दृष्टिकोणसे यह बात ऐसी ही है, आत्माकी दृष्टिसे नही। भगवान् अपनी प्रकृतिके अनंत गुणोंमेंसे होकर अपने-आपको प्रकट करते हैं और इस प्राकट्यका तारतम्य उन गुणोंकी शक्ति और सिद्धिसे जाना जाता है। इसलिये भगवान्‌की विभूति, नैर्व्य-

क्तिक भावसे उनके गुणोकी अभिव्यक्त शक्ति है, वह उनका बहिः-प्रवाह है चाहे वह ज्ञानके रूपमें हो अथवा शक्ति, प्रेम या बल अथवा अन्य किसी भी रूपमें; और वैयक्तिक भावसे यह वह मनोमय रूप और सजीव सत्ता है जिसमें वह शक्ति सिद्ध होती और अपने महत् कर्म साधन करती है। इस आतर और बाह्य सिद्धिको प्राप्त करनेमें कोई प्रधानता, भागवत गुणकी कोई महत्तर शक्ति, कोई पुरअसर ताकत--यही विभूतिका लक्षण है। भागवत सिद्धिको प्राप्त करनेके लिये मानवजाति जो दारुण प्रयास कर रही है उसका जो अग्रणी नेता (Hero) होता है उसीका नाम है मानव-विभूति। पाश्चात्य विद्वान् कारलाइलने उसीको 'हीरो' कहा है, वह एक शक्ति होती है भगवान्‌की मनुष्यके अंदर। "वृष्णियोंमें मैं वासुदेव (श्रीकृष्ण) हू, पाडवोमे धनजय (अर्जुन) हूं, मुनियोमें व्यास और कवियोंमे उशना कवि हूं," अर्थात् प्रत्येक कोटि या कक्षामें जो सर्वोत्तम है, प्रत्येक समूहमे जो सबसे महान् है, जिन-जिन गुणो और कर्मोंके द्वारा उस समूहकी विशिष्ट आत्मशक्ति प्रकट हुआ करती है उन-उन गुणो और कर्मोंका प्रकाश जिसके द्वारा सर्वोत्तम रूपसे प्रकट होता है वह ईश्वरकी विभूति है। जीवकी शक्तियोंका यह उत्कर्ष भागवत प्राकट्यके क्रममें एक अत्यत आवश्यक कार्य है। कोई भी महान् पुरुष जो हमारी औसत कक्षाके ऊपर उठ जाता है वह अपने उस कर्मसे साधारण मानवजातिको ऊपर उठा देता है; वह हमारी भागवत संभावनाओका एक सजीव आश्वासन होता है, परमेश्वरकी एक प्रतिश्रुति होता है, भागवत प्रकाशकी एक प्रभा होता है, भागवत शक्तिका एक उच्छ्वास होता है।

मनुष्योंके अंदर महामनस्वी और वीर पुरुषोंको देवताकी तरह पूजनेकी जो एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसके मूलमें यही सत्य है। भारतवासियोंका मन तो सभी बड़े-बडे संत-महात्माओं, आचार्यों और पंथप्रवर्त्तकोंको अनायास ही आंशिक अवतार

मान लेनेमें अभ्यस्त है और दक्षिणके वैष्णव तो अपने कुछ संतोंको भगवान् विष्णुके प्रतीकात्मक सचेतन शस्त्रोके अवतार ही मानते हैं, क्योकि सचमुच ही जितने महान् आत्मा है वे सब भगवान्की सचेतन शक्तिया और शस्त्र ही तो है, जिनसे ऊपरकी ओर आगे बढ़ने और विघ्न-बाधाओमे सग्राम करनेका काम लिया जाता है। जीवनकी ओर देखनेकी किसी भी उस आध्यात्मिक दृष्टिमे इस प्रकारकी भावना अनुस्यूत होती ही है—और उसका होना अपरिहार्य है—जो यह कहती है कि वहाकी भागवत सत्ता और भागवत प्रकृति तथा हमारी मानव-सत्ता और मानव-प्रकृतिके बीच कोई ऐसी रेखा नही है जो मिटायी न जा सके, यह भावना मानवताके अदर भागवत सत्ताके होनेकी ही भावना है। परंतु फिर भी विभूति अवतार नही है; यदि विभूति और अवतार एक ही होते तो अर्जुन, व्यास, उशना मब वैसे ही अवतार होते जैमे श्रीकृष्ण थे, चाहे उनमें अवतारपनकी शक्ति इनसे कुछ कम ही होती। परंतु दिव्य गुणका होना ही पर्याप्त नही है, अवतार होना तो तब कहा जा सकता है जब कि अपने परमेश्वर और परमात्मा होनेका आनरिक ज्ञान हो और यह ज्ञान हो कि हम अपनी भागवत सत्तासे मानव-प्रकृतिका शासन कर रहे है। गुणोंकी शक्तिका उत्कर्ष सभूति (भूतग्राम) का अंश है, सामान्य अभिव्यक्तिमे यह ऊर्ध्वकी ओर आरोहण है। पर अवतारमें एक विशेष अभिव्यक्ति होती है, यह दिव्य जन्म ऊपरसे होता है, सनातन विश्वव्यापक विश्वेश्वर व्यष्टिगत मानवताके एक आकारमें उतर आते है 'आत्मानं सृजामि', और वे केवल परदेके अंदर ही अपने स्वरूपसे सचेतन नही रहते बल्कि बाह्य प्रकृतिमें भी उन्हें अपने स्वरूपका ज्ञान रहता है।

अवतार और विभूतिके बीचकी एक अधिक रहस्यमय भावना भी है और इस भावनामें यह समझा जाता है कि कोई मानव-आत्मा अपने अंदर भगवान्का आवाहन करके यह अवतरण कराता है और

तब वह भागवत चैतन्यके अधिकारमें हो जाता अथवा उसका पुर-असर प्रतिबिब या स्रोत-मार्ग बन जाता है। यह विचार किन्ही आध्यात्मिक अनुभवोंके सत्यपर ही अवलंबित है। भगवान्के भावमें मनुष्यका जन्म-ग्रहण, अर्थात् मनुष्यके आरोहणका अर्थ है मानव-चैतन्यका भागवत चैतन्यमें मंवर्द्धन, और यह आरोहण जब अपनी चरम अवस्थाको प्राप्त होता है तब पृथकीभूत आत्माका भागवत चैतन्यके अंदर लय हो जाता है। तब मनुष्यका अंतरात्मा अपने व्यष्टिभावको उस एक अनत और विश्वव्यापक सत्तामें मिला देता या परात्पर सत्ताकी परा स्थितिमे खो देता है; वह आत्माके साथ, ब्रह्मके साथ, भगवान्के साथ एक हो जाता है अथवा जैसा कि प्रायः और भी अधिक निश्चित रूपसे कहा जाता है—वह स्वयं ही एकमेवाद्वितीय आत्मा, ब्रह्म, भगवान् बन जाता है। जीवके 'ब्रह्मभूत' होने और उसी कारण भगवान्मे, श्रीकृष्णमें निवास करनेकी बात स्वय गीता भी कहती है, पर यह ध्यानमे रहे कि गीताने कही भी यह नही कहा है कि जीव भगवान् या पुरुषोत्तम हो जाता है। हा, जीवके संबधमे गीताने इतना अवश्य कहा है कि जीव सदा ही ईश्वर है, भगवान्की अश-सत्ता है (ममैवाशः)। कारण यह जो महामिलन है, यह जो उच्चतम भाव है वह आरोहणका ही एक अंग है; और यद्यपि यह वह दिव्य जन्म है जिसे प्रत्येक जीव प्राप्त होता है, पर यह परमेश्वरका नीचे उतर आना नही है, न यह अवतार लेना ही है, अधिक-से-अधिक, बौद्ध सिद्धांतके अनुसार इसे हम बुद्धत्वकी प्राप्ति कह सकते है, यह जीवका अपने अभीके जागतिक व्यष्टिभावमे जागकर अनंत परचैतन्यको प्राप्त होना है। इसमें अपने अवतार होनेकी आतरिक चेतना अथवा अवतारके विशिष्ट कर्म नहीं भी हो सकते है।

फिर, भागवत चैतन्यमें प्रवेश करनेके फलस्वरूप यह हो सकता है कि भगवान् हमारी सत्ताके मानव-अंगोंमें प्रवेश कर जायं या उनके सामने प्रकट हो जायं और अपने-आपको मनुष्यकी प्रकृति,

उसकी कर्मण्यता, उसके मन और शरीरतकमे ढाल दें; और तब यह कम-से-कम एक अंशावतार तो कहा ही जायगा। गीता कहती है कि ईश्वर हृद्देशमें निवास करते हैं,—अवश्य ही गीताका अभिप्राय सूक्ष्म शरीरके हृदयसे है जो भावावेगो, सवेदनों और मनोमय चेतनाका ग्रंथिस्थान है और जहां व्यष्टि-पुरुष भी अवस्थित है,—पर यहा वे परदेकी आड़में ही रहते हैं, अपनी मायासे अपने-आपको ढांके रहते है। परंतु ऊपर, उस लोकमे, जो हमारे अंदर है पर जो अभी हमारी चेतनाके परे है और जिसे प्राचीन तत्त्वदर्शियोंने स्वर्ग कहा है, वहा ये ईश्वर और यह जीव दोनों एक साथ एक ही स्वरूपमे प्रत्यक्ष होते हैं। इन्हीको कुछ संप्रदायोकी साकेतिक भाषामे पिता और पुत्र कहा गया है—पिता है भागवत पुरुष और पुत्र है भागवत मनुष्य जो उन्हीसे उन्हीकी परा प्रकृतिसे, परा मायासे निम्न-प्रकृतिमें, मानव-प्रकृतिमे जन्म लेते हैं। इन्ही परा प्रकृति, परा मायाको जिनके द्वारा यह जीव अपरा मानव-प्रकृतिमे उत्पन्न होता है, कुमारी माता (Virgin Mother)* कहा गया है। ईसाइयोके अवतारवादका यही भीतरी रहस्य प्रतीत होता है; उनके त्रिमूर्ति (Trinity) में जो पिता हैं वे ऊपर इसी अत.स्वर्गमे है, पुत्र अर्थात् गीताकी जीवभूता परा प्रकृति वह है जो इस लोकमे, इस मानवशरीरमें दिव्य या देव-मनुष्यके रूपमें आते हैं; और विशुद्ध आत्मा या ब्रह्म-चैतन्य (Holy Spirit) वह है जो इन दोनोको एक बना देता है और इसीके अंदर इन दोनोंका परस्पर व्यवहार होता है; क्योकि यह प्रसिद्ध है कि वह विशुद्ध आत्म-चैतन्य (Holy

*बौद्ध आख्यायिकामें गौतम बुद्धकी माताका जो नाम है वह इस सांकेतिक भाषाको खोल देता है; ईसाइयोके यहा यह संबंध सुपरिचित पौराणिक कथाओंकी रचनाप्रणालीके अनुसार नाजारेथके ईसाकी मानुषी माताके साथ जोड़ दिया गया है।

Spirit) ईसामें उतर आया था और इसी अवतरणके फलस्वरूप ईसाके शिष्योंमें भी, जो सामान्य मानव-कोटिके थे, उस महत् चैतन्यकी क्षमता आ गयी थी।

परंतु यह भी सभव है कि परम पुरुष पुरुषोत्तमका उच्चतर भागवत चैतन्य स्वयं भी मनुष्यके अंदर उतर आये और जीव-चैतन्य उसमें लय हो जाय। श्रीचैतन्यके समकालीन लोग यह बतला गये हैं कि वे अपनी साधारण चेतनामें भगवान्‌के केवल एक प्रेमी और भक्त थे और यह नही चाहते थे कि कोई उन्हें भगवान् कहकर पूजे, किंतु कभी-कभी वे एक ऐसे विलक्षण भावमें आ जाते थे कि उस अवस्थामे वे स्वयं भगवान् ही हो जाते तथा भगवद्भाव-से ही भाषण और कर्माचरण करते थे; और ऐसे समय उनके अंदरसे भगवत्-सत्ताके प्रकाश, प्रेम और शक्तिका अबाध प्रवाह उमड़ पड़ता था। अब, मान लीजिये कि, जीवनकी यदि यही सामान्य अवस्था हो जाय और मनुष्य इस भागवत सत्ता और भागवत चैतन्यका केवल एक पात्र ही बना रहे तो अवतारसंबंधी इस मध्यवर्त्ती भावनाके अनुसार ऐसे पुरुषको अवतार कहनेमें क्या आपत्ति हो सकती है। मनुष्य-बुद्धिकी धारणाके अनुसार अवतारसंबधी यह भावना ठीक ही तो जंचती है; क्योंकि यदि मानव-प्राणी अपनी प्रकृतिको इतना उन्नत कर ले कि उसे भाग-वत सत्ताके साथ एकत्व अनुभव हो और वह भगवान्‌के चैतन्य, प्रकाश, शक्ति और प्रेमका एक स्रोत-मार्गसा बन जाय, उसका अपना संकल्प और व्यक्तित्व भगवानके ही संकल्प और भावमें घुलमिलकर अपना पृथकत्व खो दे—क्योंकि यह भी एक मानी हुई आध्यात्मिक अवस्था है— तो मानव-जीवके अंदर, उसके सं-पूर्ण व्यक्तित्वको अधिकार करके, भगवान्‌का ही संकल्प, भग-वान्‌की ही सत्ता और शक्ति, उन्हीके प्रेम, प्रकाश और चैतन्य प्रतिबिंबित हो सकते है, और यह जरा भी असंभव नहीं है। और इस प्रकारकी अवस्था मनुष्यका केवल आरोहण कर दिव्य जन्म

और दिव्य स्वभावको प्राप्त होना ही नही है, बल्कि उसमें दिव्य पुरुषका उतर आना भी है, यह एक अवतार ही है।

परंतु गीता इसके भी आगे चलती है। गीताका तो साफ-साफ यह कहना है कि भगवान् स्वयं जन्म लेते हैं। श्रीकृष्ण कहते है कि मेरे बहुतसे जन्म बीत चुके और अपने शब्दोसे यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे ग्रहणशील मानव-प्राणीमे उतर आनेकी बात नहीं कह रहे है, बल्कि भगवान्‌के ही बहुतसे जन्म ग्रहण करनेकी बात कह रहे है, क्योंकि यहा वे ठीक सृष्टिकर्त्ताकी भाषा-में बोल रहे है और इसी भाषाका प्रयोग वे वहा भी करेगे जहा वे अपनी जगत्-सृष्टिकी बात कहेगे। "यद्यपि मै प्राणियोंका अज अविनाशी ईश्वर हूं तो भी मैं अपनी मायासे अपने-आपको सृष्ट करता हूं" अपनी प्रकृतिके कार्योंका अधिष्ठाता होकर। यहा ईश्वर और मानव-जीव या पिता या पुत्रकी, दिव्य मनुष्यकी कोई बात नही है, बल्कि केवल भगवान् और उनकी प्रकृतिकी बात है। भगवान् अपनी ही प्रकृतिके द्वारा मानव-आकार और प्रकारमें उतरकर जन्म लेते और यद्यपि वे मनुष्यके आकार, प्रकार और सांचेके अंदर रहकर कर्म करना स्वेच्छासे स्वीकार करते है, तो भी वे उसके अंदर भागवत चेतना और भागवत शक्तिको ले आते है और शरीरके अदर प्रकृतिके जो कर्म होते है उनका नियमन वे उसके अंतःस्थित और ऊर्ध्वस्थित आत्मा रहकर करते है, "प्रकृतिं स्वां अधिष्ठाय"। ऊपरसे वे सदा ही शासन करते है, क्योंकि इसी तरह वे समस्त प्रकृतिका शासन करते है, और मनुष्य-प्रकृति भी इसके अंतर्गत है; अंदरसे भी वे सारी प्रकृतिका सदा ही शासन करते हैं, पर स्वयं छिपे रहकर; यहां जो कुछ अंतर है वह यह है कि अवतारमें वे अभिव्यक्त रहते है, प्रकृतिके ईश्वर-रूपमें भगवान्‌की सत्ताका, अंतर्यामीका सचेतन ज्ञान रहता है, यहां प्रकृति-का संचालन ऊपरसे उनकी गुप्त इच्छाके द्वारा 'स्वर्गस्थ पिताकी प्रेरणाके द्वारा' नहीं होता, बल्कि भगवान् अपने प्रत्यक्ष प्रकट

संकल्पसे ही प्रकृतिका संचालन करते है। यहां किसी मनुष्य-को मध्यस्थ बनानेके लिये कोई स्थान ही नहीं है, क्योकि यहां 'भूतानां' ईश्वर अपनी प्रकृतिका आश्रय करके, किसी जीवकी विशिष्ट प्रकृतिका नहीं, मानव-जन्मके जामेको ओढ लेते है।

बात बड़ी विलक्षण है, जल्दी समझमें आनेवाली नही, मनुष्य-की बुद्धिके लिये इसे ग्रहण कर लेना आसान नही; इसका कारण भी स्पष्ट है– अवतार है तो स्पष्ट रूपसे मनुष्यके जैसे ही। अव-तारके सदा दो रूप होते है–भागवत रूप और मानव-रूप; भगवान् ओढ़ लेते है मानव-प्रकृतिको, उसकी सारी बाह्य सीमाओको और उसीको बना लेते है भागवत चैतन्य और भागवत शक्तिकी परि-स्थिति, साधन और करण; दिव्य जन्म और दिव्य कर्मका एक पात्र। और यही तो होना चाहिये; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अवतारके अवतरणका उद्देश्य ही पूर्ण नही हो सकता। अवतरण-का उद्देश्य तो यही दिखलाना है कि मानव-जन्म मनुष्यकी सब सीमाओंके रहते हुए भी दिव्य जन्म और दिव्य कर्मका साधन और करण बनाया जा सकता है, अभिव्यक्त किये हुए दिव्य चैतन्य-के साथ मानव-चैतन्यका मेल बैठाया जा सकता है, उसका धर्मांतर करके वह दिव्य चैतन्यका एक पात्र बनाया जा सकता है, और उसके साचेको रूपांतरित करके तथा उसके प्रकाश, प्रेम, सामर्थ्य और पवित्रताकी शक्तियोंको ऊपर उठा करके वह दिव्य चैतन्यके अधिक समीप लाया जा सकता है। और यह सब कैसे किया जा सकता है, यह दिखलाना भी अवतारके उद्देश्यमें शामिल है। यदि अवतारके द्वारा अद्‌भुत चमत्कार ही हुआ करें, जो मनुष्यके सामान्य जीवनमें संभव नहीं, तो इससे अवतरणका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। असाधारण अथवा अद्‌भुत चमत्काररूप अवतारके होनेका कुछ मतलब ही नहीं होता। तब यह भी जरूरी नहीं है कि अवतार असाधारण शक्तियोंका प्रयोग–जैसे कि ईसाके तत्कथित

रोगियोंको आराम कर देनेवाला चमत्कार—करें ही नही, क्योंकि असाधारण शक्तियोंका प्रयोग मानव-प्रकृतिकी संभावनाके बाहर-की बात नही है। परंतु इस प्रकारकी कोई शक्ति न भी हो तो उससे अवतारमें कोई कमी नही आती, न यह कोई मूल बात है, और यदि अवतारका जीवन केवल एक असाधारण आतशबाजीका खेल हो तो इससे भी काम नही चलेगा। अवतार कोई ऐंद्रजालिक जादूगर बनकर नही आते, प्रत्युत् मनुष्य-जातिके भागवत नेता और भागवत मनुष्यके एक दृष्टांत होकर आते है। मनुष्योचित शोक और भौतिक दुःख भी उन्हें झेलने पड़ते है और उनसे काम लेना पड़ता है जिससे कि वे यह दिखला सकें कि किस प्रकार इस शोक और दुःखको आत्मोद्धारका साधन बनाया जा सकता है। ईसाने दुःखोंको उठाकर यही दिखाया। फिर दूसरी बात उन्हें यह दिखलानी होती है कि मानव-प्रकृतिमें अवतरित भागवत आत्मा इस शोक और दुःखको अपने ऊपर ओढ़ लेनेके बाद उसी प्रकृतिमे उसे किस प्रकार जीत सकता है। बुद्धने यही करके दिखाया था। जो बुद्धिवादी ईसासे यह कहकर चिल्लाया होता कि "अजी, तुम यदि ईश्वरके बेटे हो तो उतर आओ न इस सूलीपरसे," अथवा तो पंडितकी तरह यह बघार सकता है कि अवतार कोई ईश्वर नही थे क्योंकि उनकी तो मृत्यु हुई और सो भी रोगाक्रांत होकर—जैसे कोई पशु मरता है—वह बेचारा जानता ही नहीं कि वह क्या बक रहा है, क्योंकि उसे तो सारे विषयकी असलियतका ही पता नही लगा। भागवत आनंदके अवतारके आनेसे पहले शोक और दुःखको झेलनेवाले अवतारकी भी आवश्यकता होती है; मनुष्यकी सीमाको ओढ़ लेनेकी आवश्यकता होती है ताकि यह दिखाया जा सके कि इसे किस प्रकार पार किया जा सकता है। और यह सीमा किस प्रकार या कितनी दूरतक पार की जायगी, केवल आंतरिक रूपसे पार की जायगी या बाह्य रूपसे भी, यह बात मानव-जातिके उत्कर्षकी अवस्थापर निर्भर

करेगी, यह सीमा किसी अमानव चमत्कारके द्वारा नही लांघी जायगी।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है और यही असलमें मनुष्यकी बुद्धिके लिये एकमात्र बड़ी समस्या है—क्योंकि यहांपर आकर मानव-बुद्धि अपनी ही सीमाके अदर लुढकने-पुढकने लगती है—कि अवतारके द्वारा मानव-मन-बुद्धि और शरीरका ग्रहण होता है तो कैसे? कारण इनकी सृष्टि अकस्मात् एक साथ इसी रूपमें नही हुई होगी, बल्कि भौतिक या आध्यात्मिक या दोनो ही प्रकारके किसी विकास-क्रमसे ही हुई होगी। इसमें संदेह नहीं कि अवतारका अवतरण दिव्य जन्मकी ओर मनुष्यके आरोहणके समान ही तत्त्वतः एक आध्यात्मिक व्यापार है; जैसा कि गीताके 'आत्मानं सृजामि' वाक्यसे जान पड़ता है,—यह आत्माका जन्म होता है। परंतु फिर भी इसके साथ एक भौतिक जन्म तो लगा ही रहता है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अवतारके मानव मन और शरीरका कैसे निर्माण होता है। यदि हम यह मान लें कि शरीर सदा ही वंशानुक्रमिक विकाससे निर्मित होता है, अचेतन प्रकृति और तदनुस्यूत प्राणशक्ति शरीर-निर्माणका यह कार्य किया करती है, इसमें व्यष्टि-गत अंतरात्माके करनेकी कोई बात नही, तो मामला सीधा हो जाता है। तब यही मान लेना पड़ेगा कि किसी शुचि और महत् वंशके विकास-क्रमसे ही यह अन्नमय और मनोमय शरीर भगवत् अवतारके उपयुक्त तैयार होता है और तब अवतरित होनेवाले भगवान् उस शरीरको धारण कर लेते है। परंतु गीताके इसी अवतार-वाले श्लोकमें ही पुनर्जन्मका सिद्धांत स्वयं अवतारके लिये भी हिम्मतके साथ घटाया गया है, और पुनर्जन्मके संबंधमें जो सामान्य मान्यता है वह यही है कि पुनर्जन्म ग्रहण करनेवाला जीव स्वयं ही अपने पिछले आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक विकासके अनुसार अपने मनोमय और भौतिक शरीरको निर्द्धारित करता या यों कहें कि तैयार करता है। जीव स्वयं ही अपना शरीर निर्माण करता

है, उसका शरीर उससे पूछे बिना यों ही तैयार नहीं कर दिया जाता। तो क्या इससे हम यह समझ लें कि सनातन या सतत अवतार अपने अनुकूल अपना मनोमय और अन्नमय शरीर मानव-विकासकी आवश्यकता और गतिके अनुसार आप ही निर्माण करते और इस तरह युग-युगमें प्रकट हुआ करते हैं ? इसी तरहके किसी एक भावसे कुछ लोग विष्णुके दश अवतारोंकी व्याख्या करते हैं। पहले कई पशुमूर्ति, बादमें नरसिंहमूर्ति, तब वामनमूर्ति, उसके बाद दुर्द्धर्ष आसुरिक परशुराम, फिर देव-प्रकृति मानव महत्तर राम, इसके बाद सजग आध्यात्मिक बुद्ध, और कालके हिसाबसे पहले पर स्थानके हिसाबसे अंतिम, पूर्ण दिव्यभावापन्न मनुष्य श्रीकृष्ण—क्योंकि आखिरी अवतार कल्कि केवल श्रीकृष्णके द्वारा आरंभ किये हुए कर्मको ही संपन्न करते हैं, पहलेके अवतार समस्त संभावनाओंसे युक्त जिस महत् प्रयासको प्रस्तुत कर गये हैं, कल्कि उसीको शक्ति देकर सिद्ध करते हैं—इस प्रकार अवतारक्रम कुछ लोगोंके द्वारा बताया गया है। हमारी आधुनिक मनोवृत्तिके लिये इस व्याख्याको स्वीकार करना बहुत ही कठिन है, किंतु ऐसा मालूम होता है कि गीताकी भाषाका रुख इस ओर ही है। अथवा जब कि गीता इस समस्याका साफ तौरपर हल नहीं करती तब हम लोग अपने ही किसी दूसरे तरीकेसे इस प्रश्नको हल कर सकते और यह कह सकते हैं कि अवतारका शरीर तो जीवके द्वारा निर्माण होता है पर जन्मसे ही उसे धारण करते हैं भगवान्, अथवा यह भी कह सकते हैं कि इस शरीरको गीतोक्त 'चत्वारो मनवः' अर्थात् प्रत्येक मानव मन और शरीरके आध्यात्मिक पितर प्रस्तुत करते हैं। इस तरहसे कहना अवश्य ही गूढ़ रहस्यमय क्षेत्रकी गहराईमें प्रवेश करना है जिसकी बातें आधुनिक बुद्धिवादी लोग अभी तो सुनना ही नहीं चाहते; परंतु जब हमने अवतारका होना मान लिया तब रहस्यमय क्षेत्रमें तो प्रविष्ट हो ही गये और जब प्रविष्ट हो ही गये तब एक-

एक कदम मजबूतीसे रखते हुए आगे बढ़े चलना ही उत्तम है।

सो ऐसा है गीताका अवतारविषयक सिद्धांत। भगवान्‌की अवतरण-प्रणालीका यहांतक जो विस्तार किया गया और इसी तरह इससे पहलेके अध्यायमें अवतारकी संभावनाके विषयमें जो आलोचना की गयी, इसका कारण यही है कि इस प्रश्नको इसके सभी पहलुओं-से देखना और मनुष्यकी तर्कबुद्धिमें इस बारेमे जो कठिनाइया खड़ी हो सकती है उनका सामना करना आवश्यक ही था। यह सही है कि भौतिक रूपमें ईश्वरके अवतार लेनेकी बातका गीतामें विशेष विस्तार तो नही है, पर गीताकी शिक्षाका जो क्रम है उसकी शृंखला-में इसका अपना एक विशिष्ट स्थान है जो गीताकी सपूर्ण योजनामें अनुस्यूत है। गीतारूपी चित्रका चौखटा तो यही है कि अवतार एक विभूतिको, उस मनुष्यको जो मात्र मानवताकी ऊंची-से-ऊंची अवस्थामें पहुंच चुका है, दिव्य जन्म और दिव्य कर्मकी ओर ले जा रहे है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव-जीवका उद्धार कर उसे अपने अन्दर मिला लेनेके लिये मनुष्यके अपने अंदर भगवान्‌का अवतार लेना ही मुख्य बात है—इन्ही आन्तर कृष्ण, बुद्ध या ईसासे ही असली मतलब है। पर जिस प्रकार आन्तर विकासके लिये बाह्य जीवन भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन है, वैसे ही बाह्य अवतार भी इस महान् आध्यात्मिक अभिव्यक्तिके लिये किसी कदर कम महत्त्वकी वस्तु नही है। मानसिक और शारीरिक प्रतीककी परिपूर्णता आन्तर सद्वस्तुके विकासमें सहायक होती है; पीछे यही आन्तर सद्वस्तु और भी अधिक शक्तिमत्ताके साथ बाह्य जीवनके द्वारा अपने अधिक उत्कृष्ट रूपमें अपने-आपको प्रकट करती है। इस प्रकार आध्यात्मिक सद्वस्तु और मानसिक तथा भौतिक अभि-व्यक्तिके बीच परस्पर सतत आदान-प्रदान चल रहा है और इन्ही दो भावोंके द्वारा मानुषी तनुमें स्थित भगवान् कभी अपने गुह्य भावसे और कभी अपने प्रकट भावसे अपने प्राकटचका विकास-साधन कर रहे हैं।

दिव्य जन्म और दिव्य कर्म

भगवान्‌के जन्मके समान ही उनके उस कर्मका भी, जिसके लिये उनका अवतार हुआ करता है, द्विविध भाव और द्विविध रूप होता है। क्रिया और प्रतिक्रियाके जिस विधानके द्वारा तथा उत्थान और पतनरूपी जिस सहज व्यवस्थाके द्वारा प्रकृति अग्रसर होती है, उस विधान और व्यवस्थाके होते हुए भी भागवत धर्मकी रक्षा और पुनर्गठनके लिये इस बाह्य जगत्‌पर भागवत शक्तिकी जो क्रिया होती है, यही है दिव्य कर्मका बाह्य पहलू, और यह भागवत धर्म ही मानव-जातिके भगवन्मुख प्रयासको समस्त विघ्न-बाधाओसे उबारकर निश्चित रूपसे आगे बढ़ाता रहता है। इसका आतर पहलू यह है कि भगवन्मुख चैतन्यकी दिव्य शक्ति, व्यक्तिके और जातिके आत्मापर क्रिया करती है ताकि वह मानवरूपमे अवतरित भगवान्‌के नये-नये प्रकाशको ग्रहण कर सके और अपने ऊर्ध्वमुखी आत्म-विकासकी शक्तिको बनाये रख सके, उसमे एक नवजीवन ला सके और उसे समृद्ध कर सके। अवतारका अवतरण केवल किसी महान् बाह्य कर्मके लिये नही होता जैसा कि कर्मप्रवण मनुष्य समझा करते है। कर्म और बाह्य घटना स्वयं अपना कोई मूल्य नहीं रखते, उनका मूल्य उस शक्तिपर आश्रित है जिसकी ओरसे वे होते हैं और उस भावपर आश्रित है जिसके वे प्रतीक होते है, और उस भावको सिद्ध करना ही उस शक्तिका काम होता है।

जिस संकटकी अवस्थामें अवतारका आविर्भाव होता है वह बाहरी नजरमें बाह्य घटनाओं और जड़ जगत्‌में महत् परिवर्तन करनेवाले कार्योंके होनेका एक असाधारणसा काल प्रतीत होता है। परंतु इसके वास्तविक मूल अभिप्रायको देखें तो यह मालूम होगा कि यह संकट मानव-चेतनामें तब आता है जब उस चेतनाका कोई

महान् परिवर्तन, कोई नवीन विकास होनेवाला होता है। इस परिवर्तनको करनेके लिये किसी दिव्य शक्तिकी आवश्यकता होती है, किंतु शक्तिका यह नियम है कि जिस कोटिकी चेतनाको लेकर वह काम करती है, स्वयं भी उसी प्रकारकी बन जाती है; इसलिये भागवत शक्तिके द्वारा किसी कर्मके होनेके लिये यह आवश्यक है कि पहले मनुष्यके अंतःकरण और अंतरात्मामें भागवत चैतन्यका आविर्भाव हो। जहां कोई ऐसा परिवर्तन करना होता है जो मुख्यतः बौद्धिक और लौकिक है, वहां अवतारके आनेकी कोई आवश्यकता नही होती; मानव-चेतना स्वयं ऊपर उठ जाती है, शक्तिकी एक महान् अभिव्यक्ति होती है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपनी साधारण अवस्थासे ऊपर उठ जाते हैं और चेतना और शक्तिकी यह लहर कुछ असाधारण व्यक्तियोमें अपनी पराकाष्ठाको प्राप्त होती है और इन्ही असाधारण व्यक्तियोंको विभूति कहते है; इन विभूतियोका कर्म सर्वसाधारण मानव-जातिके कर्मका नेतृत्व करता है और यह उद्दिष्ट परिवर्तनके लिये पर्याप्त होता है। युरोपका धर्मविप्लव (Reformation) और फ्रासकी राज्य-क्रांति (French Revolution) इसी प्रकारके संकट थे; ये कोई महान् आध्यात्मिक घटनाएं नही बल्कि बौद्धिक और लौकिक परिवर्तन थे। एकमे धार्मिक तथा दूसरेमें सामाजिक और राजनीतिक भावनाओ, रूपों और प्रेरक-भावोंका परिवर्तन हुआ और इसके फलस्वरूप जनसाधारणकी चेतनामें जो कुछ फेरफार हुआ वह बौद्धिक और लौकिक था, आध्यात्मिक नही। पर जब किसी सकटके मूलमें कोई आध्यान्मिक बीज या हेतु होता है तब मानव मन और अंतरात्मामे प्रवर्तक और नेताके रूपसे भागवत चैतन्यका पूर्ण या आंशिक प्रादुर्भाव होता है। यही अवतार है।

अवतारके बाह्य कर्मका वर्णन गीतामें "धर्मसंस्थापनाय" कहकर किया गया है; जब-जब धर्मकी ग्लानि या ह्रास होता है, उसका बल क्षीण हो जाता है और अधर्म सिर उठाता, प्रबल होता और

अत्याचार करता है तब-तब अवतार आते और धर्मको फिरसे शक्तिशाली बनाते है। जो बातें विचारके अतर्गत होती है वे कर्मके द्वारा तथा विचारोंकी प्रेरणाका अनुगमन करनेवाले मानव-प्राणीके द्वारा प्रकट होती है, इसलिये सर्वथा मानव और लौकिक भाषामें अवतारका काम है प्रतिगामी अंधकारके राज्यके द्वारा सताये गये धर्मके अन्वेषकोंकी रक्षा करना (परित्राणाय साधूना) और अधर्मको बनाये रखना चाहनेवाले दुष्टोका नाश करना। परतु इस बातको कहनेमें गीताने जिन शब्दोका प्रयोग किया है उनकी ऐसी सकीर्ण और अधूरी व्याख्या भी की जा सकती है कि जिससे अवतारका आध्यात्मिक गभीर अर्थ जाता रहे। धर्म एक ऐसा शब्द है कि इसका नैतिक और व्यावहारिक, प्राकृतिक और दार्शनिक, धार्मिक और आध्यात्मिक, सब ही प्रकारका अर्थ होता है और इनमेसे किसी भी अर्थमें इस शब्दका इस तरहसे प्रयोग किया जा सकता है कि उसमे अन्य अर्थोंकी गुजायश न हो, उदाहरणार्थ इसका केवल नैतिक अथवा केवल दार्शनिक या केवल धार्मिक ही अर्थ किया जा सकता है। नैतिक रूपसे सदाचारके नियमको, जीवनचर्या-संबंधी नैतिक विधानको अथवा और भी बाह्य और व्यावहारिक अर्थमें सामाजिक और राजनीतिक न्यायको या केवल सामाजिक नियमोके पालनको धर्म कहा जाता है। यदि इसी अर्थमे हम इस शब्दको ग्रहण करें तो इसका यही अभिप्राय हुआ कि जब अनाचार, अन्याय और दुराचारका प्राबल्य होता है तब भगवान् अवतार लेकर सदाचारियोंको बचाते और दुराचारियोको नष्ट करते है, अन्याय और अत्याचारको रौद डालते और न्याय और सद्व्यवहारको स्थापित करते है।

कृष्णावतारका प्रसिद्ध पौराणिक वर्णन इसी प्रकारका है—कौरवोंका अत्याचार दुर्योधनादिके द्वारा इतना बढ़ा कि पृथिवीके लिये उसका भार असह्य हो उठा और पृथिवीको भगवान्से अवतार लेने और उसका भार हल्का करनेकी प्रार्थना करनी पड़ी; तद-

नुसार विष्णु कृष्णरूपसे अवतीर्ण हुए, उन्होंने अत्याचारपीड़ित पांडवोंका उद्धार किया और अन्यायी कौरवोंका संहार किया। इसके पूर्व अन्यायी अत्याचारी रावणका वध करनेके लिये विष्णु-का जो रामावतार हुआ अथवा क्षत्रियोंकी उद्दंडताको नष्ट करनेके लिये जो परशुरामावतार हुआ या दैत्यराज बलिके राज्यको मिटा-नेके लिये जो वामनावतार हुआ उसका भी ऐसा ही वर्णन है। परंतु यह प्रत्यक्ष है कि पुराणोंके इस प्रसिद्ध वर्णनसे, कि अवतार इस प्रकारके किसी सर्वथा व्यावहारिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक कर्मको करनेके लिये आते है, अवतारके कृत्यका सच्चा हिसाब नही मिलता। इस वर्णनमें अवतारके आनेका जो आध्यात्मिक हेतु है वह छूट जाता है; और यदि इस बाह्य प्रयोजन-को ही हम सब कुछ मान लें तो बुद्ध और ईसाको हमे अवतारोंकी कक्षासे अलग कर देना होगा, क्योंकि इनका काम तो दुष्टोको नष्ट करने और शिष्टोंको बचानेका नही, बल्कि अखिल मानव-समाजको एक नया आध्यात्मिक सदेश सुनाना तथा दिव्य विकास और आध्यात्मिक सिद्धिका एक नया विधान दे जाना था। धर्म शब्दको फिर यदि हम केवल धार्मिक अर्थमे ही ग्रहण करे अर्थात् इसे धार्मिक और आध्यात्मिक जीवनका एक विधान मानें तो हम इस विषयके मूलमें तो जरूर पहुंचेंगे, किंतु इसमें भी यह भय है कि अवतारके एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्यको कही हम अपनी दृष्टिके ओट न कर दें। भगवदवतारोंके इतिहासमे सर्वत्र ही यह देख पड़ता है कि उनका कार्य द्विविध होता है और यह, अपरिहार्य है, और द्विविध होनेका कारण यह है कि अवतीर्ण भगवान् मानव-जीवनमे होने-वाले भगवत्-कार्यको ही अपने हाथमें उठा लेते हैं, जगत्में जो भग-वत्-इच्छा और भगवत्-ज्ञान काम कर रहे है, उन्हीका अनुसरण कर अपना कार्य करते है और यह कार्य सदा ही आन्तर और बाह्य दो प्रकारसे सिद्ध होता है—अंतरात्म-प्रदेशमें आंतरिक उन्नतिके द्वारा और जागतिक जीवनमें बाह्य परिवर्तनके द्वारा।

भगवान्‌का अवतार हो सकता है कि किसी महान् आध्यात्मिक गुरु या त्राताके रूपमे हो, जैसे बुद्ध और ईसा, किंतु सदा ही उनकी पार्थिव अभिव्यक्तिकी समाप्तिके बाद भी उनके कर्मके फलस्वरूप जातिके केवल नैतिक जीवनमें ही नही बल्कि उसके सामाजिक और बाह्य जीवन और आदर्शोमे भी एक गभीर और शक्तिशाली परिवर्तन हो जाता है। दूसरी ओर, हो सकता है कि वे दिव्य जीवन, दिव्य व्यक्तित्व और दिव्य शक्तिके अवतार होकर आवे, अपने दिव्य कर्मको करनेके लिये, जिसका उद्देश्य बाहरसे सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक ही दिखायी देता हो; जैसा कि राम और कृष्णकी कथाओमे बताया गया है, फिर भी सदा ही यह अवतरण जातिके आत्माके अंदर उसके आतरिक जीवनके लिये और उसके आध्यात्मिक नवजन्मके लिये एक स्थायी शक्तिका काम करता है। यह एक अनोखी बात है कि बौद्ध और ईसाई धर्मोका स्थायी जीवत, तथा विश्वव्यापक फल यह हुआ कि जिन मनुष्यो तथा कालोने इनके धार्मिक और आध्यात्मिक मतो, रूपो और साधनाओका परित्याग कर दिया उनपर भी इन धर्मोके नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक आदर्शोका शक्तिशाली प्रभाव पड़ा। पीछेके हिंदुओने बुद्धदेव, उनके सघ और धर्मको अमान्य कर दिया, पर बुद्धधर्मके सामाजिक और नैतिक प्रभावकी अमिट छाप उनपर पड़ी हुई है और हिंदूजातिका जीवन और आचार-विचार उससे प्रभावान्वित है। आधुनिक युरोप नाममात्रको ही ईसाई है, पर इसमें जो मानवदयाका भाव है वह ईसाई-धर्मके आध्यात्मिक सत्यका ही नैतिक और सामाजिक रूपातर है, और इसमे स्वाधीनता, समता और विश्वबंधुताकी जो अभीप्सा है वह ईसाई-धर्मके ही आध्यात्मिक सत्यका सामाजिक और राजनीतिक रूपातरं है; और स्वाधीनता, समता और विश्वबंधुताकी यह अभीप्सा मुख्यतः उन लोगोंने की है जिन्होंने ईसाई-धर्म और आध्यात्मिक साधनाको व्यर्थ तथा हानिकर बतलाकर त्याग दिया था और यह काम हुआ

उस युगमें जिसने स्वतंत्रताके अपने बौद्धिक प्रयासमें ईसाई-धर्मको धर्म मानना छोड़ देनेकी पूरी चेष्टा की थी। राम और कृष्णकी जीवनलीला ऐतिहासिक कालके पूर्वकी है, काव्य और आख्यायिकाके रूपमें हमे प्राप्त हुई है और इसे हम चाहें तो केवल काल्पनिक कहानी भी कह सकते है; पर चाहे काल्पनिक कहानी कहिये या ऐतिहासिक तथ्य मानिये, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नही; क्योकि उनके चरित्रोका जो शाश्वत सत्य और महत्त्व है वह तो इस बातमे है कि ये चरित्र जातिकी आतरिक चेतना और मानवजीवनके जीवनमे सदाके लिये एक आध्यात्मिक रूप, सत्ता और प्रभावके रूपमें अमर हो गये है। अवतार दिव्य जीवन और चैतन्यके एक तथ्य है; वे किसी बाह्य कर्ममे भी उतर सकते है, पर उस कर्मके हो चुकने और उनका कार्य पूर्ण होनेके बाद भी उस कर्मका आध्यात्मिक प्रभाव तो बना ही रहता है; अथवा वे किसी आध्यात्मिक प्रभावको प्रकटाने और किसी धार्मिक शिक्षाको देनेके लिये भी प्रकट हो सकते है, किंतु उस हालतमे भी, उस नये धर्म या साधनाके क्षीण हो चुकने-पर भी, मानव-जातिके विचार, उसकी मनोवृत्ति और उसके बाह्य जीवनपर उनका स्थायी प्रभाव बना ही रहता है।

इसलिये अवतार-कार्यके गीतोक्त वर्णनको ठीक तरहसे समझने-के लिये यह आवश्यक है कि हम धर्म शब्दके अत्यत पूर्ण, अत्यंत गभीर और अत्यंत व्यापक अर्थको ग्रहण करें, धर्मको वह आन्तर और बाह्य विधान समझें जिसके द्वारा भागवत संकल्प और भागवत ज्ञान मानव-जातिका आध्यात्मिक विकास साधन करते और जातिके जीवनमें उसकी विशिष्ट परिस्थितियां और उनके परिणाम निर्माण करते है। भारतीय धारणाके हिसाबसे धर्म केवल शुभ, उचित, सदाचार, न्याय और आचारनीति ही नहीं है, बल्कि अन्य प्राणियोंके साथ, प्रकृति और ईश्वरके साथ मनुष्यके जितने भी संबंध है उन सब-का संपूर्ण नियमन है और यह नियामक तत्त्व ही वह दिव्य धर्मतत्त्व है जो जगत्के सब रूपों और कर्मोंके द्वारा, आन्तर और बाह्य जीवनके

विविध आकारोंके द्वारा तथा जगत्‌में जितने प्रकारके भी परस्पर संबंध हैं उनकी व्यवस्थाके द्वारा अपने-आपको सिद्ध करता रहता है। धर्म* वह है जिसे हम धारण करते हैं और वह भी जो हमारी सब आन्तर और बाह्य क्रियाओंको एक साथ धारण किये रहता है। धर्म शब्दका प्राथमिक अर्थ हमारी प्रकृतिका वह मूल विधान है जो गुप्त रूपसे हमारे सब कर्मोंको नियत करता है और इसलिये इस दृष्टिसे प्रत्येक जीव, प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति और समूहका अपना-अपना एक विशिष्ट धर्म होता है। दूसरी बात यह है कि हमारे अदर जो भागवत प्रकृति है उसे भी तो हमारे अदर विकसित और व्यक्त होना है, और इस दृष्टिसे धर्म अत क्रियाओका वह विधान है जिसके द्वारा भागवत प्रकृति हमारी सत्ताके अदर विकसित होती है। फिर एक तीसरी दृष्टिसे धर्म वह विधान है जिससे हम अपने बहिर्मुखी विचार, कर्म और पारस्परिक सबधोका नियंत्रण करते है ताकि भागवत आदर्श-की ओर उन्नत होनेमें हमारी और मानव-जातिकी अधिक-से-अधिक सहायता हो।

धर्मको साधारणतया सनातन और अपरिवर्तनीय कहा जाता है, और इसका मूल तत्त्व और आदर्श है भी ऐसा ही; पर इसके रूप निरंतर बदला करते है, उनका विकास होता रहता है; कारण मनुष्य अभी उस आदर्शको प्राप्त नहीं है या यह कहिये कि उसमें अभी उसकी स्थिति नही है, अभी तो इतना ही है कि मनुष्य उसे प्राप्त करनेकी अधूरी या पूरी इच्छा कर रहा है, उसके ज्ञान और अभ्यासकी ओर आगे बढ़ रहा है। और यह जो आगे बढना है इसमें धर्म वही है जिससे भागवत पवित्रता, विशालता, ज्योति, स्वतंत्रता, शक्ति, बल, आनन्द, प्रेम, शुभ, एकता, सौदर्य हमें अधिका-धिक प्राप्त हों। इसके विरुद्ध इसकी परछाईं और इनकार

---

*धर्म शब्द 'धृ' धातुसे बनता है जिसका अर्थ है धारण करना।

डटा हुआ है, अर्थात् वह सब कुछ जो इसकी वृद्धिका विरोध करता है, जो इसके विधानके अनुगत नही हुआ है, वह सब कुछ जो भागवत संपदाके रहस्यको न तो सुपुर्द किया है न सुपुर्द करनेकी इच्छा रखता है, बल्कि जिन-जिन बातोंको मनुष्यको अपनी प्रगतिके मार्गमें पीछे छोड़ जाना है, जैसे कि अशुचिता, संकीर्णता, बंधन, अंधकार, दुर्बलता, नीचता, असामंजस्य, दुःख, पार्थक्य, बीभत्सता और असंस्कृति आदि, एक शब्दमे जो कुछ धर्मका विकार और प्रत्याख्यान है उस सबका मोरचा बनाकर सामने डट जाता है। यही अधर्म है जो धर्मसे लड़ता और उसे जीतना चाहता है, जो उसे पीछे और नीचेकी ओर खीचना चाहता है, यही वह प्रतिगामी शक्ति है जो अशुभ, अज्ञान और अंधकारका रास्ता साफ करती है। इन्ही दोके बीच सतत सग्राम और संघर्ष चल रहा है, कभी इस पक्षकी विजय होती है; कभी उस पक्षकी; कभी ऊपरकी ओर ले जानेवाली शक्तियोकी जीत होती है तो कभी नीचेकी ओर खीचनेवाली शक्तियोकी। मानव-जीवन और मानव-आत्मापर अधिकार जमानेके लिये यह जो संग्राम होता है इसीको वेदोने देवासुर-संग्राम कहा है (देवता अर्थात् प्रकाश और अविभाजित अनतताके पुत्र, असुर अर्थात् अंधकार और भेदके संतान); जरथुस्त्रके मतमें यही अहुर्मज्द-अहिर्मन-संग्राम है और पीछेके धर्मसंप्रदायोमे इसीको ईश्वर और उनके फिरिश्तोके साथ शैतान या इबलिस और उनके दानवोका संग्राम कहा गया है।

इन्ही सब बातोंसे अवतारके कर्मका स्वरूप निश्चित और निर्द्धारित हुआ करता है। बौद्धमतावलबी साधक अपनी मुक्तिके विरुद्ध जो-जो कुछ है उससे अलग हटकर धर्म, संघ और बुद्ध, इन तीन शक्तियोंकी शरण लेते है। ईसाई मतमें भी ईसाई जीवन-चर्या, गिरिजाघर और स्वयं ईसा है। अवतारके कार्यमें ये तीन बातें अवश्य होती ही है। अवतार एक धर्म बतलाते है, आत्म-अनुशासनका एक धर्म बतलाते है, जिससे कि मनुष्य निम्नतर

जीवनसे निकलकर उच्चतर जीवनमें संवर्द्धित हों, और धर्ममें, सदा ही, कर्मके विषयमें तथा दूसरे-दूसरे मनुष्यो और प्राणियोंके साथ साधकका क्या सबंध होना चाहिये इस विषयमें एक विधान भी रहता है, जैसे कि अष्टांग-मार्ग अथवा श्रद्धा, प्रेम और पवित्रताका धर्म अथवा इसी प्रकारका और कोई धर्म जो अवतारके भागवत स्वभावमें प्रकट हुआ हो। इसके बाद, चूकि मनुष्यकी प्रत्येक प्रवृत्तिके सामूहिक और वैयक्तिक दो पहलू होते है, चूकि जो लोग एक ही मार्गका अनुसरण करते है उनमे स्वभावत: एक आध्यात्मिक साहचर्य और एकता स्थापित हो जाती है, इसलिये अवतार एक संघकी स्थापना करते है, सघ अर्थात् उन लोगोका सख्य और एकत्व जो अवतारके व्यक्तित्व और शिक्षाके कारण एक सूत्रमे बध जाते है। यही त्रिक "भागवत, भक्त और भगवान्" के रूपसे वैष्णव धर्ममें भी है। वैष्णव धर्मसम्मत उपासना और प्रेमका धर्म ही भागवत है, उस धर्मका जिन लोगोमे प्रादुर्भाव होता है उन्हीका संघ-समुदाय भक्त कहाता है, और जिन प्रेमी और प्रेमास्पदकी सत्ता और स्वभावमे यह प्रेममय भागवत धर्म प्रतिष्ठित है और जिनमें ही इसकी पूर्णता होती है वही भगवान् है। अवतार त्रिकके इस तृतीय तत्त्वके विग्रह है, वह भागवत व्यक्तित्व, स्वभाव और सत्ता है जो इस धर्म और सघके आत्मा होते है, और इस धर्म और संघको वे अपने-आपके द्वारा अनुप्राणित करते है, उसे सजीव बनाये रखते है तथा मनुष्योंको आनद और मुक्तिकी ओर आकर्षित करते है।

गीताकी शिक्षामें, जो अन्य विशिष्ट शिक्षाओं और साधनाओंकी अपेक्षा अधिक उदार और बहुमुखी है, ये तीन बातें भी बहुत व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुई है। यहा जो एकता है वह सब कुछको अपनेमें मिला लेनेवाली वह वेदांतिक एकता है जिसके द्वारा जीव सबको अपने अंदर और अपने-आपको सबके अंदर देखता और सब प्राणियोंके साथ अपने-आपको एक कर लेता है। इसलिये

सब प्रकारके मानव-संबंधोंको एक उच्चतर दिव्य अभिप्रायके अंदर ले आना ही धर्म है। भगवान्की खोज करनेवाला साधक जिस समाजमें रहता है उस समग्र मानव-समाजको एक सूत्रमें बांध रखने-वाले नैतिक, सामाजिक और धार्मिक विधानसे आरंभ कर यह धर्म उस विधानको ब्राह्मीचेतनाद्वारा अनुप्राणित करके उसे ऊपर उठा देता है; और जो विधान यह देता है वह है एकताका विधान, समताका विधान, मुक्त निष्काम भगवत्परिचालित कर्मका विधान, ईश्वर-ज्ञान और आत्म-ज्ञानका वह विधान जो समस्त प्रकृति और समस्त कर्मको अपनी ओर खींचता और आलोकित करता है, मानव-समाजको भागवत सत्ता और भागवत चेतनाकी ओर आकर्षित करता है, तथा भागवत प्रेमका वह विधान जो ज्ञान और कर्मकी परमशक्ति है, चरम सिद्धि है। गीतामें प्रेम और भक्तिके द्वारा भगवान्को पानेकी साधना जहांपर बतलायी गयी है वहां ही संघ और भागवत भक्तोंके भगवत्प्रेम और भगवदनुसंधानके अदर सख्य और परस्पर-साहाय्यका जो मूल भाव है वह आ गया है, पर गीताकी शिक्षाका असली सघ तो समग्र मानव-जाति है। सारा जगत् और अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार प्रत्येक मनुष्य भी इसी धर्मकी ओर जा रहा है। "यह मेरा ही तो मार्ग है जिसपर सब मनष्य चले आ रहे है (मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः)।" और वह भगवदन्वेषक जो सबके साथ एक हो जाता, सबके सुख-दुःख तथा समस्त जीवनको अपना सुख-दुःख और जीवन बना लेता है, वह मुक्त पुरुष जो सब भूतोंके साथ एकात्मभावको प्राप्त हो चुका है, वह समग्र मानव-जातिके जीवनमें ही वास करता है, मानव-जातिके अखिलांतरात्माके लिये, सर्वभूतांतरात्मा भगवान्के लिये ही जीता है, वह लोक-संग्रहके लिये अर्थात् सबको अपने-अपने विशिष्ट धर्ममें और सबका जो एक धर्म है उसमें स्थित रखनेके लिये, भगवान्की ओर उन्हें सब अवस्थाओं और सब मार्गोंसे होकर ले जानेके लिये ही, कर्म करता है। क्योंकि अवतार इस स्थलपर

यद्यपि श्रीकृष्णके नाम और रूपमें प्रकट है पर वे अपने मानव-जन्मके इस एक रूपपर ही जोर नही दे रहे है; बल्कि उन भगवान् पुरुषोत्तमकी बात कह रहे है जिनका ही यह एक रूप है, समस्त अवतार जिनके ही मानव-जन्म है और मनुष्य जिन-जिन देवताओंके नाम और रूपकी पूजा करते है, वे सब भी उन्हीके रूप है। श्रीकृष्णने जिस मार्गका वर्णन किया है वह यद्यपि यह कहकर घोषित किया गया है कि यही वह मार्ग है जिसपर चलकर मनुष्य सच्चे ज्ञान और सच्ची मुक्तिको प्राप्त कर सकता है, किंतु यह वह मार्ग है जिसके अंदर अन्य सब मार्ग समाये हुए है, इसमे उनका बहिष्कार नही है। कारण भगवान् अपनी विश्वव्यापकतामे समस्त अवतारो, समस्त शिक्षाओ और समस्त धर्मोंको लिये हुए है।

यह जगत् जिस युद्धकी रंगभूमि है उसके दो पहलू गीता सामने रखती है, एक आंतर युद्ध और दूसरा बाह्य युद्ध। आतर युद्धमें शत्रुओंका दल अदर है, व्यक्तिके अपने अदर है, और इसमे कामको, अज्ञानको और अहंकारको मार डालना ही विजय है। पर मानवसमूहके अंदर धर्म और अधर्मकी शक्तियोके बीच एक बाह्य युद्ध भी चल रहा है। धर्मकी शक्तियोंकी सहायता मनुष्यकी दिव्य देवोपम प्रकृति करती है और वे करते है जो इस प्रकृतिके प्रतिनिधि है या जो मानवजीवनमें उसे सिद्ध करनेका प्रयास कर रहे है। दूसरी ओर, अधर्मकी शक्तियोंकी सहायता आसुरी और राक्षसी प्रकृति करती है, जिसका ध्वज है उद्दंड अहंकार और वे करते है जो इस अहंकारके प्रतिनिधि है और इसे संतुष्ट करनेमें लगे हुए है। यही देवासुरसंग्राम है जो प्रतीक-रूपसे प्राचीन भारतीय साहित्यमें भरा पड़ा है। महाभारतके महायुद्धको, जिसमे मुख्य सूत्रधार श्रीकृष्ण है, प्रायः इसी देवासुरसंग्रामका ही एक रूपक कहा जाता है; पांडव, जो धर्मराज्यकी स्थापनाके लिये लड़ रहे हैं, देवपुत्र हैं, मानवरूपमें देवताओंकी शक्तियां है और उनके शत्रु आसुरी शक्तिके

अवतार हैं, असुर हैं। इस बाह्य संग्राममें भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे सहायता करने, असुरों अर्थात् दुष्टोंका राज्य नष्ट करने, उन्हें चलानेवाली आसुरी शक्तिका दमन करने और धर्मके पीड़ित आदर्शोंको पुनः स्थापित करनेके लिये भगवान् अवतार लिया करते हैं। व्यष्टिगत मानव-पुरुषके अंदर स्वर्गराज्यका निर्माण करना जैसे भगवदवतारका उद्देश्य होता है वैसे ही मानव-समष्टिके लिये भी उस स्वर्गराज्यको इस पृथिवीके निकटतर ले आना उनका उद्देश्य होता है।

भगवदवतारके आनेका आंतरिक फल उन लोगोंको प्राप्त होता है जो भगवान्की इस क्रियासे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मके वास्तविक मर्मको जान लेते और अपनी चेतनामें भगवन्मय होकर, सर्वथा भगवदाश्रित होकर रहते (मन्मया मामुपाश्रिताः) और अपने ज्ञानकी तपःशक्तिसे पूत होकर (ज्ञानतपसापूताः) अपरा प्रकृतिसे मुक्त होकर भगवत्स्वरूप और स्वभावको प्राप्त होते हैं (मद्भाव-मागताः)। मनुष्यके अंदर इस अपरा प्रकृतिके ऊपर जो दिव्य प्रकृति है उसे प्रकटानेके लिये तथा बंधरहित, निरहंकार, निष्काम, नैर्व्यक्तिक, विश्वव्यापक, भागवत ज्योति शक्ति और प्रेमसे परि-पूर्ण दिव्य कर्मको दिखानेके लिये भगवान्का अवतार हुआ करता है। भगवान् आते हैं दिव्य व्यक्तित्वके रूपमें, वह व्यक्तित्व जो मनुष्यकी चेतनामें बस जायगा और उसके अहंभावापन्न परि-सीमित व्यक्तित्वकी जगह ले लेगा जिससे कि मनुष्य अहंकारसे मुक्त होकर अनंतता और विश्वव्यापकतामें फैल जाय, जन्मके पचड़ेमे निकलकर अमर हो जाय। भगवान् आते हैं भाग-वत शक्ति और प्रेमके रूपमें, जो मनुष्योंको अपनी ओर खींच लेते हैं इसलिये कि मनुष्य उन्हीका आश्रय करें और अपने मानव-संकल्पोंको त्याग दें, अपने काम क्रोध और भयजनित द्वंद्वोंसे छूट जायं और इस महान् दुःख और अशांतिसे मुक्त होकर भागवत शांति और आनंदमें निवास

करें*। किस रूपमें, किस नामसे अवतार आवेंगे और भगवान्‌के किस पहलूको सामने रखेंगे, यह कोई मुख्य बात नहीं है; क्योंकि मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न प्रकृतिके अनुसार जितने भी विभिन्न मार्ग है उन सभी मार्गोंसे मनुष्य भगवान्‌के द्वारा अपने लिये नियत मार्गपर ही चल रहे है, जो अतमे उन्हें भगवान्‌के समीप ले जायगा, और भगवान्‌का वही पहलू मनुष्योंकी प्रकृतिके अनुकूल होता है जिसका वे भगवान्‌के नेतृत्व करने आनेपर अच्छी तरहसे अनुसरण कर सकें। जिस किसी तरहसे मनुष्य भगवान्‌को अपनाते, उनसे प्रेम करते और आनदित होते है, उसी तरहसे भगवान् उन्हें अपनाते, उनसे प्रेम करते और आनंदित होते है, "ये यथा मा प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"

---

*जन्मकर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसापूता मद्भावमागताः॥

दिव्य कर्म

दिव्य जन्मको प्राप्त होना—अर्थात् जीवका किसी उच्चतर चेतनामें ऊपर उठकर दिव्य अवस्थाको प्राप्त करानेवाले नवजन्मको प्राप्त होना—और दिव्य कर्म करना, पहले अर्थात् जबतक साध्य सिद्ध नही हुआ है तबतक साधनके तौरपर और पीछे उस दिव्य जन्मकी अभिव्यक्तिके तौरपर, यही गीताका संपूर्ण कर्मयोग है। गीता दिव्य कर्मके कोई ऐसे बाह्य लक्षण नही बतलाती जिनसे बाह्य दृष्टिसे उसकी पहचान की जा सके या लौकिक आलोचना-दृष्टिसे उसकी जांच की जा सके; सामान्य नीतिधर्मके जो लक्षण है जिनसे मनुष्य अपनी मानव-बुद्धिके अनुसार अपना कर्त्तव्याकर्त्तव्य निश्चित करते है उन लक्षणोंको भी गीताने जानबूझकर ही त्याग दिया है। गीता जिन लक्षणोसे दिव्य कर्मकी पहचान कराती है वे सब लक्षण अत्यंत निगूढ़ और अंतःस्थ है; जिन मार्कोंके द्वारा दिव्य कर्म पहचाने जाते है वे अलक्ष्य है, आध्यात्मिक है और नीति-धर्मके अतीत है।

दिव्य कर्म आत्मासे उद्भूत होते है और केवल आत्माके प्रकाशसे ही पहचाने जा सकते है। "बड़े-बड़े ज्ञानी मुनि भी कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसका निश्चय करनेमें मोहित हो जाते है," क्योकि व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक मानदंडसे वे इनके बाह्य लक्षणोंको ही पहचान पाते है, इनकी जड़तक नही पहुंच पाते; "मै तुझे वह कर्म बतलाऊंगा जिसे जानकर तू अशुभसे मुक्त हो जायगा। कर्म क्या है इसको जानना होगा, विकर्म क्या है इसको भी जानना होगा और अकर्म क्या है यह भी जान लेना होगा; कर्मकी गति गहन है।" कर्म इस संसारमें ऐसा है जैसा कोई गहन जंगल, जिसमें मनुष्य अपने कालकी विचारधारा,

अपने व्यक्तित्वके मानदंड और अपनी परिस्थितिके अनुसार लुढ़कता-पुढ़कता चलता है; और ये विचार और मान उसके एक ही काल या एक ही व्यक्तित्वके क्या बल्कि अनेक कालों और अनेक व्यक्तित्वोंको लिये हुए होते हैं, अनेक सामाजिक अवस्थाओंके विचार और नीतिधर्म तह-पर-तह जमाये आपसमें बिधे हुए होते हे और यद्यपि इनका दावा होता है कि ये निरपेक्ष और अविनाशी है पर ये होते है तात्कालिक और रूढ़िगत ही, यद्यपि ये अपनेको सद्युक्तिकी तरह दिखानेका ढोंग करते है पर ये होते है अशास्त्रीय और अयौक्तिक ही । इस सबके बीचमें सुनिश्चित कर्मविधानके किसी महत्तम आधार और मूल सत्यको ढूढता हुआ ज्ञानी अंतमें ऐसी जगह जा पहुंचता है जहा यही अंतिम प्रश्न उसके सामने आता है कि यह सारा कर्म और जीवन केवल एक भ्रमजाल तो नही है और कर्मको सर्वथा परित्याग कर अकर्मको प्राप्त होना ही क्या इस थके हुए, अपने भ्रमको जाने हुए मानव-जीवके लिये अंतिम आश्रय नही है ? परंतु श्रीकृष्ण कहते है कि इस बारेमे ज्ञानी भी भ्रममें पड़ते और मोहित हो जाते है। कारण कर्मसे ज्ञान और मोक्ष मिलता है, अकर्मसे नही।

तब इस कर्माकर्मकी मीमांसा क्या है ? वह किस प्रकारका कर्म है जिससे हम जीवनमे जो कुछ अशुभ है उससे छूटे, इस सशय प्रमाद और शोकसे, अपने विशुद्ध सद्‌हेतुप्रेरित कर्मोंके भी इस अच्छे-बुरे, अशुद्ध और भरमानेवाले परिणामसे, इन सहस्रों प्रकारकी बुराइयों और दुःखोंसे, हमें छुट्टी मिले ? उत्तर मिलता है कि कोई बाह्य लक्षण करनेकी आवश्यकता नही; संसारके जो कर्म आवश्यक हैं ऐसे किसी कर्मसे बचनेकी आवश्यकता नही; हमारी मानव-कर्मण्यताओंकी हद बांधनेकी जरूरत नहीं, बल्कि सब कर्म किये जायं पर किये जायं अंतरात्माको भगवान्‌के साथ योगमें स्थित करके; "युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।" अकर्म मुक्तिका मार्ग नही है; जिसकी उच्चतम बुद्धिकी अंतर्दृष्टि खुल गयी है वह यह देख सकता है

कि इस प्रकारका अकर्म स्वयं ही सतत होनेवाला एक कर्म है, एक ऐसी अवस्था है जो प्रकृति और उसके गुणोंकी क्रियाओंके अधीन है। शारीरिक अकर्मण्यताकी शरण लेनेवाला मन अभी भी इस भ्रममें ही पड़ा है कि कर्मोंका कर्त्ता वह स्वयं है, प्रकृति नहीं; उसने जड़ताको मोक्ष समझ लिया होता है, वह यह नहीं देख पाता कि जो कुछ ईंट-पत्थरसे भी अधिक जड़ दिखायी देता है वहां भी प्रकृतिकी क्रिया हो रही होती है, उसपर भी प्रकृति अपना अधिकार अक्षुण्ण रखती है। इसके विपरीत, कर्मके पूर्ण प्लावनमें भी आत्मा अपने कर्मोंसे मुक्त है, वह उनका कर्त्ता नहीं, जो कुछ किया जा रहा है उससे बद्ध नहीं; और जो कोई आत्माकी इस मुक्त अवस्थामें रहता है और प्रकृतिके गुणोंमें बद्ध नहीं, वही कर्मोंसे मुक्त रहता है। गीताके इस वाक्यका कि, "कर्ममें जो अकर्मको देखता है और अकर्ममें कर्मको देखता है वही मनुष्योंमें विवेकवान् बुद्धिमान् पुरुष है," स्पष्ट रूपसे यही अभिप्राय है। गीताका यह वाक्य सांख्यने पुरुष और प्रकृतिके बीच जो भेद किया है उसपर प्रतिष्ठित है—वह भेद यह है कि पुरुष नित्यमुक्त, अकर्त्ता, चिरशांत, शुद्ध तथा कर्मोंके अंदर भी अविचल है और प्रकृति चिरक्रियाशीला है जो जड़ता और अकर्मकी अवस्थामें भी उतनी ही कर्मरत है जितनी कि अपने दृश्य कर्मस्रोतके कोलाहलमें। यही वह उच्चतम ज्ञान है जो बुद्धिके उच्चतम प्रयाससे हमें प्राप्त होता है और इसलिये जिस किसीने इस ज्ञानको प्राप्त किया है वह यथार्थमें बुद्धिमान् है "स बुद्धिमान्-मनुष्येषु," वह भ्रांत मोहित बुद्धिवाला मनुष्य नहीं जो जीवन और कर्मको निम्नतर बुद्धिके बाह्य, अनिश्चित और अस्थायी लक्षणोंसे समझना चाहता है। इसलिय मुक्त पुरुष कर्मसे भीत नहीं होता, वह तो संपूर्ण कर्मोंका करनेवाला विशाल विराट् कर्मी होता है (कृत्स्नकर्मकृत्)। और-और लोग जैसे प्रकृतिके वशमें रहकर कर्म करते हैं वैसे वह कर्म नहीं करता, वह तो आत्माकी नीरव स्थिरतामें प्रतिष्ठित होकर, भगवान्‌के साथ योगयुक्त होकर कर्म

करता है। उसके कर्मोंके स्वामी भगवान् होते हैं, वह तो उन कर्मोंका केवल निमित्तमात्र होता है जो उसकी प्रकृति अपने स्वामी-को जानती हुई, उन्हीके वशमें रहती हुई, यंत्रवत् करती रहती है। इस ज्ञानकी धधकती हुई प्रबलता और पवित्रतामें उसके कर्म अग्नि-में ईंधनकी तरह जलकर भस्म हो जाते हैं और इन कर्मोंका उसके मनपर कोई लेप या दाग नहीं लगता, वह स्थिर, शांत, अचल, निर्मल, शुभ और पवित्र बना रहता है। इस कर्त्तृत्व-अभिमानसे शून्य मोक्षदायक ज्ञानमें स्थित होकर, समस्त कर्मोंको करना ही दिव्य कर्मीका प्रथम लक्षण है।

दूसरा लक्षण है निष्कामता; कारण कर्त्तृत्व-अभिमानसे शून्य व्यक्तिके अंदर कामका रहना असंभव हो जाता है, वहां काम निरा-हार हो जाता, निराश्रय हो जानेके कारण अवसन्न हो जाता और क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। बाह्यतः मुक्त पुरुष भी दूसरे-दूसरे लोगोंकी तरह ही समस्त कर्मोंको करता हुआ दिखायी देता है, शायद वह कर्मोंको एक बड़े पैमानेपर एक और अधिक शक्तिशाली संकल्प और वेगवती शक्तिके साथ ही करता है, क्योंकि उसकी स-क्रिय प्रकृतिके अंदर भगवान्के संकल्पका बल काम करता होता है; परंतु उसके समस्त उपक्रमों और उद्योगोंमें कामके हीनतर भाव और कामकी अधस्तन इच्छाका अभाव ही होता है, "सर्वे-समारंभाः कामसंकल्पवर्ज्जिताः।" उसको अपने कर्मोंके फलोंके लिये कोई आसक्ति नहीं रही है, और जहां फलके लिये कर्म नहीं किया जाता बल्कि सब कर्मोंके जो स्वामी हैं उनका एक नैर्व्यक्तिक यंत्र बनकर ही सारा कर्म किया जाता है वहां कामना-वासनाके लिये कोई स्थान ही नही होता—वहां मालिकके कामको सफलता-पूर्वक करनेकी भी कोई इच्छा नहीं होती, क्योंकि फल तो भगवान्का है और उन्हींके द्वारा विहित है, किसी व्यक्तिगत इच्छा या चेष्टाके द्वारा नहीं, वहां यह इच्छा भी नही होती कि मालिकके कामको गौरवके साथ करूं या इस प्रकार करूं जिससे मालिक

संतुष्ट रहें, क्योंकि यथार्थमें कर्मी तो स्वयं भगवान् है और सारी महिमा है उनकी शक्तिके उस रूप-विशेषकी जिसके जिम्मे प्रकृति-में जाकर उस कर्मको करनेका भार सौंपा गया है, न कि किसी परिच्छिन्न मानव-व्यक्तित्वकी। मुक्त पुरुषका अंतःकरण और अंतरात्मा कुछ भी नही करता, "नैव किंचित् करोति सः;" यद्यपि वह अपनी प्रकृतिके अंदरसे कर्ममें नियुक्त तो होता है पर कर्म करती है वह प्रकृति, वह कर्त्रीशक्ति, वह चिन्मयी भगवती जो अंतर्यामी भगवान्के द्वारा नियंत्रित रहती है।

इसका यह मतलब नही कि कर्म पूर्ण कौशलके साथ, सफलताके साथ, उपयुक्त साधनोंका ठीक-ठीक उपयोग करके न किया जाय; बल्कि योगस्थ होकर शातिके साथ कर्म करनेसे कुशल कर्म करना जितना अधिक सुलभ होता है उतना आशा और भयसे अधे होकर कर्म करनेसे या लुढकती-पुढकती हुई बुद्धिके निर्णयोंद्वारा लंगड़े बने हुए कर्मोको करनेसे या फिर अधीर मानव-इच्छाकी उत्सुकता-पूर्ण घबराहटके साथ दौड-धूप कर कर्म करनेसे, नही होता। गीताने अन्यत्र कहा है कि, "योगः कर्मसु कौशलम्," योग ही है कर्मका सच्चा कौशल। पर यह सब होता है नैर्व्यक्तिक भावसे एक महती विश्व-ज्योति और शक्तिके द्वारा जो व्यष्टि पुरुषकी प्रकृतिमेंसे अपना कर्म करती है। कर्मयोगी इस बातको जानता है कि उसे जो शक्ति दी गयी है वह भागवत निर्दिष्ट फलको प्राप्त करनेके उपयुक्त होगी, उसे जो कर्म करना है वह कर्मके पीछे जो भागवत चिता है उसके अनुकूल होगा और उसका जो संकल्प होगा उसकी गतिशक्ति और दिशा गुप्त रूपसे भागवत प्रज्ञाके द्वारा नियंत्रित होती रहेगी—अवश्य ही उसका जो संकल्प होगा वह न तो इच्छा होगी न वासना, बल्कि वह होगा सचेतन शक्तिका नैर्व्यक्तिक प्रवाह किसी ऐसे लक्ष्यकी ओर जो कभी भी उसका अपना नहीं होगा। कर्मका फल वैसा भी हो सकता है जिसे सामान्य मनुष्य सफल समझते हैं अथवा ऐसा भी हो सकता है जो उन्हें विफल जान

पड़े, पर कर्मयोगी इन दोनोंमें अभीष्टकी सिद्धि ही देखता है, और वह अभीष्ट उसका अपना नही होता, बल्कि उन सर्वज्ञका होता है जो कर्म और फल, दोनोंके ही संचालक हैं। कर्मयोगी विजयकी खोज नही करता, वह तो यही इच्छा करता है कि भगवत्सकल्प और अभिप्राय पूर्ण हो और यह पूर्णता साधित होती है आपातदृश्य पराजयके द्वारा भी उतनी ही जितनी कि आपातदृश्य जयके द्वारा और प्रायः जयकी अपेक्षा पराजयके द्वारा ही यह कार्य विशेष बलके साथ संपन्न होता है। अर्जुनको युद्धके आदेशके साथ-साथ विजयका आश्वासन भी प्राप्त है; पर यदि उसकी हार ही होनेको होती तो भी उसका कर्त्तव्य युद्ध करना ही होता; क्योंकि जिन क्रियाशक्तियोके समूहके द्वारा भगवान्‌का संकल्प सफल होता है उसके अदर अर्जुनके तात्कालिक भागके तौरपर उपस्थित कालमें जो कर्म उसे सौपा गया है वह यह युद्ध-कर्म ही है।

मुक्त पुरुषकी अपनी कोई आशा-आकाक्षा नहीं होती; वह चीजोंको अपनी वैयक्तिक संपत्ति जानकर पकड़े नही रहता; भगवदिच्छा उसे जो कुछ ला देती है उसे वह ग्रहण करता है, वह किसी वस्तुका लोभ नही करता, किसीसे डाह नही करता; और जो कुछ उसे प्राप्त होता है उसे रागद्वेषरहित होकर ग्रहण करता है; जो कुछ उससे चला जाता है उसे संसार-चक्रमें चला जाने देता है और उसके लिये दुःख या शोक नही करता, उसके वियोगका उसपर कोई असर नही होता। उसके हृदय और आत्मा उसके पूर्ण वशमें होते है, वे किसी भी प्रतिक्रिया या आवेशसे मुक्त होते है, वे बाह्य विषयोके स्पर्शसे विक्षुब्ध नही होते। उसका कर्म मात्र शारीरिक कर्म होता है (शारीरं केवलं कर्म), क्योंकि बाकी सब कुछ तो ऊपरसे आता है, मानव-स्तरपर पैदा नहीं होता, केवल भगवान् पुरुषोत्तमके संकल्प, ज्ञान और आनंदका प्रतिबिब होता है; इसलिये वह कर्म और उसके उद्देश्योंपर जोर देनेके द्वारा अपने मन और हृदयमें वे प्रतिक्रियाएं नहीं होने देता जिन्हें हम षड्रिपु और पाप कहते है।

कारण बाह्य कर्म पाप नहीं है, बल्कि वैयक्तिक संकल्प, मन और हृदयकी जो अशुद्ध प्रतिक्रिया कर्मके साथ लगी रहती और कर्मको कराती है उसीका नाम पाप है; नैर्व्यक्तिक आध्यात्मिक मनुष्य तो सदा ही शुद्ध "अपापविद्ध" होता है और उसके द्वारा होनेवाले कार्यमें उसकी सहज शुद्धता आ ही जाती है। यह आध्यात्मिक नैर्व्यक्तित्व दिव्य कर्मीका तीसरा लक्षण है। किसी प्रकारकी महत्ता या विशालताको प्राप्त सभी मनुष्य यह अनुभव करते हैं कि कोई नैर्व्यक्तिक शक्ति या प्रेम या संकल्प और ज्ञान उनके अंदरसे काम कर रहा है, पर वे अपने मानव-व्यक्तित्वकी अहंभावापन्न प्रतिक्रियाओंसे मुक्त नहीं हैं, और कभी-कभी तो ये प्रतिक्रियाएं अत्यंत प्रचंड होती हैं। परंतु मुक्त पुरुष इन प्रतिक्रियाओंसे सर्वथा मुक्त होता है, कारण उसने अपने व्यक्तित्वको नैर्व्यक्तिक पुरुषके अंदर ढाल दिया होता है और अब उसका व्यक्तित्व उसका अपना नहीं रहा, वह उन भगवान् पुरुषोत्तमके हाथोंमें चला गया है जो सब सात गुणोंको अनंत और मुक्त भावमें व्यवहार करते और जो किसीके द्वारा बद्ध नहीं होते। मुक्त पुरुष आत्मा हो जाता है और तब वह प्रकृतिके गुणोंका एक पुंजसा नहीं बना रहता, और प्रकृतिके कर्मके लिये उसके व्यक्तित्वका जो कुछ आभास बाकी रह जाता है वह एक ऐसी चीज होती है जो बंधमुक्त है, उदार है, नमनीय है और विश्वव्यापक है; वह भगवान्‌की अनंत सत्ताका एक विशुद्ध पात्र बन जाता है, पुरुषोत्तमका एक जीवंत छद्मरूप हो जाता है।

इस ज्ञान, इस निष्कामता और नैर्व्यक्तिकताका फल यह होता है कि पुरुष और प्रकृतिमें पूर्ण समत्व आ जाता है। समत्व दिव्य कर्मीका चौथा लक्षण है। वह 'द्वंद्वातीत' हो जाता है। वह सफलता और विफलता, जय और पराजयको तो अविचलित भावसे और समदृष्टिसे देखता ही है, पर इतना ही नहीं वह सभी द्वंद्वोंके परे उस स्थितिमें पहुंच जाता है जहां द्वंद्वोंका सामंजस्य होता है। जिन बाह्य लक्षणोंसे मनुष्य जगत्‌की घटनाओंके प्रति अपनी मनो-

वृत्तिका रुख निश्चित करते है वे उसकी दृष्टिमे गौण और यान्त्रिक होते है। वह इनकी उपेक्षा नही करता, पर इनसे परे रहता है। शुभ और अशुभका भेद कामवश मनुष्यके लिये सबसे बड़ी चीज है, पर निष्काम आत्मवान् पुरुषके लिये शुभ और अशुभ दोनो ही एकसे ग्राह्य है, क्योकि इन दोनोके सम्मिश्रणमे ही शाश्वत श्रेयके विकासशील रूप निर्मित होते है। उसकी हार तो हो ही नही सकती, क्योकि उसकी दृष्टिके अनुसार प्रकृतिके कुरुक्षेत्र अर्थात धर्मक्षेत्रमे सब कुछ भगवान्‌की विजयकी ओर जा रहा है, वह यह देख पाता है कि इस कर्मक्षेत्रमे जो विकासात्मक धर्मका क्षेत्र है (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे) उसमे जो यह सग्राम चल रहा है उसके प्रत्येक प्रसगका नक्शा इस युद्धके अधिनायक, कर्मोके ईश्वर और धर्मके नेताकी त्रिकालदर्शी दृष्टिके द्वारा पहलेसे ही खीचकर तैयार किया जा चुका है। मनुष्य चाहे उसे मान दे या अपमान, उसकी निदा करे या स्तुति, उसका उसपर कुछ भी असर नही पड सकता, क्योकि उसके कार्यका विचार करनेवाला कोई और है जिसकी दृष्टि बहुत अधिक विमल है और उसके कार्यका पैमाना भी दूसरा ही है और उसका प्रेरक-भाव सासारिक पुरस्कारपर जरा भी निर्भर नही करता। क्षत्रिय अर्जुनकी दृष्टिमे मान और कीर्तिका बहुत बडा मूल्य होना स्वाभाविक ही है और उसका अपयश तथा कापुरुषता-के अपवादसे बचना, उन्हे मृत्युसे भी बुरा मानना ठीक ही है, क्योकि ससारमे मानकी रक्षा करना और साहसकी मर्यादाको बनाये रखना उसके धर्मका अग है, किंतु मुक्त अर्जुनको इनमेसे किसी बातकी पर-वाह करनेकी आवश्यकता नही, उसे तो केवल अपना 'कर्त्तव्य कर्म' जानना है, उस कर्मको जानना है जिसको उसका परम आत्मा उससे माग रहा है और उसीको करना है और फलको अपने कर्मोके ईश्वर-के हाथोमें छोड देना है। पाप-पुण्यके भेदसे भी वह ऊपर उठ चुका है। मानव-जीव जब अपने अहंकारकी पकडको ढीली करनेके लिये और अपने प्राणावेगोके वजनदार और प्रचंड जूए-

के बोझको हलका करनेके लिये सघर्ष कर रहा होता है तब पाप और पुण्यमे विवेक करते रहना उसके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण बात होती है, पर मुक्त पुरुष तो इसके भी परे चला जाता है, वह इन सघर्षोके ऊपर उठ जाता है तथा साक्षीस्वरूप ज्ञानमय आत्माकी पवित्रतामे सुप्रतिष्ठित हो जाता है। अब पाप उसमेसे झडकर गिर गया है और किसी अच्छे कर्मसे उसे न कोई पुण्य मिलता न उसके पुण्यकी वृद्धि होती है और न किसी बुरे कर्मसे उस पुण्यकी हानि या नाश ही, वह तो दिव्य और निरह प्रकृतिकी अविच्छेद्य और अपरिवर्तनीय पवित्रताके शिखरपर चढ गया है और वही आसन जमाकर बैठ गया है। उसके कर्मोका आरभ पाप-पुण्यके बोधमे नही होता, न ये उसपर लागू होते है।

जो अर्जुन अभी भी अज्ञानमे है वह अपने हृदयमे सत्य और न्यायकी कोई पुकार अनुभव कर सकता है और मन-ही-मन यह सोच सकता है कि युद्धसे हटना पाप होगा, क्योकि अधर्मकी विजय होनेसे अन्याय, अत्याचार और अशुभ कर्म छा जाते है और इससे मनुष्य और राष्ट्र पीडित होते है और इस अवसरपर यह जिम्मेवारी उसीके सिर आ पडेगी। अथवा उसके हृदयमे हिसा और मारकाटके प्रति घृणा पैदा हो सकती है और वह मन-ही-मन यह सोच सकता है कि खून बहाना तो हर हालतमे पाप ही है और रक्तपातका समर्थन तो किसी भी अवस्थामे नही ही किया जा सकता। धर्म और युक्तिकी दृष्टिसे ये दोनो मनोभाव ही एकसे मालूम होगे, इनमेसे कौनसा मनोभाव किसके मनपर हावी होगा या दुनियाकी दृष्टिमे ठीक जचेगा यह बात तो देश, काल, पात्र और परिस्थितिपर ही निर्भर करेगी। अथवा यह भी हो सकता है कि अपने शत्रुओके मुकाबलेमे अपने मित्रोकी सहायता करनेके लिये, अशुभ और अत्याचारके मुकाबलेमे धर्म और न्यायका पक्ष समर्थन करनेके लिये उसका हृदय और उसकी कुलमर्यादा उसे विवश करे। परतु मुक्त पुरुषकी दृष्टि इन परस्पर-विरोधी मानदडोके परे जाकर केवल यह देखती

है कि विकासशील धर्मकी रक्षा या अभ्युदयके लिये आवश्यक वह कौनसा कर्म है जो परमात्मा मुझसे कराना चाहते है। उसका अपना निजी मतलब तो कुछ है ही नही, उसको किसीसे कोई व्यक्तिगत रागद्वेष तो है ही नही, उसके पास कर्मविषयक कसकर बधा हुआ कोई मानदड तो है ही नही जो मनुष्य-जातिकी उन्नतिकी ओर बढती हुई लचकीली चालमे कोई रोडा अटका दे या अनतकी पुकारके विरुद्ध खडा हो जाय। उसके अपने कोई शत्रु नही जिन्हे वह जीतना या मारना चाहे, बल्कि वह अपने शत्रुओको इस दृष्टिसे देखता है कि ये वे लोग है जिनको परिस्थितिने और पदार्थमात्रमे निहित सकल्पने उसके विरुद्ध लाकर इसलिये खडा कर दिया है कि वे प्रतिरोधके द्वारा भवितव्यताकी गतिकी सहायता करे। इन लोगोके प्रति उसके मनमे न क्रोध होता है न घृणा, क्योकि दिव्य प्रकृतिमे ये चीजे है ही नही। असुर अपने विरोधीको चूर-चूर कर देना, उसका सिर उतार लेना चाहता है, राक्षसमे सहारकी बडी भयकर लिप्सा होती है, पर मुक्त पुरुषकी स्थिरता, शाति, विश्वव्यापी सहानुभूति और समझमे इन विकारोका उठना असभव है। वह किसीको चोट पहुचानेकी इच्छा नही कर सकता, वह सारे ससारके साथ मैत्री और करुणाका भाव रखता है (मैत्र करुण एव च), पर यह करुणा उस दिव्य आत्माकी करुणा है जो मनुष्योको अपने उच्च स्थानसे करुणाभरी दृष्टिसे देखता है, सब जीवोको अपने अदर प्रेमसे ग्रहण कर लेता है, यह सामान्य मनुष्यकी वह दीनता भरी कृपा नही है जो हृदय, स्नायु और मासका दुर्बल कपनमात्र होती है। वह शरीरसे जीवित रहनेको भी उतनी बडी चीज नही मानता, बल्कि शरीरके परे जो आत्म-जीवन है उसे जीवन मानता और शरीरको केवल एक उपकरण समझता है। वह सहसा सग्राम और सहारमे प्रवृत्त न होगा, पर यदि धर्मके प्रवाहमे युद्ध उसके माथे आ जाय तो युद्ध करना वह स्वीकार करेगा और जिनके बल और प्रभुत्वको उसे चूर्ण करना है और जिनके विजयी जीवनके उल्लासको उसे नष्ट कर

डालना है उनके साथ भी उसकी सहानुभूति होगी और वह उदार समबुद्धि और विशुद्ध बोधके साथ ही युद्धमें प्रवृत्त होगा ।

कारण मुक्त पुरुष सबमें दो बातोंको देखता है, एक यह कि भगवान् घट-घटमें समरूपसे वास करते है और दूसरी यह कि यह जो नानाविध प्राकट्य है वह अपनी तात्कालिक परिस्थितिमें ही विषम है। पशुमें, मनुष्यमें, अशुचि-अत्यजमें, विद्वान् और पुण्यात्मा ब्राह्मणमें, महात्मा और पापात्मामें, मित्र शत्रु और तटस्थमें, जो उसे प्यार करते और उसका उपकार करते है उनमें और जो उससे घृणा करते और उसे पीडा पहुचाते है उनमें, वह देखता है अपने-आपको, वह देखता है ईश्वरको और उसके हृदयमें सबके लिये एकसी ही दिव्य करुणा और दिव्य प्रीति होती है। परिस्थितिके अनुसार बाह्यत वह किसीको अपनी छातीसे लगा सकता है अथवा किसीसे युद्ध कर सकता है, पर किसी भी हालतमें उसकी समदृष्टिमें कोई अतर नही पडता, उसका हृदय सबके लिये ही खुला रहता है, वह अदरमें सबको गलेसे लगाये रहता है। और उसके सब कर्मोमें एक ही अध्यात्मतत्त्व काम करता है अर्थात् पूर्ण समत्व और एक ही कर्मतत्त्व काम करता है अर्थात् वह भगवत्-सकल्प जो भगवान्‌की ओर क्रमश अग्रसर होती हुई मानव-जातिकी सहायताके लिये उसके अदरसे क्रियाशील है।

फिर दिव्य कर्मीका लक्षण वह है जो स्वय भागवत चेतनाका ही केंद्रिक लक्षण है, अर्थात् पूर्ण आतर आनद और शाति। ये निर्विषय होते है, इनकी उत्पत्ति या स्थिति जगत्‌के किसी पदार्थपर निर्भर नही करती, ये सहज ही रहते है, अतरात्माके ये कद है, ये ही दिव्य सत्ताके स्वरूप है। सामान्य मनुष्य अपने सुखके लिये बाह्य पदार्थोंपर निर्भर करता है, इसीसे उसके वासना-कामना होती है, इसीसे उसमें क्रोध-क्षोभ, सुख-दु ख, हर्ष-शोक होते है; इसीलिये वह सब वस्तुओको शुभाशुभके काटेसे तौलता है। परंतु दिव्य आत्मापर इनमेसे किसीका कोई असर नही पड़ सकता, वह

किसी प्रकारकी निर्भरताके बिना सदा तृप्त रहता है (नित्यतृप्तो निराश्रयः), क्योंकि उसका आनद, उसकी दिव्य तृप्ति, उसका सुख, उसकी सुप्रसन्न ज्योति सदा उसके अदर वर्त्तमान है, उसके रोम-रोममे व्याप्त है, "आत्मरति, अन. सुखोन्तरारामस्तथान्तर-ज्योतिरेव च ।" बाह्य पदार्थोमे वह जो सुख लेता है वह बाह्य पदार्थोके कारण नही होता, उस रसके लिये नही होता जिसको वह उनमे ढूढकर न भी पावे, बल्कि उन पदार्थोमे जो आत्मरस है उसके लिये होता है, वे जो भगवान्‌के अभिव्यक्त रूप है उनके लिये होता है और उसके लिये होता है जो उनमे सदा है और सदा रहेगा और जिसको वह ढूढकर पा ही लेगा। इन पदार्थोके बाह्य स्पर्शोमे उसकी आसक्ति नही होती, बल्कि जो आनद उसे अपने अदर मिलता है वही आनद उसे सर्वत्र मिलता है, क्योकि उसका जो आत्मा है वही उन पदार्थोका आत्मा है, और सब चराचर प्राणियोके आत्माके साथ वह एक हो गया है—उनके विभिन्न नामरूपोके होते हुए भी उनके अदर जो एक सम ब्रह्म है उसके साथ वह एक हो गया है (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा) (सर्वभूतात्म भूतात्मा)। प्रिय पदार्थके स्पर्शसे उसे हर्ष नही होता, अप्रियसे उसे शोक नही होता, पदार्थोके घाव, मित्रोके घाव या शत्रुओके घाव उसकी दृष्टिकी स्थिरता भग नही कर सकते न उसके हृदयको मोहित कर सकते है, यह आत्मा अपने स्वरूपसे, उपनिषद् कहते है कि, 'अव्रणम्' होता है, उसपर कोई घाव, कोई क्षत नही होता। सब पदार्थोमे वह वही अक्षय आनद भोग करता है (सुखमक्षयमश्नुते)।

वह समत्व, वह नैर्व्यक्तित्व, वह शांति, वह मुक्ति, वह आनद कर्मके करने न करने जैसी किसी बाहरी चीजपर अवलबित नही होता। गीताने बार-बार त्याग और सन्यास अर्थात् आतर सन्यास और बाह्य सन्यासके बीच जो भेद है उसकी ओर ध्यान दिलाया है। त्यागके बिना सन्यासका कोई मूल्य नही है, त्यागके बिना सन्यास हो भी नही सकता और जहा आतरिक मुक्ति है वहा बाह्य

संन्यासकी कोई आवश्यकता भी नही होती। यथार्थमे त्याग ही सच्चा और पूर्ण सन्यास है। "उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिये जो न द्वेष करता है न आकाक्षा, इस प्रकारका द्वद्वमुक्त व्यक्ति अनायास ही समस्त बधनोसे मुक्त हो जाता है।" बाह्य सन्यासका कष्टकर मार्ग (दु खमाप्तु) अनावश्यक है। यह सर्वथा सत्य है कि सब कर्मो और उनके फलोको अर्पण करना होता है, उनका त्याग करना होता है, पर यह अर्पण, यह त्याग आतरिक है, बाह्य नही; यह प्रकृतिकी जडतामे नही किया जाता, बल्कि यज्ञके उन अधीश्वर-को किया जाता है, उस नैर्व्यक्तिक ब्रह्मकी शाति और आनदमे किया जाता है जिसमेसे बिना उसकी शातिको भग किये सारा कर्म प्रवाहित होता है। कर्मका सच्चा सन्यास ब्रह्ममे कर्मोका आधान करना ही है। "जो कोई सगका त्याग करके, ब्रह्ममे कर्मोका आधान करके (या ब्रह्मको कर्मोका आधार बनाके) कर्म करता है (ब्रह्मणाधाय कर्माणि) उसे पापका लेप नही लगता जैसे कमलके पत्तेपर पानी नही ठहरता।" इसलिये योगी पहले शरीरसे, मन-से, बुद्धिसे अथवा केवल कर्मेद्रियोसे ही आसक्तिको छोडकर आत्म-शुद्धिके लिये कर्म करते है। कर्मफलोकी आसक्तिको छोडनेसे ब्रह्मके साथ युक्त होकर अतरात्मा ब्राह्मी-स्थितिकी ऐकातिक शाति लाभ करता है, कितु जो कोई ब्रह्मके साथ इस प्रकार युक्त नही है वह फलमे आसक्त हो जाता और काम-सभूत कर्मसे बध जाता है। यह स्थिति, यह पवित्रता, यह शाति जहा एक बार प्राप्त हो जाती है वहा देही आत्मा अपनी प्रकृतिको पूर्ण रूपसे वशमे किये हुए, सब कर्मोका 'मनसा' (मनसे, बाहरसे नही) सन्यास करके "नवद्वारा-वती पुरीमे बैठा रहता है, वह न कुछ करता है न कुछ कराता है।" कारण यह आत्मा ही सबके अदर रहनेवाला एक नैर्व्यक्तिक आत्मा है, परब्रह्म है, प्रभु है, विभु है जो नैर्व्यक्तिक होनेके नाते न तो जगत्के किसी कर्मकी सृष्टि करता है न अपनेको कर्त्ता समझने-वाले मानसिक विचारकी (न कर्तृत्वं न कर्माणि) न कर्मफल-

संयोगरूप कार्यकारणसंबधकी। इस सबकी सृष्टि मनुष्यके स्वभाव-द्वारा होती है, स्वभाव अर्थात् आत्म-सभूतिका मूल तत्त्व। सर्व-व्यापी नैर्व्यक्तिक आत्मा न पाप ग्रहण करता है न पुण्य ही; जीव-गत जो अज्ञान है उससे, कर्त्तृत्वके अहकारसे, अपने श्रेष्ठ आत्म-भावकी अनभिज्ञतासे, प्रकृतिके कर्मोके साथ अपनेको तादात्म्य कर लेनेसे, पाप-पुण्यकी सृष्टि होती है, और जब उसका अन्त स्थित आत्म-ज्ञान इस अधकारमय आवरणसे मुक्त हो जाता है तब उसका वह ज्ञान उसके अन्त स्थ सदात्माको सूर्यके सदृश प्रकाशित कर देता है, तब वह अपने-आपको प्रकृतिके करणसमूहके ऊपर रहनेवाला आत्मा जानने लगता है। उस विशुद्ध, अनत, अविकार्य, अव्यय स्थितिमे आकर फिर वह विचलित नही होता, क्योकि प्रकृतिकी किसी क्रियाके द्वारा हमारा स्वरूप बन-बिगड सकता है, इस प्रकारके भ्रममे वह अब नही है। नैर्व्यक्तिक ब्रह्मके साथ पूर्ण तादात्म्य लाभ करके वह यह भी कर सकता है कि प्रकृतिकी क्रियाके अदर फिरसे जन्म लेकर वापस आनेकी आवश्यकतासे अपने-आपको बरी कर ले।

फिर भी यह मुक्ति उसे कर्म करनेसे जरा भी नही रोकती। तब हा, अब कर्म करते हुए भी वह यह जानता है कि कर्म मै नही कर रहा हू, कर्म करनेवाले है प्रकृतिके त्रिगुण। "तत्त्ववित् व्यक्ति (निष्क्रिय नैर्व्यक्तिक ब्रह्मके साथ) युक्त होकर यही सोचता है कि कर्म मै नही करता, देखते, सुनते, चखते, सूघते, खाते, चलते, सोते, सास लेते, बोलते, देते, लेते, आख खोलते-बद करते वह यही धारणा करता है कि इद्रिया विषयोमे बरत रही है।" वह स्वय अक्षर अविकार्य आत्मामे सुप्रतिष्ठित होनेके कारण त्रिगुणातीत हो जाता है; वह न सात्विक है न राजसिक न तामसी; उसके कर्मोमे प्राकृतिक गुणों और धर्मोके जो परिवर्तन होते रहते है, प्रकाश और सुख, कर्मण्यता और शक्ति, विश्राम और जडतारूपी इनका जो छदो-बद्ध खेल होता रहता है उन्हे वह निर्मल और शात भावसे देखता

है। अपने कर्मको इस प्रकार शांत आत्माके उच्चासनसे देखना और उसमे लिप्त न होना, यह त्रैगुणातीत्य भी दिव्य कर्मीका एक महान् लक्षण है। यदि इसी विचारको सब कुछ मान लिया जाय तो इसका यह परिणाम निकलेगा कि सब कुछ प्रकृतिकी ही यात्रिक नियति है और आत्मा इस सबसे सर्वथा अलग है, उसपर कोई जिम्मेवारी नही, पर गीता इस अपूर्ण विचारकी भूलका निवारण करती है पुरुषोत्तम-तत्त्वकी अपनी प्रकाशमान और परमेश्वरवादी भावनाके द्वारा। गीता इस बातको स्पष्ट रूपसे कहती है कि सब कुछके मूलमे प्रकृति ही नही है जो अपने कर्मोका यत्रवत् निर्णय करती रहती हो, बल्कि प्रकृतिको प्रेरित करता है परमात्मा, पुरुषोत्तमका सकल्प, जिन्होने धार्त्तराष्ट्रोको पहलेसे ही मार रखा है, अर्जुन जिनका मानव-यत्रमात्र है, वे विश्वात्मा परात्पर परमेश्वर ही प्रकृतिके समस्त कर्मोके स्वामी है। नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममे कर्मोका आधान करना तो कर्त्तृत्व-अभिमानसे छुटकारा पानेका एक साधनमात्र है, पर हमारा लक्ष्य तो है अपने समस्त कर्मोको सर्वभूतमहेश्वरके अर्पण करना। "आत्माके साथ अपनी चेतनाको तादात्म्य करके, मुझमे सब कर्मोका सन्यास करके (मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा), अपनी वैयक्तिक आशाओं और कामनाओमे तथा 'मै' और 'मेरा' से मुक्त होकर विगतज्वर होकर युद्ध कर," कर्म कर, जगत्मे मेरे संकल्पको कार्यान्वित कर। भगवान् ही अखिल कर्मका आरंभण, प्रेरण और निर्द्धारण करते है; मानव-आत्मा ब्रह्ममे नैर्व्यक्तिक भावको प्राप्त होकर उनकी शक्तिका विशुद्ध और नीरव स्रोतमार्ग बनता है; यही शक्ति प्रकृतिमे आकर दिव्य कर्म संपादन करती है। केवल ऐसे कर्म ही मुक्त पुरुषके कर्म है; क्योंकि किसी कर्ममे मुक्त पुरुषकी कोई अपनी प्रवृत्ति नही होती, केवल ऐसे कर्म ही सिद्ध कर्मयोगीके कर्म है। इन कर्मोका मुक्त आत्मासे उदय होता और आत्मामें कोई विकार या सस्कार उत्पन्न किये बिना ही उनका लय हो जाता है, जैसे, अक्षर अगाध

चित्-समुद्रमें लहरे ऊपर-ही-ऊपर उठती है और फिर विलीन हो जाती है।

गत सगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतस.।
यज्ञाया चरत कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।

समत्व

ज्ञान, निष्कामता, नैर्व्यक्तिकता, समता, स्वत स्थित आतर शांति और आनद, प्रकृतिके त्रिगुणके मायाजालसे छुटकारा या कम-से-कम उससे ऊपर उठे रहनेकी स्थिति, ये सब मुक्त पुरुषके लक्षण है और इसलिये ये सब लक्षण उसके समस्त कर्मोमे वर्त्तमान रहेगे। ये आत्माकी अविचल शातिके आधार है, वह शाति जिसको आत्मा ससारकी समस्त क्रियाओ, आघातो और शक्ति-सघर्षोमे घिरा हुआ होनेपर भी अपने अदर बचाये रहता है। समस्त क्षरभावोके अदर ब्रह्मका जो सम अक्षरभाव वर्त्तमान है उसको यह शाति प्रतिभासित करती है और यह शाति उस अविभाज्य और सम एकताकी है, जो ससारके समस्त बहुत्वोके अदर सदा ओत-प्रोत रहती है। कारण जगत्के असख्य भेदो और वैषम्योके बीच समस्वरूप और सबको समरूप करनेवाला आत्मा ही वह एकता है, और यह आत्माका समत्व ही एकमात्र वास्तविक समत्व है। जगत्के अन्य सब पदार्थोमे केवल किसी प्रकारका सादृश्य, समीकरण और सतुलन तो हो सकता है, किंतु जगत्के बडे-से-बडे सादृश्योमे भी वैषम्य और असदृशताके भेद नजर आते ही है और जगत्मे जो कुछ समीकृत सतुलन होता है वह विषम वजनोको मिलाकर तौलमे बराबर करनेकी प्रक्रियामे ही हुआ करता है।

इसीलिये गीतामे कर्मयोगके जो तत्त्व बतलाये गये है उनमे समत्वको इतना अधिक महत्त्व दिया गया है; जगत्के साथ मुक्त आत्माके मुक्त सबध इस समत्वकी गाठ लगाकर ही जोडे जाते है। आत्मज्ञान, निष्कामता, नैर्व्यक्तिकता, आनद, निस्त्रैगुण्य, ये सब जब अतर्मुख है, अपने-आपमे लवलीन है, निष्क्रिय है तब इनको समत्वकी कोई आवश्यकता नही होती; क्योकि वहा उन पदार्थों-

का भान ही नही है जिनमे सम-विषमका द्वंद्व उत्पन्न होता है। परतु ज्योही आत्मा प्रकृतिकर्मके बहुत्वो, व्यक्तित्वो, विभेदो और विषमताओका भान करने लगता और उनसे व्यवहार करने लगता है त्योही उसे अपने मुक्त स्वरूपके इन अन्य लक्षणोको व्यवहारमे ले आनेके लिये अपने अद्वितीय प्रकट चिह्न समत्वका आश्रय लेना पडता है। ज्ञान है एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके साथ एकताका बोध और इसको जगत्की समस्त नानाविध सत्ताओ और स्थितियोके साथ अपने सबधमे यह प्रकट करना होगा कि इसका सबध सबके साथ समान रूपसे एक है। नैर्व्यक्तिकता है एक अक्षर आत्माकी ससारके अपने नानाविध व्यक्तित्वोकी विभिन्नतासे श्रेष्ठता और इसको जगत्के व्यक्तित्वोके साथ अपने व्यवहारमे यह प्रकट करना होगा कि इसकी क्रिया सबके साथ समान रूपसे और निष्पक्ष भावसे होती है, फिर विविध सबधो और परिस्थितियोके अंतर्गत होनेके कारण इस क्रियाके बाह्य रूप चाहे अनेक प्रकारके ही क्यो न हो जाय। इसीलिये श्रीकृष्ण गीतामे कहते है कि मेरा न कोई प्रिय है न द्वेष्य, मै सबके लिये आत्मभावमे सम हू, फिर भी मेरा जो भक्त होता है वह मेरी कृपाको विशेष रूपसे पाता है; क्योकि उसने मेरे साथ विशेष सबध स्थापित कर लिया है, और यद्यपि मै सबका एक ही निष्पक्ष ईश्वर हू फिर भी मुझसे जो कोई जैसे मिलता है उससे मै वैसे ही मिलता हू। निष्कामता है जगत्के पृथक्-पृथक् काम्य विषयोके बधनकारक आकर्षणसे अनत आत्माकी श्रेष्ठता और इसको जब उन विषयोके साथ सबध स्थापित कर व्यवहारमे उतरना है तब यह निष्कामता प्रकट होगी इन विषयोंके पानेपर सम निष्पक्ष उदासीनताके रूपमे अथवा सबके लिये वैसे ही सम निष्पक्ष अनासक्त आनद और प्रेमके रूपमे, क्योकि ये आनद और प्रेम स्वतःसिद्ध होनेके कारण विषयोके होने न होनेपर निर्भर नही करते, बल्कि ये अपने स्वभावमे अविचल है और अक्षर है। आत्मानंद तो आत्मामे ही होता है, और यदि इस आनंदको

जगत्के पदार्थो और प्राणियोसे नाता जोडना है तो वह इसी प्रकार-से ही अपनी मुक्त आत्मस्थितिको प्रकट कर सकता है। त्रैगुणा-तीत्य है चिर चचल विषमस्वरूप प्रकृतिके गुणकर्मोंके प्रवाहसे अविचल आत्माकी श्रेष्ठता, और इसको यदि प्रकृतिकी परस्पर-विरोधिनी और विषम क्रियाओके साथ सबधमे उतरना है, मुक्त आत्माको यदि अपने स्वभावको कोई कर्म करने देना है, तो इस श्रेष्ठताको उसे प्रकट करना होगा समस्त कर्मो, कर्मफलो या घटना-ओके प्रति अपने निष्पक्ष समत्वके भावके द्वारा ही।

समत्व ही मुक्त पुरुषका लक्षण है और मुमुक्षुकी कसौटी भी। जीवके अदर जहा कही विषमता है वहा यही समझना चाहिये कि यह प्रकृतिके गुणोकी विषम क्रीडा है, कामनाका वेग है, व्यक्ति-गत इच्छाका, भावका या कर्मका खेल है, सुखदु खकी द्वद्वात्मक गति है या वह उद्विग्न या उद्वेगजनक आनद है जो सच्चा आध्या-त्मिक आनद नही, बल्कि एक प्रकारकी मनोमय तृप्ति है जिसके पीछे इस तृप्तिकी जो दूसरी दिशा मनोमय अतृप्ति है वह लगी ही रहती है और अपने समयसे आ ही धमकती है। जीवमे जहा कही विषमता है वहा ज्ञानसे स्खलन है, सर्वसमाहारक ओर सर्व-समन्वयकारक ब्रह्मैक्यमे और सचराचर जगत्के एकत्वमे सुप्रतिष्ठ रहनेका अभाव है। इस समत्वके द्वारा ही कर्मयोगीको कर्म करते समय भी यह ज्ञान रहता है कि वह मुक्त है।

गीताने जिस समत्वका विधान किया है उसका स्वरूप है आध्या-त्मिक, वह उच्च कोटिका है और विश्वव्यापी है और यही इस विषय-मे गीताके उपदेशकी विशेषता है। नही तो मात्र समत्वका उपदेश करके यदि केवल यही कहा जाता कि मन, अनुभव और स्वभावकी यह एक अत्यत वाछनीय अवस्था है जिसमे पहुचकर हम मानव-दुर्बलताके ऊपर उठ जाते है तो इसमे गीताकी कोई विशेषता नही होती। ऐसा समत्व तो दार्शनिक आदर्शके तौरपर और साधु-महात्माओके स्वभावके तौरपर सदा ही सराहा गया है। गीता

इस दार्शनिक आदर्शको ग्रहण करती है सही पर ग्रहण करके उसे उठा ले जाती है एक ऐसे उच्च प्रदेशमे जहा हम यह पाते है कि हम कुछ अधिक उदार और विशुद्ध वायु सेवन कर रहे है। आत्माकी जिस समस्थितिमे यूनानके स्टोइक सप्रदायवाले और दार्शनिक विद्वान् पहुचते है वह गीतोक्त समत्वकी केवल पहली और दूसरी पैडिया है प्राणावेगके भवरजाल और कामनाओके उछालसे ऊपर उठकर देवताओकी नही प्रत्युत् भगवान्‌की परम आत्म-वशित्वपूर्ण शाति और आनन्दमे पहुच जानेके लिये। स्टोइक सप्रदाइयोकी समताका धुरा है सदाचार और यह प्रतिष्ठित है तापस सहिष्णुता या तितिक्षाके द्वारा प्राप्त आत्म-प्रभुत्वपर, इससे अधिक सुख-साध्य और शात स्वरूप है दार्शनिकोकी समताका, ये लोग ज्ञानके द्वारा, अनासक्तिके द्वारा और हमारे प्राकृत स्वभावसुलभ विक्षोभोके ऊपर उठी हुई उच्च बौद्धिक उदासीनताके द्वारा आत्म-वशित्व प्राप्त करना अधिक पसद करते है, इसीको गीता ने कहा है "उदासीन-वदासीन"। एक धार्मिक या ईसाई ढगकी समता भी है जिसका स्वरूप है भगवदिच्छाके सामने सदा नत होकर घुटने टेककर झुके रहना या साष्टाग प्रणिपातके द्वारा भगवान्‌की इच्छाको माथे चढाना। दिव्य शातिके ये तीन साधन-सोपान है—तितिक्षा, उदासीनता ओर नति। गीता अपने समन्वयके उदार ढगमे इन सभीका समावेश कर लेती है और आत्माकी ऊर्ध्व गतिके जो साधन गीताने स्वय बताये है उनके साथ इनको पिरोकर एक कर देती है और ऐसा करते समय इन तीनोमेसे प्रत्येकके मूलको वह और अधिक गहराईमे जमाती, प्रत्येकका लक्ष्य और अधिक व्यापक बनाती और प्रत्येकमे सर्वव्यापक ओर सर्वातीत परम अर्थ भर देती है। कारण गीता इनमेसे प्रत्येकको इनका आध्यात्मिक मूल्य और इनकी आध्यात्मिक सत्ताको शक्ति देती है, जो चरित्रबलसाधनके आयास, बुद्धिकी कठिन समस्थिति और भावावेगोके झोकसे परेकी चीज है।

सामान्य मानव-प्राणीको प्राकृत जीवनके चिर-अभ्यस्त विक्षोभोसे एक तरहका सुख मिलता है, और चूकि उसे उसमे सुख मिलता है और इस सुखसे सुखी होकर वह निम्न प्रकृतिकी अशात क्रीडाको अपनी अनुमति देता है इसलिये त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी यह क्रीडा सदा होती रहती है, कारण प्रकृति जो कुछ करती है वह केवल अपने प्रेमी और भोक्ता पुरुषके सुखके लिये ही करती है और उसीकी अनुमतिमे करती है । परंतु इस सत्यको हम नही पहचान पाते, क्योकि जब प्रतिकूल विक्षोभका प्रत्यक्ष आघात होता है, शोक, क्लेश, असुविधा, दुर्भाग्य, विफलता, पराजय, निदा, अपमानकी, वेदनाए होती है, तब मन उस आघातको खानेसे पीछेकी ओर हटता है, और इसके विपरीत जब अनुकूल वेदनाए होती है, जैसे हर्ष, सुख, हर प्रकारकी तुष्टि, समृद्धि, सफलता, जय, गौरव, प्रशसा आदि, तब मन उन्हे गले लगानेके लिये उछल पडता है, पर इससे इस सत्यमे कोई अतर नही पडता कि जीव जीवनमे सुख लेता है और यह सुख मनके द्वद्वोके पीछे सदा ही वर्त्तमान रहता है । योद्धाको युद्धमे जो जखम होते है उनमे उसे कोई शारीरिक सुख नही मिलता न पराजित होनेपर उसे कोई मानसिक सतोष ही होता है, परन्तु युद्धमे तो उसे पूरा आनद ही मिलता है, चाहे वह युद्ध उसे पराजित और जखमी करा दे या विजय दिला दे । वह पराजय और जखम-की सभावनाको और विजयकी आशाको युद्धके ताने-बानेके तौरपर स्वीकार करता है और उसके अदर रहनेवाला आनद उस युद्धका पीछा करता है । युद्धके जखमकी स्मृति भी उसे हर्ष और गौरव देती है, पूरा हर्ष और गौरव तो तब होता है जब जखमकी पीड़ाका अत हो गया होता है । पर प्रायः घावोके रहते हुए भी ये बहुधा यथेष्ट रूपमे अनुभूत होते है और पीड़ा वास्तवमें इनके लिये आहार-का काम देती है । हारमे भी बलाढ्य शत्रुका जबर्दस्त सामना करनेके कारण उसे हर्ष और गर्व होता है, अथवा वह यदि हीन कोटिका योद्धा हो तो उसे द्वेष और प्रतिशोधकी भावनाओंसे भी

एक प्रकारका क्रूर सुख मिलता ही है। इसी प्रकार अतरात्मा भी हमारे जीवनकी प्राकृत क्रीडाका आनद लेता रहता है।

जीवनके जो प्रतिकूल आघात होते है उनमे मन क्लेश और द्वेषके द्वारा पीछे हटना है, यही जीवके आत्मरक्षासाधनमे प्रकृति-की युक्ति है जिसे जुगुप्सा कहते है, इसीलिये हमारे स्नायु और शरीरके अतिकोमल अग सहसा अपने ध्वसका आलिगन करने नही दौड पडते। जीवनकी जो अनुकूल वेदनाए होती है उनसे मनको हर्ष होता है, यह प्रकृतिका राजस भोग देकर प्रलोभन देना है जिससे कि जीवकी शक्ति जडता और अकर्मण्यताकी तामसी प्रवृत्तियोको जीत सके और वह कर्म, काम, सघर्ष और सफलताके लिये पूर्ण रूपसे लग जाय, हेतु यह कि इन बातोकी ओर मनको आसक्त करके प्रकृति अपना काम पूरा कर ले सके। हमारा गूढ अतरात्मा इस द्वद्व और सघर्षमे एक प्रकारका सुख अनुभव करता है, यह सुख उसे विपद् और दु खमे भी होता है, अतीत विपद्को याद करने और पीछे फिरकर देखनेमे तो उसे पूरा सुख मिलता ही है, पर जिस समय विपद् सिरपर है और दु ख हो रहा है उस समय भी वह परदेके पीछेसे सुख लेता रहता है और प्राय. दु.खी मनके स्तरमे आकर भी उसके आवेशमे सहारा देता है। परतु जो कुछ आत्माको सचमुच आकर्षित करता है वह इस ससारका नानाविध द्वद्वोसे भरा हुआ वह पदार्थ है जिसे हम जीवन कहते है, जो चेष्टा और कामनाके विक्षोभमे, आकर्षण और विकर्षणमे, लाभ और हानिसे, हर प्रकारके वैचित्र्यसे भरा पडा है। हममे जो राजसिक वासनात्मा है उसे एकरस सुख, सघर्षरहित सफलता और आवरणरहित हर्ष कुछ काल बाद अवसादकर, नीरस और अतितृप्तिकरसा लगने लगता है, प्रकाशका पूरा सुख भोगनेके लिये इसे अधकारकी पृष्ठभूमि चाहिये; क्योंकि जो सुख वह चाहता और भोगता है वह ठीक उसी स्वभावका होता है, वह तत्त्वत: सापेक्षिक होता है और सुखका जो विपरीत तत्त्व है उसकी प्रतीति और अनुभूतिपर निर्भर करता है। अस्तु !

हमारे मनको जीवनसे जो सुख मिलता है उसका रहस्य यही है कि हमारा अतरात्मा जगत्के द्वद्वोमे आनद लेता है।

इस मनसे यदि यह कहा जाय कि इन सब विक्षोभोसे ऊपर उठो और उस विशुद्ध आनदात्माके अमिश्र सुखको प्राप्त करो जो सदा ही गुप्त रूपसे इस द्वद्वमय जीवनमे तुम्हे बल देता और तुम्हारा स्थायित्व बनाये रखता है, तो तुरत यह इस आवाहनसे घबराकर पीछे हट जायगा। उसे यह विश्वास ही नही होता कि ऐसी द्वद्व-रहित स्थिति भी कोई हो सकती है, और यदि हो भी तो वह जीवन तो नही ही हो सकती। जगत्मे अपने चारो ओर मनको जो वैचित्र्यमय जीवन देख पडता और जिसमे रहकर आनद लेनेका उसको अभ्यास है वैसी स्थिति तो वह नही ही हो सकती, वह तो कोई ऐसी चीज ही हो सकती है जिसमे कोई स्वाद न हो, कोई लज्जत न हो। अथवा वह यह समझता है कि यह प्रयास उसके लिये अत्यत कठिन होगा, ऊपर उठनेके लिये जो सघर्ष करना पडेगा उसके भयसे वह सहम जाता है, यद्यपि सच्ची बात तो यह है कि वासनात्मा सुखके स्वप्नोको चरितार्थ करनेके लिये जितना प्रयत्न करता है उसकी अपेक्षा आध्यात्मिक रूपातरको प्राप्त करना अधिक कठिन नही होता, और वासनात्मा अपने अनित्य सुखो और कामना-ओका कामाध होकर पीछा करते हुए जो महान् सघर्ष और प्रयास करता है उससे अधिक सघर्ष और प्रयासकी भी इसमे आवश्यकता नही होती। मनकी अनिच्छाका असली कारण तो यह है कि उससे अपने निजी वातावरणसे ऊपर उठने और जीवनकी एक अधिक असाधारण और अधिक विशुद्ध वायुका सेवन करनेके लिये कहा जाता है, जहाके आनद और शक्ति उसके ध्यानमे ही नही आते, और ये सचमुचमे है इसपर वह विश्वास भी नही करता, इस निम्न-तर पंकिल प्रकृतिके सुख ही उसके परिचित है और इन्हीको वह आसानीसे भोग भी सकता है। निम्न प्रकृतिके सुखोका भोग भी अपने-आपमे कोई दोषपूर्ण और निरर्थक वस्तु नही है; प्रत्युत्

अन्नमय पुरुष जिस तामस अज्ञान और जडत्वके अत्यत अधीन होता है उससे ऊपर उठकर मानव-प्रकृतिके ऊर्ध्वमुखीन विकासके साधनकी यही शर्त्त है; परम आत्मज्ञान, शक्ति और आनदकी ओर मनुष्यका जो क्रमबद्ध आरोहण है उसकी यह राजसिक अवस्था है। परतु यदि हम सदा इसी भूमिकापर बने रहे जिसे गीताने मध्यमा गति कहा है तो हमारा आरोहण पूरा नही होता, आत्म-विकास अधूरा रह जाता है। जीवकी सिद्धिका रास्ता है सात्विक सत्ता और स्वभावके भीतरसे होकर, और वह पहुचना है उस स्थानमे जो त्रिगुणातीत है।

जिस क्रियाके द्वारा हम निम्न प्रकृतिके विक्षोभोसे बाहर निकल सकते है वह अवश्य ही एक ऐसी क्रिया होगी जो हमारे मनमे, हमारे चित्तमे और हमारे अतरात्मामे समत्वकी प्रतिष्ठा करे। परतु यह बात ध्यानमे रहे कि अतमे यद्यपि हमे निम्न प्रकृतिके तीनो गुणोके परे पहुचना है तो भी आरभिक अवस्थामे हमे इन तीनो गुणोमेसे किसी एक गुणका आश्रय करके ही आगे बढना होगा। समत्वका यह आरभ सात्विक हो सकता है अथवा राजस या तामस। कारण मानव-स्वभावमे तामसी समताका होना भी सभव है। यह समता सर्वथा तामसी भी हो सकती है, अर्थात् प्राणवृत्ति आलसी होकर पड गयी हो, जीवनके आघातोका प्रत्युत्तर जडताके कारण बंद हो गया हो तथा एक प्रकारकी मद सज्ञाहीनताके कारण जीवनके सुखोके प्रति अनिच्छा हो गयी हो। अथवा सुखोका बहुत अधिक भोग करते-करते भावावेग और काम थक गये हो, या फिर जीवनकी यत्रणा सहते-सहते जीवनसे एक प्रकारकी निराशा या घृणा या ग्लानि पैदा हो गयी हो, जगत्से जी ऊब गया हो, वह भयरूप त्रासरूप हो उठा हो, उससे अरुचि हो गयी हो और ये सब कारण मिलकर तामसिक समताको ले आये हो; पर इस शेषोक्त अवस्थामे वह एक मिश्रित राजस-तामस होता है, यद्यपि तमोगुणकी उसमे प्रधानता होती है। अथवा इस तामसी समतामे सत्वगुण की ओर

भी झुकाव हो सकता है और उस हालतमे बुद्धिमें यह बात जंचती है कि जीवनकी कामनाओकी कभी तृप्ति नही हो सकती, जीवमें इतनी शक्ति नही जो जीवनको अपने वशमे करे, यह सब केवल दुःखमय और अनित्य प्रयास है, इस जीवनमे कोई वास्तविक सत्य नही, कोई स्वस्ति नही, कोई प्रकाश नही, कोई सुख नही। समता-का यह सात्विक-तामस सिद्धात है, इसमे स्वय समता बहुत अधिक नही है—यद्यपि यह सिद्धात समताकी ओर ले जानेवाला हो सकता है—जितना कि इसमे उदासीनता या सब कुछको समान रूपसे अस्वी-कार करनेका भाव है। वस्तुतः तामसी समता प्रकृतिके जुगुप्सातत्त्व-का फैलाव है। किसी विशेष कष्ट या यत्रणासे जो जी हटता है वही फैलकर प्रकृतिके समस्त प्रपचको ही दु खमय और यत्रणामय जानने लगता है और यह समझने लगता है कि यह सारा प्रपच दु ख और आत्म-यत्रणाकी ओर प्रवाहित हो रहा है, जीव जिस आनंदकी इच्छा करता है उस ओर नही।

केवल तामसिक समताके अदर वास्तविक मुक्ति नही है, किंतु जैसा कि भारतीय यतियोने किया, इसको यदि प्रकृतिके परे जो अक्षर ब्रह्म है उसकी महत्तर स्थिति, सत्यतर शक्ति और उच्च-तर आनदके अनुभवद्वारा सात्विक बनाया जा सके तो आरभ करने-के लिये तामसिक समता भी एक शक्तिशाली साधन होगी। पर इस प्रकारकी चेष्टा स्वभावत ही सन्यासकी ओर, जीवन और कर्मोके त्यागकी ओर ले जाती है न कि प्रकृतिके जगत्में कामनाके आतर त्यागके साथ चिरकर्मण्यताकी एकताकी ओर, जो गीताका प्रतिपाद्य विषय है। फिर भी, गीता इस प्रकारके सन्यास और त्यागको स्वीकार करती और उसे भी एक स्थान देती है; जागतिक जीवनके 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःख'-रूप जो दोष है उन्हें देखकर ऐसे जीवनसे पीछे हटनेकी वृत्तिको गीता बुरा नही कहती, गीता उसे मुक्तिकी ओर बढ़नेका एक साधन ही मानती है, गौतम बुद्ध इसी प्रकार आगे बढ़े थे। जो लोग जरा और मरण-

से छुटकारा पानेके लिये तामसिक वैराग्यसे भी आत्मसयम करते है (जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये) उनकी साधनाको भी गीता स्वीकार करती है, किंतु इस साधनासे यदि कोई लाभ उठाना है तो इसके साथ-साथ एक उच्चतर अवस्थाकी सात्विक अनुभूति चाहिये और भगवान्मे ही आनद और भगवान्का ही आश्रय लेना चाहिये (मामाश्रित्य)। तब जीव अपनी इस जुगुप्सा-के द्वारा एक उच्चतर स्थितिको प्राप्त होता है, त्रिगुणसे ऊपर उठ जाता है और जन्म, मृत्यु, जरा और दु:खसे मुक्त होकर अपनी आत्मसत्ताका अमृतत्व भोगता है (जन्ममृत्युजरादु:खैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते)। जीवनके दु:ख और प्रयासको स्वीकार करनेकी तामसिक अनिच्छा अपने-आपमे तो एक प्रकारकी दुर्बलता और अधोगति ही है और इसमे एक खतरा भी समाया हुआ है कि इसके द्वारा सब किसीको समान भावसे वैराग्य लेने और ससारसे घृणा करनेके उपदेशका प्रचार करना होता है जिससे अनधिकारी जीवों-मे तामसिक दुर्बलता और भीरुता पैदा होती है, उनका बुद्धिभेद होता है (बुद्धिभेदम् जनयेत्), उनकी सहज अभीप्सा, उनका जीवनगत आशा-भरोसा नष्ट होते और पुरुषार्थ करनेकी उनकी शक्ति क्षीण होती है जिनकी मानव-जीवको आवश्यकता है अपनी परिस्थितिको वशमे करनेके कल्याणकर राजस प्रयासके लिये। तामस वैराग्य मनुष्यके लिये किसी उच्चतर लक्ष्य, महत्तर प्रयास और बलवत्तर विजयका रास्ता खोले बिना ही—क्योकि अभीतक ऐसी योग्यता उसमे नही आयी है—उसकी उपर्युक्त शक्तियोको क्षीण कर देता है। परतु जो जीव अधिकारी है उनके लिये यह तामसी विरक्ति आध्यात्मिक हेतुको सिद्ध करनेवाली यो हो सकती है कि इससे उनकी राजसिक आसक्ति तथा निम्न स्तरके जीवन-मे उनका घुले-मिले रहना, जो उनके सत्त्वगुणके जागरणमे बाधक होकर उनकी उच्चतर संभावनाको अटकाते है, नष्ट हो जाते है। तब इस प्रकार उनके जीवनमें जो शून्यावस्था आती है उसमें वे

आश्रय ढूढते हुए भगवान्‌की इस पुकारको सुन पाते है कि "अरे जीव ! तू जो अपने-आपको इस अनित्य असुखी जगत्‌मे पाता है, तो मेरी ओर मुह कर और मुझमे आनद ले (अनित्यमसुखं लोक-मिमं प्राप्य भजस्व माम्) ।"

फिर भी इस क्रियामे समता केवल इसी बातमे है कि यह जगत् जिन-जिन चीजोसे बना है उन सभीसे हम समान भावसे भागते है और इससे जगत्‌के प्रति उपेक्षा और अलगावका भाव हो जाता है, इसमे वह शक्ति नही मिलती जिसके द्वारा हम जगत्‌के सुखद या दु:खद सब स्पर्शोको समभावसे, बिना किसी रागद्वेषके ग्रहण कर सके, जो गीताकी साधनाका एक मुख्य तत्त्व है। इसलिये यदि हम तामसिक निवृत्तिसे ही आरभ करे—यद्यपि इसकी कोई खास आवश्यकता नही—तो भी इसका उपयोग किसी महान् प्रयास-मे प्रवृत्त होनेके लिये एक आरभिक प्रेरणाके तौरपर ही किया जा सकता है, किसी स्थायी नैराश्यके तौरपर नही। साधना तो यथार्थमें तब आरभ होती है जब जिन चीजोसे पहले हम केवल भागना चाहते थे उन्हे अब अपने काबूमे करनेका प्रयत्न करते है। इस प्रयत्नमे एक प्रकारकी राजसिक समताकी सभावना होती है। आत्म-वशित्व, आत्मसयमको प्राप्त करनेमे प्राणावेग और दुर्बलतासे ऊपर उठनेमे बलवान्-स्वभाव व्यक्तिको जो गर्व होता है वह इस राजसिक समताका निकृष्ट रूप है, किंतु स्टोइक सप्र-दायवाले इसीको पकड़कर ही आगे बढते है और इसीको वे निम्न प्रकृतिकी समस्त दुर्बलताओंकी अधीनतासे जीवको सर्वथा मुक्त कर देनेका प्रधान साधन बनाते है। जिस प्रकार तामसिक निवृत्ति प्रकृतिके जुगुप्सा-तत्त्वका, अर्थात् दु:खसे आत्म-संरक्षण-का फैलाव है उसी प्रकार ऊर्ध्वमुखी राजसिक प्रवृत्ति सघर्ष और प्रयासको स्वीकार करनेवाला तथा प्रभुत्व और विजयको प्राप्त करनेके लिये जीवनकी अतर्निहित प्रेरणाको स्वीकार करनेवाला प्रकृतिका जो दूसरा तत्त्व है उसका फैलाव है; पर यह प्रवृत्ति युद्ध-

को उस क्षेत्रमे ले जाती है जहा ही पूर्ण विजय प्राप्त हो सकती है। कुछ छितरे हुए बाह्य उद्देश्यो और क्षणिक सफलताओके लिये लडने-झगडनेके बजाय यह साधना साधकको आध्यात्मिक युद्धके द्वारा और आतरिक विजयके द्वारा प्रकृति और स्वय जगत्को ही जय करनेके रास्तेपर ले आती है। तामसिक निवृत्ति जगत्के सुख और दु ख, दोनोसे किनारा कसती तथा उनसे भागना चाहती है और राजसिक साधना उन्हे सहने, उन्हे काबूमे करने और उनके ऊपर उठनेका रास्ता निकालती है। स्टोइक सप्रदायकी साधना काम और प्राणावेगको पहलवानकी तरह अपनी दोनो बाहुओमे दबाकर चूर-चूर कर डालती है जैसे धृतराष्ट्रने लोहेके भीमको चूर-चूर कर डाला था। यह सुखद और दु खद सभी चीजोके धक्कोको सहती, प्रकृतिके भौतिक और मानसिक असरके कारणोको बरदाश्त करती और उनके परिणामोको चकनाचूर कर डालती है। इसकी पूर्णता तब समझनी चाहिये जब जीव बिना दुखी और अनुरक्त हुए, बिना उत्तेजित या व्याकुल हुए सब स्पर्शोको सह सके। इस साधनाका हेतु ही मनुष्यको अपनी प्रकृतिका विजेता और राजा बनाना है।

गीता अर्जुनके क्षात्र स्वभावका आवाहन करके इसी वीरोचित साधनासे अपना उपदेश आरभ करती है। गीता अर्जुनका आवाहन करती है कि तुम इस महाशत्रु कामपर टूट पडो और इसे मार डालो। गीताने समत्वका जो पहला वर्णन किया है वह स्टोइक दार्शनिकके वर्णनके जैसा ही है। "दु खोके बीच जिसका मन उद्विग्न नही होता, सुखोके बीच जिसे उनकी कोई इच्छा नही होती, राग भय क्रोध जिससे निकल गये वही स्थितधी मुनि है। जो, चाहे उसे शुभ प्राप्त हो या अशुभ, सभी विषयोमे स्नेहशून्य रहता है, न उनका हर्षपूर्ण स्वागत करता न उनसे द्वेष करता है उसीकी बुद्धि ज्ञानमे स्थित है।" गीताने एक स्थूल दृष्टात देकर समझाया कि यदि कोई मनुष्य आहार न करे तो यह इद्रिय-विषय उसपर

असर न करेगा, पर इंद्रियमे उसे जो ‘रस’ है वह तो रहेगा ही; आत्माकी परम स्थिति तो तब प्राप्त होती है जब इंद्रियसे विषय ग्रहण करते हुए भी वह इद्रियभोगकी लालसासे मुक्त रह सके, विषयोके मोहको छोड सके और आस्वादनके सुखका त्याग कर सके। रागद्वेषसे मुक्त, आत्मवशीकृत ज्ञानेद्रियोके द्वारा विषयोके ऊपर विचरण करते हुए (विषयान् इन्द्रियैश्चरन्) ही कोई आत्मा और स्वभावकी उदार और मधुर पवित्रताको प्राप्त कर सकता है जिसमे कामक्रोध और शोकमोहके लिये कोई स्थान नही है। सब कामनाए आत्मामे वैसे ही प्रवेश करेंगी जैसे नदी-नद समुद्रमे प्रवेश करते है और तब भी आत्माको रहना होगा अचल-प्रतिष्ठ, परिपूरित पर अक्षुब्ध, इस प्रकार अतमे सब कामनाओका त्याग किया जा सकता है। इस बातपर बार-बार जोर दिया गया है कि कामक्रोधभयमोहसे छुटकारा पाना मुक्त पद लाभ करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है और इसलिये हमे इनके धक्कोको सहना मीखना होगा और यह कार्य बिना इन धक्कोके कारणोंका सामना किये नही हो सकता। "जो कोई यहा इस शरीरमे काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सह सकता है वही योगी है, वही सुखी है।" तितिक्षा, अर्थात् सहनेका संकल्प और शक्ति इसका साधन है। "शीत और उष्ण, सुख और दु.ख देनेवाले जो मात्रा-स्पर्श है वे अनित्य है, आते और जाते रहते है, इन्हे सहना सीख लो। जिस पुरुषको ये व्यथित या दु.खी नही करते, सुख-दु:खमे जो सम और धीर रहता है वही अमृतत्व पानेके योग्य होता है।" जिस पुरुषका आत्मा समत्वको प्राप्त हो गया है उसे दु:ख सहना होता है वह दु:खका तिरस्कार नही कर सकता, उसे सुख ग्रहण करना होता है वह सुखसे हर्षित नही हो सकता। शारीरिक यंत्रणाओंको भी सहिष्णुताके द्वारा जीतना होता है और यह भी स्टोइक साधनाका एक अंग है। जरा, मृत्यु, दु:ख, यंत्रणा, इनसे भागनेका काम नहीं, प्रत्युत इन्हें स्वीकार कर उदासीनताके द्वारा इन्हें जीतना

होता है* । प्रकृतिके निम्नस्तरीण छद्मरूपोसे भीत होकर भागना नही बल्कि ऐसी प्रकृतिका सामना करके उसे जीतना ही पुरुषसिंह-की (पुरुषर्षभ) तेजस्विनी प्रकृतिका सच्चा सहज भाव है। ऐसे पुरुषसे विवश होकर प्रकृति अपना छद्मवेश उतार देती और उसे उसका असली आत्मस्वरूप दिखा देती है जिस स्वरूपमे वह प्रकृति-का दास नही बल्कि उसका स्वराट्, सम्राट् है।

परतु गीता इस स्टोइक साधनाको, इस वीरधर्मको उसी शर्त्त-पर स्वीकार करती है जिस शर्तपर वह तामसिक निवृत्तिको स्वीकार करती है, और वह यह कि इसके ऊपर ज्ञानकी सात्विक दृष्टि, इसके मूलमे आत्मसाक्षात्कारका लक्ष्य और इसकी चालमे दिव्य स्वभाव-की ओर ऊर्ध्वगति होनी चाहिये। स्टोइक सप्रदायकी जिस साधनाके द्वारा मानव-स्वभावके सामान्य स्नेहभाव कुचल डाले जाते है वह जीवनके प्रति तामसिक क्लाति, निष्फल नैराश्य और ऊजड जडत्वकी अपेक्षा कम खतरनाक है सही, क्योकि यह जीवके पौरुष और आत्म-वशित्वको बढानेवाली है, पर फिर भी यह अमिश्र शुभ नही है कारण इससे सच्ची आध्यात्मिक मुक्ति नही मिलती, बल्कि इससे हृदयहीनता और निष्ठुर ऐकातिकता आ सकती है। गीताकी साधनामे स्टोइक सप्रदायकी समताका जो समर्थन मिलता है वह इसीलिये है कि यह साधना क्षर मानव-प्राणीको मुक्त अक्षर पुरुष का साक्षात्कार करनेमे (पर दृष्ट्वा) और इस नवीन आत्म-चेतनाको प्राप्त करनेमे (एषा ब्राह्मीस्थिति) साथ और सहायता दे सकती है। "बुद्धिके भी परे जो परमात्मा है उनको बुद्धिके द्वारा जानकर आत्माको आत्म-शक्तिसे ही स्थिर और निश्चल करो और इस दुर्द्धर्ष शत्रु कामको मार डालो।" तामसिक विरक्ति

*गीताका कथन है, "धीरस्तत्र न मुह्यति" अर्थात् धीर बुद्धि-मान् पुरुष उनसे घबराता नही। परंतु फिर भी इन्हे जो स्वीकार करता है वह इन्हे जीतनेके लिये ही करता है—"जरामरणमोक्षाय।"

और युद्ध करने और विजय लाभ करनेवाली राजसिक प्रवृत्ति दोनो ही अच्छी हो सकती है यदि उनका लक्ष्य सत्त्वगुणके द्वारा आत्म-ज्ञानको प्राप्त करना हो, क्योकि निवृत्ति और सघर्षात्मक प्रवृत्ति दोनोकी सार्थकता उसीसे है।

विशुद्ध दार्शनिक, मनीषि, जन्म-ज्ञानी पुरुष अपने आचार-विचारके लिये सत्वगुणको केवल अपना सबसे बढिया पैमाना नही मानता बल्कि आत्म-वशित्वके साधनमे आरभसे ही उसीसे काम लेता है। उसका आरभ ही सात्विक समतामे होता है। वह भी जडप्राकृतिक और बाह्य जगत्की क्षणभगुरताको देखता-समझता है और यह जानता है कि यह जगत् हमारी कामनाओको पूर्ण नही कर सकता न यह हमे सच्चा सुख ही दे सकता है, परन्तु इसमे उसमें कोई शोक, भय या नैराश्य नही उत्पन्न होता। वह स्थिर शांत बुद्धिसे सब कुछ देख लेता और बिना किसी द्वेष या घबराहटके अपना मार्ग निश्चित कर लेता है। "विषयेंद्रियसयोगसे उत्पन्न होनेवाले ये भोग दुःखके ही कारण है, अत इनका आदि है, अत है; इसलिये ज्ञानी, जाग्रत बुद्धिवाला पुरुष (बुध) इनमे रमण नही करता।" "उसका आत्मा इन बाह्य स्पर्शोमे आसक्त नही होता, वह अपना सुख अपने अंदर ही पाता है।" वह यह देख पाता है कि हम ही तो अपने शत्रु है और हम ही तो अपने मित्र और इसलिये वह सदा सावधान रहता और अपने-आपको काम-क्रोधके हवाले नही करता (नात्मानमवमादयेत्), बल्कि अपनी अत शक्तिका प्रयोग कर अपने-आपको इनके कैदखानेमे एकदम छुडा लेता है (उद्धरेदात्मनात्मान), क्योकि जिस किसीने अपनी निम्न प्रकृतिको जीत लिया है वह अपने उच्चतर स्वभावको अपने सर्वोत्तम सखा और साथीके रूपमे पाता है। वह ज्ञानसे तृप्त हो जाता है, अपनी इद्रियोका स्वामी हो जाता है, सात्विक समत्वके द्वारा योगी हो जाता है—क्योकि समत्व ही तो योग है (समत्व योग उच्यते),—उसकी दृष्टिमे मिट्टी पत्थर और सोना सब बराबर है;

सरदी-गरमीमे, सुख-दुःखमे, मान-अपमानमे वह एकसा ही शात और सम रहता है। शत्रु, मित्र, तटस्थ और उदासीन सबके लिये वह आत्मभावमे सम होता है, क्योकि वह यह देखता है कि ये सबध अनित्य है जो जीवनकी सदा बदलनेवाली परिस्थिति-मे उत्पन्न होते है। विद्या, शुचिता और सदाचारकी बुनियादपर किये जानेवाले श्रेष्ठ-कनिष्ठ भेद भी उसे नही भरमा सकते। वह साधु-असाधु, सदाचारपूत विद्वान्, सुसस्कृत ब्राह्मण और पतित चाडाल, अर्थात् मनुष्यमात्रके लिये सम, आत्मभावयुत होता है। गीतामे सात्विक समताका जो वर्णन है वह यही है और ज्ञानी मुनि-की जिस शात बौद्धिक समतामे यह जगत् परिचित है उसका सार इसमे अच्छी तरहसे आ गया है।

तब इस समतामे और गीता जिस उदारतर समताका उपदेश करती है उसमे, क्या भेद है? वह भेद यह है कि दार्शनिकोकी समताका आधार है बौद्धिक विवेक और गीताकी समताका आधार है आध्यात्मिक वेदातिक अद्वैत ज्ञान। दार्शनिक अपनी विवेक-वती बुद्धिके बलसे अपने समत्वको बनाये रहते है परतु यह स्वतः एक कमजोर नींव है। कारण, यद्यपि सतत सावधान रहके और मनको अभ्यस्त करके वे अपने-आपपर एक तरहका काबू रखते है, पर वास्तवमे वे अपनी निम्न प्रकृतिसे मुक्त नही होते, और यह प्रकृति कई तरहसे अपनी सत्ता दिखाती रहती है और अपने त्यागे जाने और निगृहीत किये जानेका चाहे जब भयानक प्रतिशोध ले सकती है। कारण निम्न प्रकृतिका खेल सदा ही त्रिगुणात्मक है और रजोगुण तथा तमोगुण सात्विक मनुष्यपर हमला करनेके लिये सदा घात लगाये रहते है। "सिद्धिके साधनमे यत्नशील बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी हठी इद्रिया जबरदस्ती खीच ले जाती है।" निम्न प्रकृतिसे पूर्ण सरक्षण तो सत्वगुणसे किसी बडी चीजका, विवेक-बुद्धिसे किसी बड़ी चीजका, अर्थात्—आत्माका—दार्शनिकोके बुद्धि-पुरुषका नही बल्कि दिव्य ज्ञानीके त्रिगुणातीत आध्यात्मिक

आत्माका—आश्रय लेनेसे ही प्राप्त होता है। सबकी समाप्ति उसी आध्यात्मिक परा प्रकृतिमे जन्म लेकर करनी होगी।

दार्शनिकोकी समता स्टोइक सप्रदायवालो-कीसी, जगत्से भागनेवाले यती-वैरागी-सन्यासियोकीसी होती है, जो मनुष्योंसे अलग, उनसे बिलकुल दूर एक आतरिक निर्जन स्वातत्र्य है; पर जिस मनुष्यका दिव्य जन्म हुआ है उसने भगवान्को केवल अपने ही अदर नहीं पाया है, बल्कि सब चराचर जीवोमें भी उनको उपलब्ध किया है। उसने सबके साथ अपनी एकताका अनुभव किया है और इसलिये उसकी समता सबके साथ सहानुभूति और एकतासे परिपूर्ण होती है। वह सबको अपना स्वरूपसा ही देखता है और अपने अकेले की मुक्तिका इच्छुक नही होता। वह दूसरोके सुख-दुःखोका बोझतक अपने ऊपर उठा लेता है और स्वय न उससे प्रभावित होता है न उसके अधीन। गीताने बार-बार इस बातको दुहराया है कि सिद्ध ज्ञानी सदा अपने उदार समत्वमें स्थिर रहता हुआ सब जीवोके कल्याण-साधनमे लगा रहता है "सर्वभूतहिते रताः।" सिद्ध योगी आध्यात्मिक एकातके किसी दिव्य भव्य स्तभपर आत्माके ध्यानमे मग्न होकर नही बैठा रहता, बल्कि वह जगत्के कल्याणके लिये, जगन्निवास भगवान्के लिये बहुविध विश्वव्यापी कर्मोका कर्त्ता होता है। क्योकि वह प्रेमी और उपासक भक्त है, ज्ञानी है और योगी भी—ऐसा प्रेमी जो भगवान्को जहा कही वे मिलते वही उनसे प्रेम करता है और भगवान् जिसको हर जगह मिलते है; और जिसको वह प्यार करता है उसकी सेवा करनेसे वह विमुख नही होता, न जो कुछ कर्म उसके द्वारा होता है वह उसे भगवान्के साथ एकत्वके आनंदसे अलग ही करता है, क्योकि उसके सारे कर्म उसके अदर स्थित उन्ही 'एक'से निकलते और सबके अंदर रहनेवाले उन्ही 'एक'की ओर प्रवाहित होते है। गीताका समत्व इस प्रकार उदार समन्वयात्मक समत्व है जो सब कुछको भागवत सत्ता और भागवत प्रकृतिकी पूर्णतामे ऊपर उठा देता है।

समत्व और ज्ञान

योग और ज्ञान, गीताकी शिक्षाके पहले भागमे, जीवके वे दो पंख है जिनके सहारे वह ऊपर उठता है। योगसे अभिप्रेत है निष्काम होकर, समस्त पदार्थों और मनुष्योके प्रति आत्म-समत्व रखकर पुरुषोत्तमके प्रीत्यर्थ यज्ञरूप किये गये दिव्य कर्मोके द्वारा भगवान्से एकता, और ज्ञानसे अभिप्रेत है वह ज्ञान जिसपर यह निष्कामता, यह समता, यह यज्ञ-शक्ति प्रतिष्ठित है। दोनो ही पंख निश्चय ही उडानमे एक दूसरेकी सहायता करते है, दोनो एक साथ क्रिया करते रहते है, फिर भी इस क्रियामे बारी-बारीसे एक दूसरेकी सहायता करनेका सूक्ष्म हिसाब रहता है, वैसे ही जैसे मनुष्यकी दोनो आखे चूकि बारी-बारीसे देखती है इसीलिये एक साथ देखती है, इसी प्रकार योग और ज्ञान अपने सार तत्त्वके परस्पर आदान-प्रदानके द्वारा एक दूसरेको सवर्द्धित करते रहते है। ज्यो-ज्यो कर्म अधिकाधिक निष्काम, समबुद्धियुक्त और यज्ञभावापन्न होता जाता है त्यो-त्यो जीव अपने कर्मकी निष्काम और यज्ञात्मक समतामे अधिकाधिक दृढ होता जाता है। इसलिये गीताने कहा कि किसी द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। "चाहे तू पाप-कर्मियोमे सबसे बड़ा पाप-कर्मी भी क्यो न हो, ज्ञानकी नौकामें बैठकर पापके कुटिल समुद्रको पार कर जायगा। . इस जगत्में ज्ञानके समान पवित्र और कुछ भी नही है।" ज्ञानसे काम और उसकी सबसे पहली सतान पापका ध्वस होता है। मुक्त पुरुष कर्मोको यज्ञरूपसे इसीलिये कर सकता है कि उसके मन, हृदय और आत्मा आत्मज्ञानमे दृढ़प्रतिष्ठ होनेके कारण वह आसक्तिसे मुक्त होता है (गतसगस्य...ज्ञानावस्थित चेतस:)। उसके सारे कर्म होनेके साथ ही सर्वथा लय हो जाते है, यह कहा जा सकता है

कि ब्रह्मकी सत्तामे विलीन हो जाते है (प्रविलीयते)। बाह्यतः जो कर्त्ता देख पड़ता है उसके अतरात्मापर उन कर्मोका कोई प्रतिगामी परिणाम नही होता। वे कर्म स्वयं भगवान् ही अपनी प्रकृतिके द्वारा करते है, वे अब मानव-उपकरणके अपने नही रह जाते। कर्म स्वय ही तब ब्रह्मकी सत्ताके स्वभाव और स्वरूपकी एक शक्ति बन जाता है।

गीताके इस वचनका कि, "सर्व कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" यही अभिप्राय है—सारा कर्म ज्ञानमे अपनी पूर्णता, परिणति और परिसमाप्तिको प्राप्त होता है। "प्रज्वलित अग्नि जिस तरह ईधनको जलाकर राख कर देती है उसी तरह ज्ञानकी अग्नि सब कर्मोको भस्म कर देती है।" इसका यह अभिप्राय जरा भी नही कि जब पूर्ण ज्ञान होता है तब कर्म बद हो जाते है। इसका वास्तविक अभिप्राय गीताके इस श्लोकसे स्पष्ट होता है कि, "योगसन्यस्त कर्माण ज्ञान सछिन्न सशयम्। आत्मवन्त न कर्माणि निबध्नन्ति धनजय॥" अर्थात् जिसने ज्ञानके द्वारा अपने सब सशयको काट डाला और योगके द्वारा कर्मोका सन्यास किया वह आत्मवान् पुरुष अपने कर्मोसे नही बधता, फिर गीताका यह वचन कि, "सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते" इसी अभिप्रायको व्यक्त करता है—जिसका आत्मा सब भूतोका आत्मा हो गया है वह कर्म करता है पर अपने कर्मोमे लिप्त नही होता, उनमे फसता नही, आत्माको बधनमे डालनेवाली कोई प्रतिक्रिया वह उनसे ग्रहण नही करता। इसीलिये तो गीताने कहा है कि कर्मोके भौतिक सन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, कारण जहा सन्यास देहधारियोंके लिये कठिन है—क्योकि जबतक देह है तबतक उन्हें कर्म करना ही पड़ेगा—वहा कर्मयोग अभीष्टसिद्धिके लिये सर्वथा पर्याप्त है और यह जीवको ब्रह्मके पास शीघ्रता और सरलतासे ले जाता है। यह कर्मयोग, पहले कहा जा चुका है कि, संपूर्ण कर्मका भगवान्को अर्पण करना है, जिसकी परिसमाप्ति ब्रह्मके प्रति कर्मोके एक

ऐसे अर्पणमें होती है जो आतरिक होता है वाह्य नही, जो आध्यात्मिक होता है भौतिक नही (ब्रह्मण्याध्याय मयि सन्यस्य)। कर्मोंका जब इस प्रकार ब्रह्ममे आधान हो जाता है तब उपकरणमेसे कर्त्ताका भाव जाता रहता है, वह कर्म करता हुआ भी कुछ नही करता, क्योकि उसने केवल कर्मफलोका ही अर्पण नही किया है, बल्कि स्वय कर्म और उसको करना भी भगवान्को दे दिया है। तब, भगवान् उसके कर्मोंके भारको अपने ऊपर ले लेते है, भगवान् स्वय कर्त्ता, कर्म और फल बन जाते है।

गीता जिस ज्ञानकी बात कहती है वह मनकी कोई बौद्धिक क्रिया नही है, गीताका ज्ञान है सत्यस्वरूप दिव्य सूर्यके प्रकाशके उद्भासनके द्वारा सत्ताकी उच्चतम अवस्थामे सवर्द्धन। यह सत्य, यह सूर्य वही है जो हमारे अज्ञानके अधकारके भीतर छिपा हुआ है और ऋग्वेदमे जिसका यो वर्णन मिलता है, "तत्सत्य सूर्य तमसि क्षियन्तम्"। यह ज्ञान हमे अक्षर ब्रह्मके स्वरूपको यो बतलाता है कि अक्षर ब्रह्म इस द्वद्वमय विक्षुब्ध निम्न प्रकृतिके ऊपर आत्माके व्योममे विराजमान है, निम्न प्रकृतिके पाप-पुण्य उसे स्पर्श नही करते, हमारे धर्म-अधर्मकी भावनाको वह स्वीकार नही करता, इनके सुख और दुःख उसे स्पर्श नही करते, हमारी सफलता और विफलताके हर्ष और शोकके प्रति वह उदासीन रहता है, वह सबका स्वामी है, प्रभु है, विभु है, स्थिर है, समर्थ है, सबके प्रति सम है, प्रकृतिका मूल है, वह हमारे कर्मोंका प्रत्यक्ष कर्त्ता नही बल्कि प्रकृति और उसके कर्मोंका साक्षी है, न वह हमपर कर्त्ता होनेके भ्रमको ही आरोपित करता है क्योकि यह भ्रम तो निम्न प्रकृतिके अज्ञानका परिणाम है। परतु इस मुक्ति, प्रभुता और विशुद्धताको हम लोग नही देख पाते; क्योकि हम लोग प्राकृतिक अज्ञानसे विमूढ हुए रहते है और यह अज्ञान हमारे अदर कूटस्थ ब्रह्मका जो सनातन आत्मज्ञान है उसको हमसे छिपाये रहता है। पर जो इस ज्ञानका लगातार अनुसधान करते है उन्हे इसकी प्राप्ति

होती है और यह ज्ञान उनके प्राकृतिक अज्ञानको दूर कर देता है; यह बहुत कालसे छिपे हुए सूर्यकी तरह उद्भासित होता है और हमारी दृष्टिके सामने उस परम आत्मसत्ताको प्रकाशित कर देता है जो इस निम्न जीवनके द्वद्वके परे है (आदित्यवत् प्रकाशयति तत्परम्) । दीर्घ कालतक जीजानसे साधना करनेसे, अपनी समग्र सचेतन सत्ताको उसी आत्मतत्त्वकी ओर लगानेसे, उसीको अपना एकमात्र लक्ष्य बनानेसे, उसीको अपनी विवेक-बुद्धिका विषय बनानेसे और इस प्रकार उसको न केवल अपने ही अदर बल्कि अखिल जगत्मे देखनेसे, हम उसके साथ एक-बुद्धि और एक-आत्मा हो जाते है (तद्बुद्धय. तदात्मान.), हमारी अध सत्ताके कल्मष ज्ञानके जलसे* धुल जाते है (ज्ञान निर्धूत कल्मषा) ।

इसका फल, गीता कहती है कि, सब पदार्थो और सब प्राणियोके प्रति पूर्ण समत्वकी सिद्धि है, और ऐसा समत्व सिद्ध होनेपर ही हम अपने कर्मोका 'ब्रह्ममे' पूर्ण रूपसे 'आधान' कर सकते है। कारण ब्रह्म सम है (सम ब्रह्म) और जब यह पूर्ण समता हममे हो जाती है (साम्ये स्थित मन.) तभी हम "विद्याविनयमपन्न ब्राह्मण:, गौ, हाथी, श्वान और चाडालको समदृष्टिसे देखते हुए" और सबको एक ब्रह्म जानते हुए और उस एकत्वमे स्थित रहते हुए ब्रह्मके समान ही अपने कर्मोके प्रवाहको, आसक्ति, पाप या बधनके भयसे सर्वथा मुक्त होकर, प्रकृतिसे निकलता हुआ स्वच्छद रूपसे देख सकते है। तब पाप या कलक नही लग सकता; क्योकि हमने उस सृष्टिको जीत लिया है (तैर्जित: सर्ग:) जो काम ओर उसके कर्मो और उनकी प्रतिक्रियाओसे भरी हुई है और जो

*ऋग्वेदमे सत्यस्रोतकी इन धाराओका वर्णन है। ये सिद्ध ज्ञानकी धाराए है, दिव्य सूर्यालोकसे परिपूर्ण है,—"ऋतस्य धारा:, आपोविचेतस:, स्वर्वतिराप: ।" यहां इनका प्रयोग आलकारिक अर्थमे हुआ है, वहा (वेदोमे) प्रत्यक्ष प्रतीकके रूपमे ।

अज्ञानकी है और चूकि अब हम दिव्य परा प्रकृतिमे रहने लगते है इसलिये हमारे कर्म प्रमादरहित, दोषरहित होते है, क्योकि प्रमाद और दोष तो अज्ञानजनित विषमताओंकी उपज है। सम ब्रह्म-मे कोई दोष नही (निर्दोष हि सम ब्रह्म), वह शुभ-अशुभकी द्वद्व-मय भ्रातिके परे है, और ब्रह्ममे निवास करते हुए हम भी शुभ-अशुभके ऊपर उठ जाते है, और उस विशुद्ध स्थितिमे रहते हुए हम निर्दोष रूपसे कर्म करते है और इन कर्मोको करनेमे हमारा एकमात्र हेतु होता है प्राणिमात्रका समान रूपमे हित साधन करना (क्षीण कल्मषा सर्वभूत हिते रता)। हमारी अज्ञानावस्था-मे भी हमारे कर्मोके मूल हमारे हृद्देशस्थित ईश्वर ही है, पर उन-की यह क्रिया उनकी मायाके द्वारा, हमारी निम्न प्रकृतिके अह-कारके द्वारा होती है, और यह निम्न प्रकृति ही हमारे कर्मोके जटिल जालको बुनकर तैयार करती है और बादमे इस जालके फैलावकी जो प्रतिक्रियाए होती है उनको हमारे अहकारपर ला पटकती है, जिसका आतरिक असर तो यह होता है कि हममे पाप-पुण्यका भाव आ जाता है ओर बाह्य असर यह कि हम सुख-दुःख और सौभाग्य-दुर्भाग्य बोध करने लगते है, और यही है कर्म-बधनकी जबरदस्त साकल। जब ज्ञानके द्वारा इससे मुक्ति मिलती है तब भगवान्, जो अब हृदयमे छिपे हुए नही बल्कि हमारे परम आत्माके रूपमे प्रकट हो गये है, हमारे कर्मोको अपने हाथोमे ले लेते और जगत्के उद्धार-कार्यमे हमारा निर्दोष यत्रवत् (निमित्त मात्रम्) उपयोग करते है। ज्ञान और समत्वमे ऐसी ही घनिष्ट एकता है, यहां, बुद्धिके क्षेत्रमे, ज्ञान प्रतिविम्बित होता है स्वभावमे समत्वके रूपमे और ऊपर, चेतनाके उच्चतर क्षेत्रमें, ज्ञान सत्ताका प्रकाश हो जाता है ओर प्रकृति ऐसी प्रतीत होने लगती है मानो समत्वसे ही बनी हो।

'ज्ञान' शब्द भारतीय दर्शनशास्त्रों और योगशास्त्रोंमें सर्वत्र ही इसी परम आत्मज्ञानके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। ज्ञान वह ज्योति

है जिसके द्वारा हम अपनी सत्य सत्तामे संवर्द्धित होते है, वह चीज नही जिससे हमारी जानकारी बढती और हमारी बौद्धिक सपत्ति सचित होती है; यह कोई जडवैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक या नैतिक या रससबधी अथवा जागतिक और व्यावहारिक ज्ञान नही है। ये सब भी निस्सदेह हमारी उन्नतिमे मदद करते है, पर ये हमारे मात्र भूतभावके विकासके सहायक है, हमारी आतरिक सत्ताके विकासके नही। यौगिक ज्ञानमे इनका समावेश तब किया जा सकता है जब हम इनसे परमात्मा, आत्मा, भगवान्‌को जाननेके काममे कोई मदद ले, जडवैज्ञानिक विद्याको हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते है जब हम उसकी प्रक्रियाओ और घटनाओके पर्देको भेदकर उस एकमात्र सद्वस्तुको देख ले जिससे सब बाते स्पष्ट हो जाती है, मनोवैज्ञानिक विद्याको यौगिक ज्ञान तब बनाया जा सकता है जब हम उससे अपने-आपको जानने और निम्न-उच्चका विवेक करनेका काम ले सके, जिससे कि निम्न अवस्थाको हम छोड़ सके और उच्च अवस्थामे सवर्द्धित हो सके; दार्शनिक विद्याको हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते है जब हम इससे जीवनके मूल तत्त्वोको जाननेके लिये एक ज्योतिका काम ले, ताकि उसे हम पा ले और उसीमे.रहे जो सनातन है, शाश्वत है; नैतिक विद्याको हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते है जब हम इससे पाप और पुण्यके भेदको जान जाय, पापको दूर कर और पुण्यके ऊपर उठकर दिव्य प्रकृतिकी निर्मलतामे पहुच जाय, रसविद्याको हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते है जब हम इसके द्वारा भगवान्‌के सौंदर्यको पा ले, जागतिक और व्यावहारिक विद्याको हम यौगिक तब बना सकते है जब हम उसके भीतरसे यह देख पावे कि ईश्वर अपनी सृष्टिके साथ कैसा व्यवहार करते है और फिर उस ज्ञानका उपयोग मनुष्यमे रहनेवाले भगवान्‌की सेवाके लिये करें। परंतु तब भी ये केवल सच्चे ज्ञानके सहायक भर ही होते है; वास्तविक ज्ञान तो वही है जो मनके लिये अगोचर है, मन जिसका आभासमात्र ही

पाता है; सच्चा ज्ञान तो आत्मामे ही होता है।

यह ज्ञान कैसे प्राप्त होता है इसका वर्णन करते हुए गीता कहती है कि पहले इस ज्ञानकी दीक्षा लेनी होती है तत्त्वदर्शी ज्ञानियोसे, उनसे नही जो तत्त्वज्ञानको केवल बुद्धिमे जानते है बल्कि उन ज्ञानियोसे जिन्होने इसके मूल सत्यको प्रत्यक्ष देखा है (ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन), परतु वास्तविक ज्ञान तो हमे हमारे अदरसे मिलता है, "योगके द्वारा संसिद्धिको प्राप्त मनुष्य उसको अपने-आप ही यथासमय अपने आत्मामे पाता है," अर्थात् यह ज्ञान उस मनुष्यमे सवर्द्धित होता रहता है और ज्यो-ज्यो वह मनुष्य निष्कामता, समता और भगवद्-भक्तिमे बढता जाता है त्यो-त्यो वह ज्ञानमे भी बढता जाता है। परतु यह बात केवल परम ज्ञानके सबधमे ही पूर्ण रूपसे कही जा सकती है, नही तो जो ज्ञान मनुष्य अपनी बुद्धिसे बटोरता है उसे तो वह इंद्रियो और तर्कशक्तिके द्वारा परिश्रम करके बाहरसे ही बटोरता है। परम ज्ञान स्वत.स्थित, सहजस्फुरित, स्वानुभूत, स्व-प्रकाश होता है, उसकी प्राप्तिके लिये हमे सयतेद्रिय होना होता है जिससे कि हमारी मन-बुद्धि और इद्रियोके मोहपाश हमे बाध न सके, बल्कि हमारी मन-बुद्धि और इद्रिया ही उस परम ज्ञानके निर्मल दर्पण बन जाय, जिसके अदर सब कुछ स्थित है उस परम सद्वस्तुके सत्यमे अपनी समग्र सचेतन सत्ताको हमे प्रतिष्ठित करना होगा (तत्परः), ताकि वह अपनी ज्योतिर्मय आत्म-सत्ताको हममे प्रकट कर सके।

अंतमे इस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये हमारे अदर एक ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये जिसे कोई भी बौद्धिक सदेह विचलित न कर सके (श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्), "जिस अज्ञानी पुरुषको श्रद्धा नही है, जो सशयात्मा है वह नाशको प्राप्त होता है; सशयात्माके लिये न तो यह लोक है न परलोक, न सुख ही।" वास्तवमे यह बिलकुल सच है कि श्रद्धा-विश्वासके बिना इस जगत्में या परलोककी प्राप्तिमें कोई भी निश्चित स्थिति नही प्राप्त की जा सकती; और जब

कोई मनुष्य किसी सुनिश्चित आधार और वास्तविक सहारेको पकड़ पाता है तभी वह किसी परिमाणमे लौकिक या पारलौकिक सफलता, संतोष और सुखको प्राप्त कर सकता है; जो मन केवल संशयग्रस्त है वह अपने-आपको शून्यमे खो देता है। परंतु फिर भी निम्नतर ज्ञानमें सदेह और अविश्वासका एक तात्कालिक उपयोग है; किंतु उच्चतर ज्ञानमे ये रास्तेके रोड़े है, क्योंकि वहाका सारा रहस्य बौद्धिक भूमिकाकी तरह सत्य और भ्रांतिको नापना-जोखना नही है, वहा तो स्वतःप्रकाशमान सत्यकी सतत प्रगतिशील अनुभूति होती रहती है और इसलिये सदेह और अविश्वासका वहां कोई स्थान नही। बौद्धिक ज्ञानमे सदा ही असत्य अथवा अपूर्णत्वका मिश्रण रहता है जिसे हटानेके लिये स्वयं सत्यकी सशयात्मक छान-बीन करनी पडती है; परतु उच्चतर ज्ञानमे असत्य नही घुस सकता और इस या उस मतपर आग्रह करके बुद्धि जो भ्रम ले आती है वह केवल तर्कके द्वारा ही दूर नही होता, पर वहाकी अनुभूतिमे लगे रहनेसे वह आप-से-आप दूर हो जाता है। जो ज्ञान प्राप्त हो चुका है उसमे जो कुछ अपूर्णता रह गयी हो उसे अवश्य ही दूर करना होगा, किंतु यह काम जो कुछ अनुभूति हो चुकी है उसके मूलपर सदेह करके नही होगा, बल्कि यह होगा अपने जीवनको आत्माकी अधिक गहराई, ऊँचाई और विशालतामे ले जाकर अबतककी प्राप्त अनुभूतिसे आगेकी और भी पूर्णतर अनुभूतिकी ओर बढ़नेके द्वारा। और जो कुछ अभी अनुभूत नही है उसके लिये श्रद्धाके हथियारसे भूमि तैयार करनी होगी, तर्क और शकाका यहा काम नही, क्योकि यह वह सत्य है जिसे बुद्धि नही दे सकती और तार्किक और यौक्तिक मन जिन विचारोंमे उलझा रहता है बहुधा उनसे यह विपरीत होता है। इस सत्यको प्रमाणके द्वारा सिद्ध करनेकी आवश्यकता नही होती बल्कि इसको अपनी आतरिक जीवनमे उतार लाना होता है, यह वह महत्तर सद्वस्तु है जिसमें हमें संवर्द्धित होना है। फिर यह सत्य अपने-आपमें स्थित

है और यदि हम अपने अज्ञानके इद्रजालमे न फसे होते तो यह आप-से-आप प्रकट हो गया होता। जो सशय और मोह हमे इस सत्य-को स्वीकार करने और इसका अनुसरण करनेसे अटकाते है, वे अज्ञानसे, इद्रियविमोहित और मतवादविमूढ मन और हृदयसे उत्पन्न होते है, क्योकि इनकी स्थिति निम्न और बाह्य सत्यमे है और इसलिये उच्चतर सद्वस्तुके विषयमे इन्हे सशय होता है (अज्ञान संभूत हृत्स्थ सशय)। जिनके सत्यको जाननेमे सब कुछ जानने-मे आता है (यस्मिन् विज्ञाते सर्व विज्ञातम्) उन परमात्माके साथ एकत्वमे निवास कर, सतत योगस्थ होकर, अनुभवगम्य ज्ञानके द्वारा, गीता कहती है कि, इस सशयको ज्ञानकी तलवारसे काट डालना होगा।

वहा जो उच्चतर ज्ञान हमे प्राप्त होता है वह ब्रह्मवित् पुरुषके लिये पदार्थमात्रको देखनेकी वह स्थायी दृष्टि है जो ब्रह्ममे स्थित पुरुषको प्राप्त होती है। यह सब कुछको अलग करके केवल ब्रह्म-को ही देखना, केवल ब्रह्मकी ही चेतना, केवल ब्रह्मका ही ज्ञान नही है, बल्कि सब कुछको ब्रह्ममे और आत्मवत् देखना है। कारण, यह कहा गया है कि जिस ज्ञानके द्वारा हम लोग उस स्थितिमे पहु-चते है जहासे फिर इस मानसिक प्रकृतिके मोहजालमे लौटना नही होता, वही वह ज्ञान है "जिसमे तू सर्व भूतोको अशेष रूपसे आत्माके अदर और तब मेरे अदर देखेगा।" इसी बातको गीता-ने अन्यत्र और भी अधिक विस्तृत रूपसे इस प्रकार कहा है कि, "सर्वत्र समदर्शी पुरुष सब भूतोमे अपने आत्माको और अपने आत्मा-में सब भूतोको देखता है। जो कोई मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मेरे अदर देखता है वह कभी भी मुझे नही खोता न मै ही उसे खोता हू। जो एकत्वको प्राप्त हुआ योगी सब भूतोमें स्थित मुझ-को भजता है वह जैसे भी रहे या करे पर मेरे ही अदर रहता और कर्म करता है। हे अर्जुन! जो कोई सुखमे दुःखमे, सर्वत्र, सबको अपनी ही तरह समान रूपसे देखता है उसीको मै परम योगी

मानता हूं।" यही उपनिषद्का पुरातन वैदांतिक ज्ञान है जिसे गीता सतत हम लोगोके सामने रखती है; परंतु वेदात-ज्ञानके जो निरूपण पीछे हुए उनकी अपेक्षा गीताकी श्रेष्ठता इस विषयमे यही है कि गीताने इस ज्ञानको दिव्य जीवनका एक महान् व्यवहार-शास्त्र बना दिया है। इस एकत्व-ज्ञान और कर्मयोगके परस्पर-संबंधके विषयमे गीताका विशेष आग्रह आदिसे अततक बराबर देखनेमे आता है और इसीलिये गीतामें इस बातपर जोर दिया गया है कि एकत्वका ज्ञान ही जगत्मे मुक्त कर्म करनेका आधार है। जहा-जहा गीताने ज्ञानकी बात कही वहीं-वही तुरत समताकी बात कही है, और यह समता ज्ञानका ही फल है; और जहा-जहा उसने समताकी बात कही है वहा-वहा ही ज्ञानकी भी बात कही है, और यह ज्ञान ही समताका आधार है। गीता जिस समताका उपदेश करती है उसका आरंभ और अत जीवकी स्थितिशील अवस्थामे ही नही होता,—यह अवस्था तो केवल आत्म-मुक्तिके लिये ही उपयोगी है—गीताकी समता सदा ही कर्मोंकी आधारभूमि है। मुक्त पुरुषके अदर ब्रह्मकी जो शाति होती है वह नीव है और मुक्त प्रकृतिमे ईश्वरका विशाल, स्वतत्र, सम और जगद्व्यापी जो कर्म है वह उस शक्तिको सचारित करता है जो इस शातिसे नि:सृत होती है, और इन दोनोंका एक कर दिया जाना दिव्य कर्म और दिव्य ज्ञानको समन्वित करना है।

गीताकी ये बाते अन्य दार्शनिक, नैतिक या धार्मिक जीवनसबधी शास्त्रोमे भी है, किंतु गीतामे इनका अर्थ कितना गभीर, कितना व्यापक है। तितिक्षा, दार्शनिक उदासीनता और नति, समताके जो तीन प्रकार पहले हम बता चुके है, उनकी नीव है, परंतु गीतामें जो ज्ञानका सत्य है वह इन तीनोको केवल एक साथ जुटा ही नही देता, बल्कि इन्हें अत्यत गभीर और अपूर्व उदार सार्थक्य प्रदान करता है। स्टोइक संप्रदायका तितिक्षाशास्त्र यही है कि जीव धैर्यके द्वारा आत्मवशी होनेमे समर्थ होता है; वह अपनी प्रकृतिसे

युद्ध करके समता लाभ करता है, जिसको वह प्राकृत विद्रोहोके संबधमे सतत सावधान रहकर और उन विद्रोहोको दबाकर बनाये रहता है। इससे एक महान् शांति मिलती है, एक तापस सुख मिलता है; परतु यह वह परम आनद नही है जो मुक्त पुरुषको, किसी नियमके अधीन रहनेसे नही, बल्कि अपनी दिव्य सत्ताकी विशुद्ध, सहज, स्वाभाविक सिद्धस्थितिमे रहनेसे प्राप्त होता है, यहा वह "चाहे जिस तरह रहे, चाहे जो करे, रहता और कर्म करता है भगवान्मे ही।" कारण यहा जो सिद्धस्थिति प्राप्त होती है वह केवल प्राप्त ही नही होती, स्वाधिकारसे सदा अधिकृत भी रहती है, इसकी रक्षाके लिये अब कोई प्रयास नही करना पडता, क्योकि वह जीवका स्वभाव ही बन जाती है। निम्न प्रकृतिके साथ जो हमारा युद्ध चलता है उसको सहन करने और उस समय धैर्य बनाये रखनेको गीता एक प्राथमिक साधनके तौरपर स्वीकार करती है; परतु जहा अपने पुरुषार्थसे एक प्रकारका वशित्व प्राप्त होता है वहा इस वशित्वकी जो मुक्तावस्था है वह भगवत्सायुज्यमे ही अर्थात् व्यष्टिपुरुषके उन 'एक' अद्वितीय भगवान्मे निमज्जित या स्थित होनेसे और अपनी इच्छाको भगवान्की इच्छामे खो देनेसे ही प्राप्त होती है। प्रकृति और उसके कर्मोके एक अधीश्वर है जो प्रकृतिमे रहते हुए भी उसके ऊपर रहते है, वे ही हमारी सर्वोत्तम सत्ता और हमारे विश्वव्यापी आत्मा है, उनके साथ एक हो जाना अपने-आपको दिव्य बनाना है। भगवान्के साथ एकत्व लाभ करनेसे परम स्वातत्र्य और परम वशित्वमे हमारा प्रवेश होता है। स्टोइक सप्रदायके तितिक्षा धर्मका आदर्श वह मुनि है जो आत्मवशी है, अपना आप राजा है, क्योकि वह आत्म-अनुशासनके द्वारा बाह्य परिस्थितियोको अपने वशमे कर लेता है। वेदातमे 'स्वराट्' और 'सम्राट्' पदवाच्य जो कुछ भी है, यह आदर्श बाह्यतः उसीसे मिलता-जुलता है, पर यह है उससे निम्नतर स्तरका। स्टोइक साम्राज्यकी रक्षा अपने-आपपर और अपनी परिस्थितिपर एक

प्रकारका बल प्रयोग कर की जाती है; परंतु योगीका जो पूर्ण मुक्त साम्राज्य है वह दिव्य प्रकृतिकी सनातन स्वराट्-सत्तासे स्वभावत: ही सिद्ध है, यह जीवका ईश्वरकी अबाध विश्व-सत्ताके साथ योग है, इसमे जिस यत्रात्मक प्रकृतिके द्वारा योगी कर्म करता है उस प्रकृतिसे वह ऊपर उठ जाता है और अतमे अपनी उस ऊर्ध्व-सत्ता और श्रेष्ठतामे ही बिना किसी बलात्कारके सहज ही निवास करता है। जगत्के सब पदार्थ उसके वशमे इस कारणसे होते है कि वह सब पदार्थोके साथ एकात्म हो जाता है। दृष्टातके लिये प्राचीन रोमन समाजसे एक उदाहरण ले। रोमन समाजमें जो क्रीतदास होते थे उनमेसे किसी-किसीको उत्तम सेवाकार्यके पुरस्कार-स्वरूप मुक्त कर दिया जाता था, पर इस मुक्तिके बाद भी वह उस सत्ताके अधीन ही होता था जिसने उसको एक दिन गुलाम बना रखा था, स्टोइक सप्रदायवालोकी मुक्ति भी ऐसी ही है, उसकी मुक्तिके लिये प्रकृति इसलिये इजाजत देती है कि उसने तितिक्षाके द्वारा अपनेमें ऐसी योग्यता पैदा कर ली होती है, पर अभी भी यह मुक्ति निर्भर करती है प्रकृतिकी मर्जीपर। गीतामे जिस मुक्तिका वर्णन है, जो मुक्त पुरुषकी सच्ची मुक्ति है, वह निम्न प्रकृतिसे निकलकर परा प्रकृतिमे जन्म लेनेसे प्राप्त होती है और वह अपनी दिव्यतामे स्वत.स्थित रहती है। ऐसा मुक्त पुरुष जो कुछ करता है, चाहे जिस तरहमे भी रहता है, रहता है भगवान्मे ही; वह घरका लाडला लाल है, 'बालवत्' है जिससे कोई भूल नही होती जिसका कभी पतन नही होता, क्योकि वह उन परम सिद्धसे, उन सर्वानदमय सर्वप्रेममय सर्वसौदर्यमयसे भरा हुआ रहता है, वह जो कुछ करता है वह भी उन्हीसे परिपूर्ण होता है। जिस 'राज्य समृद्ध' का वह उपभोग करता है वह वही मधुर सुखमय राज्य है जिसके विषयमे यूनानी तत्त्ववेत्ताने कहा है कि, "वह शिशु-राज्य है।"

दार्शनिकोका ज्ञान ऐहिक जीवनके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान है और वह यही है कि जगत्के ये सब बाह्य पदार्थ क्षणभंगुर है, जगत्-

के ये सारे भेद-प्रभेद निरर्थक है और आतरिक स्थिरता, शाति, ज्योति और आत्म-निर्भरता ही श्रेय है। यह दार्शनिक उदासीनता-से प्राप्त एक प्रकारकी समता है, इससे एक बड़ी स्थिरता तो प्राप्त होती है, पर वह महान् आत्मानद नही मिलता, यह ससार-से अलग रहकर मिलनेवाली मुक्तावस्था है; यह ज्ञान किसी पहाड़-की चोटीपर बैठे हुए अपनी महिमामे स्थित पुरुषका, नीचे उस ससार-समुद्रके—जिसमेसे वह स्वय निकल आया है—उद्दाम तरगोसे. इधर-उधर झोका खानेवाले दुखी प्राणियोको दूरसे देखना है, है यह भी ससारसे अलग रहना और अतमे ससारके लिये व्यर्थ ही। उदासीनतारूपी दार्शनिक प्रेरक-भावको गीता एक प्रारभिक साधन-के तौरपर स्वीकार करती है, परतु उदासीनताका गीतामे जो अतिम रूप है—यदि इस अपर्याप्त शब्दका किसी तरहसे व्यवहार भी किया जाय तो भी—उसमे दार्शनिक अलगावका भाव नही है। वह 'उदासीनवत्' आसीन होना है सही, पर वैसे ही जैसे भगवान् 'ऊर्ध्वमे आसीन है, जिन्हे इस जगत्मे किसी चीजकी जरूरत नही, फिर भी जो सतत कर्म करते और सर्वत्र वर्त्तमान रहकर प्राणियोके परिश्रमके आश्रय, सहायक और परिचालक होते है। यह जो समता है वह सब प्राणियोके साथ एकत्वपर प्रतिष्ठित है। दार्श-निक समतामे जो कमी है वह इससे पूरी होती है, क्योकि इसके मूलमे शाति भी है और प्रेम भी। इस समतामे भगवान्के अदर अशेषतः सबके दर्शन होते है। यह सब प्राणियोके साथ एकात्म-भूत हो जाना है और इसलिये इसमे सबके साथ आत्यतिक सहानु-भूति रहती है। इस सर्वव्यापक, सपूर्ण आत्मगत सहानुभूति और आध्यात्मिक एकतामे सबका 'अशेषेण' (बिना किसीको बाद दिये) समावेश होता है, यह नही कि जो कुछ अच्छा है, सुदर है केवल उसीको ले लिया जाय, बल्कि इसके अदर सब कुछ आ जाता है, फिर चाहे वह कितना ही नीच, पतित, पापी या घृणित प्रतीत होता हो। केवल द्वेष, क्रोध या अनुदारताके लिये ही नही, बल्कि

अलगाव, घृणा या अपनी श्रेष्ठतारूपी किसी प्रकारके क्षुद्र गर्वके लिये इसमे कोई स्थान नही है। इस समतामे आपात मनुष्यके संघर्षमें पड़े हुए मनके अज्ञानके प्रति एक दिव्य करुणा होगी, उसपर समस्त प्रकाश और शक्ति और सुखकी वर्षा करनेके लिये एक दिव्य संकल्प होगा सही, पर उसके अंदर जो आत्मा है उसके प्रति इनसे भी कोई बड़ी चीज होगी, उसके प्रति होंगे भक्ति और प्रेम। कारण सबके भीतरसे, जैसे ही साधु-महात्माओंके अन्दरसे वैसे ही चोर, वेश्या और चांडालके अंदरसे भी वे ही प्रियतम ताका करते और पुकारकर कहते है "यह मै हूं।" "सब भूतोमे जो मुझको प्यार करता है" —दिव्य सार्वत्रिक प्रेमकी परम प्रगाढ़ता और गांभीर्यको देनेवाली इससे अधिक शक्तिशाली वाणीका प्रयोग संसारके और किस दर्शन-शास्त्र या धर्ममे हुआ है?

नति एक प्रकारकी धार्मिक समताका आधार है, यह भगवान्‌की इच्छाके अधीन होना है, विपरीत अवस्थाओंको धैर्यके साथ सहन करना है, सब कुछ चुपचाप बरदाश्त करना है। गीतामे यह नति-तत्त्व एक अधिक विशाल रूप धारण करता है और वहा इसका स्व-रूप है समग्र सत्ताका भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पण। यह केवल निष्क्रिय अधीनता नही है, बल्कि यह सक्रिय आत्म-दान है, यह समस्त वस्तुओंके अंदर जो भगवान्‌की इच्छा वर्त्तमान है उसको देखना और स्वीकार करना भर नही है, बल्कि अपनी निजी इच्छाको कर्मोंके प्रभु जो भगवान् है उनको दे देना है जिससे कि साधक उनका उपकरण बन सके और सो भी भगवान्‌का एक सेवक बननेकी भावनामे नही, बल्कि अंतमे कम-से-कम इस भावनासे कि वह अपनी चेतना और अपने कर्म, दोनोंका ही उनमे संपूर्ण संन्यास कर दे ताकि उसकी सत्ता भगवान्‌की सत्ताके साथ एक हो जाय और उसकी नैर्व्यक्तिक प्रकृति एक यंत्रमात्र रह जाय और कुछ नही। अब जो कुछ भी फल प्राप्त होता है, वह चाहे अच्छा हो या बुरा, प्रिय हो या अप्रिय, शुभ हो या अशुभ, उसे वह स्वीकार करता है, यह जानकर कि वह कर्मोंके प्रभु

भगवान्का है और अतमे यह अवस्था हो जाती है कि शोक और दु:ख केवल सहन ही नही किये जाते, बल्कि उन्हे निकाल दिया जाता है और चित्तके अदर पूर्ण समता प्रतिष्ठित हो जाती है। उपकरणमे तब वैयक्तिक इच्छा या सकल्पका आरोप नही होता, यह देख पडता है कि जो कुछ हो रहा है वह सब विराट् पुरुषकी सर्वज्ञ पूर्वदृष्टि और उनकी सर्वसमर्थ अमोघ शक्तिमे पहले ही क्रियान्वित हो चुका है और मनुष्योका अहकार भगवान्के सकल्पके कार्योको बदल नही सकता। इसलिये साधकका अतिम रवैया वही होगा जो अर्जुनको आगे चलकर बताया गया है,"सब कुछ मेरे द्वारा मेरी दिव्य इच्छा और पूर्व ज्ञानमे पहले ही किया जा चुका है, तू, हे अर्जुन, केवल निमित्त बन जा (निमित्तमात्रम् भव सव्यसाचिन्)।" इस रवैयेका अतिम परिणाम यह होगा कि वैयक्तिक सकल्प भगवान्के सकल्पके साथ पूर्ण रूपसे एक हो जायगा, जीवके अदर ज्ञानकी वृद्धि होने लगेगी और उसकी प्रकृति, जो उपकरणमात्र है, सर्वथा निर्दोष होकर भागवत शक्ति और ज्ञानके अनुकूल बन जायगी। परात्पर पुरुष, विराट् पुरुष और व्यष्टि पुरुषकी इस परम एकताकी जो सतुलित अवस्था होगी उसमे अत:करणके अदर आत्मसमर्पणसे प्राप्त पूर्ण और निरपेक्ष समता रहेगी, मन भागवत प्रकाश और शक्तिका निष्क्रिय स्रोतमार्ग हो जायगा और हमारी सक्रिय सत्ता हो जायगी दिव्य ज्योति और शक्तिका एक बलशाली अमोघ यत्र, उसके कर्मको जगत्मे करनेके लिये।

इस अवस्थामें, दूसरे लोग हमारे साथ जैसा जो व्यवहार करें उसका जो हमपर असर होगा उसमे समता ही रहेगी। उनके किसी भी व्यवहारसे इस आतरिक एकत्व, प्रेम और सहानुभूतिमें कुछ भी अतर न पडेगा, क्योकि सबमे जो एक आत्मा है, समस्त प्राणियोमें जो भगवान् है उनका प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे ही यहां ये भाव उदय हुए है। परंतु इसका यह मतलब नही कि दूसरे लोग चाहे जो भी व्यवहार करें, उन्हें और उनके उन व्यवहारो-

को नत होकर सह लिया या मान लिया जायगा, स्वय निष्क्रिय रहा जायगा और उनका कोई प्रतिरोध नही किया जायगा; ऐसा नही हो सकता, क्योकि जगदीश्वरके जागतिक संकल्पका उपकरण होकर सतत उनकी आज्ञाका पालन करनेका यही तो अभिप्राय है कि जगत्मे विरोधी शक्तियोंका जो सर्वत्र सघर्ष हो रहा है उसमे उन वैयक्तिक कामनाओसे युद्ध करना ही होगा जो अपने अहकारकी तुष्टिमे प्रवृत्त है। इसीलिये अर्जुनको प्रतिरोध करने, लडने और जीतनेका आदेश दिया गया है, पर साथ-साथ यह भी आदेश है कि लड़ना होगा द्वेषरहित होकर, व्यक्तिगत काम-क्रोधको छोड़कर, शत्रुताका परित्याग कर, क्योंकि मुक्त पुरुषमें ये मनोविकार नही होते। निरहकार होकर लोकसग्रहके लिये कर्म करना, भगवन्मार्गपर लोगोको कायम रखने और चलानेके लिये कर्म करना वह धर्म है जो भगवान्के साथ, विश्वपुरुषके साथ अपने अंतरात्माकी एकतासे स्वभावत ही उत्पन्न होता है, क्योकि विश्वके अखिल कर्मका सपूर्ण अभिप्राय और लक्ष्य यही तो है। न इस कर्मका सब जीवोके साथ हमारी जो एकता है, यहातक कि जो हमारे विरोधी और शत्रु बनकर सामने आते है उनके साथ भी हमारी जो एकता है, उससे कोई विरोध ही है। कारण भगवान्का जो लक्ष्य है वही उनका भी लक्ष्य है, क्योकि वही सबका छिपा हुआ लक्ष्य है, उन जीवोका भी जिनके बहिर्मुख मन अज्ञान और अहंकारके मारे इस पथसे च्युत हो भटका करते है और अपनी अतःप्रेरणाका ही प्रतिरोध किया करते है। उनका विरोध करना और उन्हे हराना, यही उनकी सबसे बड़ी बाहरी सेवा है। इस दृष्टिके द्वारा गीता उस अपूर्ण सिद्धांतका तो निराकरण कर देती है जो समताकी एक ऐसी शिक्षासे उत्पन्न हो सकता था जिसमे अव्यावहारिक रूपसे समस्त संबधोकी अवहेलना की जाती है और जो उस दुर्बलकारी प्रेमकी शिक्षासे उत्पन्न हो सकता था जिस प्रेमके मूलमें ज्ञानका सर्वथा अभाव ही होता है, पर असली

चीजको उसके असली रूपमे ज्यो-का-त्यो बनाये रहती है। वह चीज है, अतरात्माके लिये सबके साथ एकत्व; हृदयके लिये अचल विश्वप्रेम, सहानुभूति और करुणा; परंतु हाथोके लिये नैर्व्यक्तिक रूपसे हित साधन करनेका स्वातत्र्य—ऐसा हितसाधन नही जो भगवान्‌की योजनाका कोई विचार न कर या उसके ही विरुद्ध जाकर इस या उस व्यक्तिके सुखसाधनमे लग जाय, बल्कि ऐसा हितसाधन जो कि सृष्टिके हेतुका सहायक हो, जिससे मनुष्योको अधिकाधिक सुख और श्रेय प्राप्त हो, सब भूतोका सार्वजनिक कल्याण हो।

भगवान्‌के साथ एकत्व, सब प्राणियोके साथ एकत्व, सर्वत्र सनातन भागवत एकताका अनुभव और इस एकताकी ओर मनुष्योको आगे बढा ले जाना, यही वह जीवन-विषयक धर्म है जो गीताकी शिक्षामे उद्भूत होता है। इससे अधिक महान्, अधिक व्यापक, अधिक गभीर और कोई धर्म नही हो सकता। स्वय मुक्त होकर इस एकत्वमे रहना और मानव-जातिको इसी एकत्वके रास्तेपर आगे बढनेमे मदद करना तथा अपने सब कर्मोको भगवान्‌के लिये करते हुए (कृत्स्न कर्मकृत्) और मनुष्योको जिसका जो कर्तव्य कर्म है उसे सुख और उत्साहके साथ करनेमे बढावा देना (जोषयेत् सर्वकर्माणि), इससे अधिक महान् और उदार दिव्य-कर्मविधान और दूसरा नही हो सकता। यह मुक्त स्थिति और यह एकत्व हमारी मानव-प्रकृतिका गुप्त लक्ष्य है और यही मानव-जातिके जीवनमे अतर्निहित चरम इच्छा है। उसीकी ओर मनुष्य-जातिको उस सुखकी प्राप्तिके लिये मुड़ना होगा जिसको वह अभीतक नही खोज पायी है। पर यह तब होगा जब मनुष्योकी आखे खुलेगी और वे अपनी इन आखों और अपने इन हृदयोको ऊपर उठाकर अपनेमे, अपनी चारो ओर, सब भूतोमे (सर्वेषु भूतेषु) और 'सर्वत्र' भगवान्‌को देखने लगेगे और यह जान लेंगे कि हम सब भगवान्‌मे ही तो रहते हे और हमारी यह जो भेदजनक

निम्न प्रकृति है सो केवल एक कैदखानेकी दीवार है जिसे तोड़ डालना होगा, या फिर यह बच्चोंके पढ़नेकी एक पाठशाला है जिसकी पढ़ाई खतम करके आगे बढ़ना होगा जिससे कि वे प्रकृतिमें बालिग हो जायं और आत्मामें मुक्त। ऊर्ध्वस्थित भगवान्के साथ, मनुष्यमे स्थित भगवान्के साथ और जगत्मे स्थित भगवान्के साथ एकात्मभावको प्राप्त होना ही मुक्तिका अभिप्राय और संसिद्धिका रहस्य है।

प्रकृतिका नियंतृत्व

कर्म और आत्मज्ञानकी एकता सिद्ध होनेपर जब उच्चतर आत्मामे हमारा निवास होता है तब हम प्रकृतिकी निम्नस्तरीण कर्मपद्धतिमे ऊपर उठे हुए होते है। तब हम प्रकृति और उसके गुणोके गुलाम नही रहते, बल्कि उन ईश्वरके साथ एक हो जाते है जो हमारी प्रकृतिके स्वामी है, तब हम प्रकृतिका उपयोग हममे जो भगवदिच्छा है उसको सिद्ध करनेके लिये कर्मबधनकी अधीनतामे पडे बिना ही कर सकते है, क्योकि हमारे अदर हमारा जो महत्तर आत्मा है वह यही है, वह प्रकृतिके कर्मोका अधीश्वर है और प्रकृतिकी विक्षुब्ध प्रतिक्रियाओका उसपर कोई असर नही होता। इसके विपरीत, प्रकृतिमे बद्ध अज्ञानी जीव अपने उसी अज्ञानके कारण उसके गुणोमे बधता है, क्योकि यहा वह सानद अपने सत्य स्वरूपके साथ नही, प्रकृतिके ऊपर अधिष्ठित जो भगवान् है उनके साथ नही, बल्कि मूर्खतावश और दुर्भाग्यवश अपनी अहबुद्धिके साथ तदाकार हो जाता है। उसकी यह अहबुद्धि अपना कितना ही बडा स्वाग क्यो न दिखावे पर यह है प्रकृतिके कार्य करनेका एक छोटासा अग ही, मात्र एक मानसिक ग्रथि ही, एक केद्र ही, जिसे पकड़कर प्रकृतिकी कर्मधाराओका खेल चलता रहता है। इस ग्रथिको तोडना, अपने कर्मोका इस अहको अब और केद्र और भोक्ता न बनाना, बल्कि अपने परम दिव्य महान् आत्मासे सब कुछको प्राप्त करना और सब कुछ उसीको निवेदन करना—यही प्रकृतिके गुणोके चचल विक्षोभसे ऊपर उठनेका रास्ता है। कारण इस अवस्थाका अर्थ हो जाता है परम चेतनामे निवास करना, अहबुद्धि जिसका एक अपकृष्ट रूप है, और इसका अर्थ होता है सम और एकीकृत दिव्य सकल्प और शक्तिके अदर रहकर

कर्म करना, त्रिगुणके विषम खेलके अदर नही, जो ऐक्यहीन खोज और प्रयास है, एक विक्षोभ है, एक हीनतर माया है।

अहमात्मक जीवका प्रकृतिके वशमे होना गीताके जिन श्लोकोमें जोरदार शब्दोमे वर्णित हुआ है उन श्लोकोका कुछ लोगोने ऐसा अर्थ लगा रखा है कि इस वर्णनका मानो यही अभिप्राय है कि जगत्‌मे प्रकृतिका ही सर्वोपरि यत्रवत् नियंतृत्व है और जीवके लिये यहा स्वाधीन भावसे कुछ कर सकनेकी कोई गुजायश ही नही है। निश्चय ही उन श्लोकोकी भाषा बहुत ही स्पष्ट और जोरदार है, और ऐसा दिखायी देता है कि उसमे ननु-नचकी कोई सभावना नही है। परतु, जैसे अन्य स्थानोपर वैसे ही यहा भी, गीताके विचारको हमे उसके समग्र रूपमे ग्रहण करना चाहिये और किसी एक वाक्यको, अन्य वाक्योके साथ उसका जो सबध है उससे सर्वथा अलग करके मात्र उसीके आशयको सब कुछ नही मान लेना चाहिये, क्योकि असलमे बात यह है कि प्रत्येक सत्य, फिर वह अपने-आपमे कितना ही दुरुस्त क्यो न हो, अन्य सत्योसे, जो उसे मर्यादित करते हुए भी परिपूर्ण करते है, जब अलग कर दिया जाता है तब वह बुद्धिको फसानेवाला एक जाल और मनको भरमानेवाला एक मत बन जाता है, कारण यथार्थमे प्रत्येक सत्य समिश्रित पटका एक ततु है और कोई ततु भी उस समग्र पटसे अलग नही किया जा सकता। गीतामे सब बाते इसी तरहसे एक दूसरीमे बुनी हुई है और इसलिये उसकी हर बातको उसके सपूर्ण कलेवरके साथ मिलाकर ही समझना होगा। गीताने स्वय ही 'अकृत्स्नवित्' अर्थात् वह जो सपूर्ण सत्यको जाननेवाला नही बल्कि खड सत्योको माननेवाला है तथा 'कृत्स्नवित्' अर्थात् वह जो समग्र सत्यका समन्वयात्मक ज्ञान रखनेवाला योगी है, इन दोनोका भेद स्पष्ट करके बताया है। योगीको जिस शांत और पूर्ण ज्ञानकी स्थितिमे आरोहण करना होता है उसके लिये पहली आवश्यकता यही है कि समस्त जीवन जो कुछ है उसे वह धीर होकर देखे और उसे उसके समग्र रूपमें देखे तथा इसके जो

परस्पर-विरोधी सत्य दिखायी देते है उनके कारण चित्तमे कोई भ्रान्ति न आने दे। हम लोगोकी जो ममिश्र मत्ता है उसके एक छोरपर प्रकृतिके साथ जीवके मबधका एक पहलू ऐसा है जिसमें जीव एक प्रकारमे पूर्ण स्वतत्र है, दूसरे छोरपर दूसरा पहलू वह है जिसमे एक प्रकारसे सारा नियतृत्व प्रकृतिका है, इसके अतिरिक्त स्वतत्रताका एक आशिक और दिखावटी, फलत एक अवास्तविक आभास भी होता है जिमे जीव अपने विकमनशील मनके अदर इन दो विरोधी छोरोका जो विकृत प्रतिबिब पडता है उससे ग्रहण करता है। स्वतत्रताके इस आभासको ही साधारणतया हम लोग, किसी कदर गलतीसे ही, स्वाधीन इच्छा कहा करते है, परतु गीता पूर्ण मुक्ति और प्रभुत्वको छोडकर और किसी चीजको स्वाधीनता या स्वतत्रता नही मानती।

गीताकी शिक्षाके पीछे जीव और प्रकृतिके विषयमे जो दो महान् सिद्धात लगे हुए है उन्हे हमे सदा ध्यानमे रखना चाहिये—एक है पुरुष-प्रकृतिविषयक साख्यका सत्य जिसको गीताने त्रिविध पुरुषरूपी वेदात-सत्यके द्वारा सशोधित और परिपूर्ण कर दिया है और दूसरा है द्विविध प्रकृतिका, जिसका निम्नतर रूप है त्रिगुणात्मिका माया और उच्चतर रूप है दिव्य प्रकृति, सच्ची अध्यात्म-प्रकृति। यही कुजी है जिससे सब बातोका मेल बैठता है और सब बाते स्पष्ट हो जाती है अन्यथा इनको परस्पर विरुद्ध और विसगत जानकर हम छोड ही देना पडता। हमारे सचेतन जीवनके, वास्तवमे, कई स्तर है, और एक स्तरमे जो बात व्यवहारत सत्य मानी जाती है वह उससे ऊपरके स्तरपर जाते ही सत्य नही रह जाती, क्योकि वहा उसका कुछ दूसरा ही रूप हो जाता है, इसका कारण यह है कि वहां हम वस्तुओको अलग-अलग नही बल्कि अधिकतर उनकी समग्रतामे देखने लगते है। हालके वैज्ञानिक आविष्कार-से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि मनुष्य, पशु, वृक्ष और खनिज धातु-ओंतकमे प्राणमय प्रतिक्रियाएं सार रूपसे एकसी होती है और

इसलिये यदि इनमेंमे प्रत्येकके अंदर किसी एक ही प्रकारकी स्नायवीय चेतना हो तो, इनके यांत्रिक मनस्तत्त्वकी आधारभूमि भी एकसी ही होनी चाहिये। फिर भी इनमेंसे प्रत्येक यदि अपने-अपने अनुभवोका मनोमय विवरण दे सकता तो उन एक ही प्रकारकी प्रतिक्रियाओ और एकसे ही प्रकृति-तत्त्वोके चार ऐसे विवरण हमे प्राप्त होते जो एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न और बहुत कुछ परस्पर-विरुद्ध होते, इसका कारण यह है कि ज्यो-ज्यो हम अपनी सचेतन सत्ताके ऊपरके स्तरोमे उठते है त्यो-त्यो इन सबका अर्थ और मूल्य बदल जाता है और वहा इन सबका विचार दूसरी ही दृष्टिसे करना होता ह। मानव-जीवके स्तरोकी भी यही बात है। जिसको हम अपनी साधारण मनोवृत्तिके अनुसार स्वाधीन इच्छा कहते है, और एक छोटीसी हदतक यह कहना ठीक भी हो सकता है, वह उस योगीकी दृष्टिमे, जो ऊपर उठ चुका है और जिसके लिये हमारी रात तो दिन है और हमारा दिन रात, यह स्वाधीन इच्छा है ही नहीं, बल्कि यह प्रकृतिके गुणोकी ही अधीनता है। वह देखता है उन्ही तथ्योको जिन्हे हम लोग देखते है, किंतु वह देखता है 'कृत्स्नवित्' (समग्र सत्यको जाननेवाला) की उच्चतर दृष्टिसे और हम लोग देखते है 'अकृत्स्नवित्' की दृष्टिसे, जो बहुत ही मर्यादित होती है, जो एक अज्ञान ही है। हम लोग जिसे अपनी स्वाधीनता जानकर गर्व करते है उस अवस्थाको वह बधन समझता है।

निम्न प्रकृतिके जालमे बराबर पड़े हुए हम लोग अज्ञानवश जो यह मान बैठते है कि हम स्वाधीन है, इस अज्ञानका खडन करनेके लिये ही गीताने बतलाया है कि अहमात्मक जीव इस स्तरपर सर्वथा त्रिगुणके वशमे होता है। "जब कि सब काम सब प्रकारसे कराये जा रहे है प्रकृतिके गुणोद्वारा ही तो भी अहकारविमूढ़ आत्मा यह समझता है कि इन्हे करनेवाला तो 'मै' हू। परंतु जो कोई गुणो और कर्मोके भेदोके तत्त्वोंका जाननेवाला है वह यह देखता

है कि ये तो प्रकृतिके गुण है जो परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे है और इसलिये वह आसक्त होकर इनमे नही फसता। जो इन गुणोके द्वारा विमूढ हो जाता है, जो अकृत्स्नवित् है उसकी मनोभावनाको कृत्स्नवित् विचलित न करे। अपने सब कर्मोको मुझे समर्पित करके, निराशी और निर्मम होकर, विगतज्वर होकर, तू युद्ध कर।" यहा चेतनाके दो भिन्न स्तर, कर्म करनेके दो विभिन्न दृष्टिबिदु स्पष्ट कर दिये गये है। एक स्तर वह है जहा जीव अपनी अहमात्मक प्रकृतिके जालमे जकडा है और प्रकृतिसे प्रेरित होकर कर्म करता है पर समझता है कि मै अपनी स्वाधीन इच्छासे करता हू। दूसरा स्तर वह है जिसमे जीव अहकारके साथ तादात्म्यसे मुक्त, प्रकृतिसे ऊपर उठा हुआ, प्रकृतिके कर्मोका द्रष्टा, अनुमता और नियंता है।

हम लोग जीवको प्रकृतिके अधीन कहते है, पर गीता, इसके विपरीत, पुरुष और प्रकृतिके लक्षणोका विश्लेषण करती हुई यह बतलाती है कि प्रकृति कार्यकरी शक्ति है और पुरुष सब समय ही ईश्वर है। यहापर गीताने यह बतलाया है कि यह पुरुष अहकारसे विमूढ हो जाता है, परंतु वेदातियोका जो सदात्मा है वह ब्रह्म है, नित्यमुक्त, शुद्ध, बुद्ध है। तब यह जीव क्या है जो प्रकृतिसे विमूढ होता है, प्रकृतिके अधीन रहता है? इसका उत्तर यह है कि यहा हम लोग वस्तुओके सबधमे हमारी जो निम्नतर या मानसिक दृष्टि होती है उसकी व्यावहारिक भाषामे बात कर रहे है, उसकी बात कर रहे है जो आत्मा या पुरुष भासता है, जो प्रातिभासिक है, उसकी नही जो सदात्मा है, जो वास्तविक पुरुष है। प्रकृतिके अधीन तो, यथार्थमे, अहकार ही होता है और यह अपरिहार्य है, क्योकि स्वयं अहकार प्रकृतिका ही अग है, उसके कलपुर्जोकी एक क्रिया है; परतु मनश्चेतनामे जो आत्मबोध है वह जब अहकारके साथ अपनेको तादात्म्य कर लेता है तब वह एक निम्नतर आत्माके, एक अहमात्मक आत्माके आभासकी सृष्टि करता है। और इसी

प्रकारसे जिसे हम सामान्यतः जीव या अंतरात्मा कहते है वह वास्तवमें प्राकृत व्यक्तित्व ही है, वास्तविक पुरुष नही, वह हमारे अंदर रहनेवाला वासनात्मा है जो प्रकृतिके कार्योंपर पड़नेवाला पुरुषचैतन्यका प्रतिबिब है। यह स्वयं यथार्थमें त्रिगुणका ही केवल एक कर्म है और इसलिये प्रकृतिका ही एक अंग है। इस प्रकार, यह कह सकते है कि हमारे अदर दो पुरुष है, एक है प्रातिभासिक पुरुष या वासना-पुरुष जो गुणोके परिवर्तनके साथ बदला करता और सर्वथा उन गुणोसे ही बना हुआ और उन्हीके द्वारा नियत्रित होता है, और दूसरा है नित्यमुक्त मनातन पुरुष जो प्रकृतिके और उसके गुणोसे कभी बद्ध नही होता। हमारे दो आत्मा है, एक प्रातिभासिक आत्मा है जो केवल अहकार है अर्थात् हमारे अदरका वह मनोगत केद्र जो प्रकृतिकी इस परिवर्तनशील क्रियाको, इस परिवर्तनशील व्यक्तित्वको अपने ऊपर ओढ लेता है और कहता है कि, "मै यह व्यक्ति हू, मै इन सब कर्मोंका कर्त्ता प्राकृत पुरुष हू",—परंतु प्राकृत पुरुष जो कुछ है वह केवल प्रकृति है, त्रिगुणका एक समुच्चय-मात्र—और दूसरा सदात्मा है जो वास्तवमे प्रकृतिका भर्त्ता, भोक्ता, ईश्वर है; वह प्रकृतिमे रूपान्वित है पर स्वयं यह परिवर्तनशील प्राकृत व्यक्तित्व नही। अत मुक्त होनेका मार्ग इस वासना-पुरुषकी वासनाओसे तथा इस अहंकारकी मिथ्या आत्म-बोधसे मुक्त होना ही है। इसलिये भगवान् गुरु पुकारकर कहते हैं कि, "वासना और अहता-ममतासे मुक्त होकर विगतज्वर होकर युद्ध कर (निराशी निर्म्ममो भूत्वा)।"

हमारी सत्ताके विषयमें यह जो मत ह इसका मूल है साख्यका वह विश्लेषण जिसमे हमारे स्वभावके सबंधमे पुरुष और प्रकृतिरूपी द्विविध तत्त्व बताये गये है। पुरुष अकर्त्ता है, प्रकृति कर्त्री है। पुरुष वह सत्ता है जो चैतन्यके प्रकाशसे भरपूर है, प्रकृति जड है और अपने सब कर्म चिन्मय साक्षी पुरुषके अंदर प्रतिभासित करती है। प्रकृतिके ये कर्म उसके गुणोंकी विषमताके द्वारा हुआ करते

है और ये सदा एक दूसरेसे टकराते, एक दूसरेमें मिल जाते और एक दूसरेमें परिवर्तित होते रहते है; और प्रकृतिकी अहं-बुद्धिका जो कर्म है उसके द्वारा वह पुरुषको इन सब कर्मोंके साथ तादात्म्य कर देती है और इस प्रकार आत्माकी प्रशात सनातन सत्तामें कर्त्ता, विकारी, क्षणस्थायी व्यष्टि पुरुषके होनेकी प्रतीति उत्पन्न करती है। अशुद्ध प्राकृत चेतना विशुद्ध आत्म-चैतन्यको ढाक देती है, अहंकार और व्यक्तित्वके अदर पुरुषको मन भूल जाता है और हमारी विवेक-बुद्धिको इद्रियगम्य मन और उसकी बहिर्मुख क्रियाएं तथा प्राण और शरीरकी कामनाए अपने साथ घसीट ले जाती है, और ऐसा हम होने देते है। पुरुष जबतक इस प्रकारकी क्रियाको अनुमति देता है तबतक अहकार और काम तथा अज्ञान ही हमारी प्राकृत सत्ताका नियत्रण करते रहते है।

परन्तु यदि इतनीसी ही बात हो तो इसकी दवा तो बस यह हो सकती है कि हम यह अनुमति देना बद कर दे और इस तरह अपनी सारी प्रकृतिको विवश करे या उससे कहे कि वह त्रिगुणकी निश्चल साम्यावस्थामे जा गिरे और इस प्रकार वह कर्म करनेसे विरत हो जाय। परतु यही वह दवा है जिसका प्रयोग करनेके लिये गीता हमें निरुत्साहित करती है, क्योकि यद्यपि यह एक दवा तो है, पर यह दवा ऐसी है जो रोगके साथ रोगीका भी खातमा कर देती है। विशेषकर जो लोग अज्ञानी है उनपर यदि इस सत्यको लाद दिया जायगा तो वे तामसिक अकर्मण्यताकी ही शरण लेगे, उनका 'बुद्धिभेद' होगा— उनकी बुद्धिमे एक मिथ्या भेद, एक झूठा विरोध उत्पन्न होगा; उनके सक्रिय स्वभाव और बुद्धि एक दूसरेके विरोधी हो जायगे और इसका फल यह होगा कि व्यर्थका विक्षोभ और सकर पैदा हो जायगा, मिथ्या और आत्म-प्रतारक कर्म होने लगेगे (मिथ्याचार), या फिर तामसिक जडता छा जायगी, कर्मोंका अत हो जायगा, जीवन और कर्मके पीछे जो संकल्प है वह क्षीण हो जायगा और इसलिये इस सत्यके द्वारा उन्हें मुक्ति तो नही मिलेगी मगर मिलेगी

गुणोमें भी सबसे निकृष्ट जो तमोगुण है उसकी अधीनता। अथवा ये लोग कुछ न समझेगे ओर इस उच्च शिक्षामे ही दोष निकालेगे, इसके विरुद्ध अपने वर्तमान मानसिक अनुभवके पक्षको तथा स्वतत्र इच्छा-संबंधी अपने अज्ञानमय विचारके पक्षको लाकर उपस्थित करेगे, फल यह होगा कि अपने अहकार और कामके मोह तथा कपटजालमे पड़े हुए ये लोग अपने पक्षकी यौक्तिकताके सत्याभासमे इतने अधिक फस जायगे कि ये अज्ञानका और भी जोरदार और हठी समर्थन करने लगेगे और अपनी मुक्तिका अवसर खो देगे।

वास्तवमे ये उच्चतर सत्य, चेतना और सत्ताके उच्चतर और विशालतर स्तरपर ही सहायक हो सकते है, क्योकि वहा ही ये अनुभवगम्य और जीवनसाध्य हो सकते है। ऊपरके इन सत्योको नीचेसे देखना इन्हे गलत देखना, गलत समझना और शायद इनका गलत प्रयोग करना है। यह एक उच्चतर सत्य है कि शुभ और अशुभका भेद अहभावापन्न मानव-जीवनके लिये—और यह मानव-जीवन पशुभावसे दिव्य भावको प्राप्त होनेके बीचकी अवस्था है—एक व्यावहारिक तथ्य और एक प्रामाणिक धर्म है सही, पर इससे ऊपरकी भूमिकामे हम शुभ-अशुभके ऊपर उठ जाते है और इनके द्वंद्वोकी पहुचके परे वैसे ही रहते है जैसे कि ईश्वर रहता है। परतु जहां यह सत्य व्यावहारिक रूपसे काममे नही आता उस नीचेकी भूमिकासे ऊपर उठे बिना ही जो अपरिपक्व मन इस सत्यको पकड़ने जायगा वह तो यही करेगा कि इस सत्यको अपनी आसुरी प्रवृत्तियो-को प्रश्रय देनेके लिये, शुभ और अशुभके भेदको सर्वथा अस्वीकार करनेके लिये और भोगविलासके द्वारा विनाशके गहरे दलदलमे जा गिरनेके लिये सुविधाजनक एक बहाना बना लेगा—"सर्वज्ञान-विमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।" यही बात प्रकृतिके नियतृत्व-के सत्यकी भी है, इसको भी लोग गलत देखेगे और इसका दुरुपयोग करेगे, जैसा कि वे लोग करते है जो यह कहते है कि हरएक मनुष्य वही है जैसा कि उसकी प्रकृतिने उसे बना रखा है, प्रकृति उसमे जो

कुछ करनेको विवश करती है उसके सिवाय वह और कुछ नही कर सकता। एक अर्थमे यह बात सही है, पर उस अर्थमे नही जिस अर्थमे यह कही जाती है; इस अर्थमे नही कि अहमात्मक जीव जो कुछ करता है उसकी जिम्मेवारी उसपर न हो और वह उसके फलमे बच जाय, क्योंकि अहमात्मक जीवका अपना सकल्प है, उसकी अपनी कामना है, और जबतक वह अपने सकल्प और अपनी कामनाके अनुसार कर्म करता है तबतक, चाहे उसकी प्रकृति वैसी ही क्यो न हो, उसे अपने कर्मकी प्रतिक्रियाओको भोगना ही पडेगा। वह उस जालमे, यो कहिये कि उस फदेमे जा फसा है जो उसकी वर्तमान अनुभूतिको, उसके मर्यादित आत्मज्ञानको चाहे कितना ही दुर्बोध, युक्तिविरुद्ध, अनुचित और भयकर मालूम हो, पर है यह फदा उसकी अपनी खुशीका और यह जाल उसका अपना बुना हुआ।

गीता यह कहती है सही कि "सब भूतप्राणी अपनी प्रकृतिका अनुसरण करते है, निग्रह करनेसे क्या होगा" और यदि हम अकेले इसी वचनको ले लेते है तो ऐसा दिखायी देगा कि प्रकृति-की सर्वशक्तिमत्ताका पुरुषपर असभव रूपसे सपूर्ण आधिपत्य है। "ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करता है।" और इसीकी बुनियादपर गीताका यह आदेश है कि सचाईके साथ अपने कर्मोके अदर अपने स्वधर्मका पालन करो, "अपना धर्म चाहे दोषयुक्त हो पर वह दूसरेके सुसपादित धर्मसे अच्छा है; स्वधर्म-मे मर जाना भला है, दूसरेके धर्मका पालन भयावह है।" इस स्वधर्मका वास्तविक अर्थ जाननेके लिये हमे तबतक ठहरना होगा जबतक हम गीताके पिछले अध्यायोमे पुरुष, प्रकृति और गुणोके सबधमे जो विस्तृत व्याख्यान है, वहातक न आ जाय, किंतु निश्चय ही इसका यह अर्थ तो नही ही है कि जिसे हम प्रकृति कहते है उस-की जो कोई भी प्रेरणा हो, फिर चाहे वह अशुभ ही क्यो न हो, उस-का हमे पालन करना होगा। कारण इन दो श्लोकोके बीचमे

गीताने यह् आदेश भी तो दिया है कि, "प्रत्येक इंद्रियके जो विषय है उनमें रागद्वेष छिपे हुए है, उनके वशमें न आना, क्योंकि आत्मा-के रास्तेमे ये लुटेरे है।" और फिर इसके बाद ही जब अर्जुन यह् प्रश्न करता है कि प्रकृतिका अनुसरण करनेमे जब कोई दोष नही है तब हमारे अदरकी उस चीजको हम क्या कहे जो मनुष्य-से, उसकी इच्छा और चेष्टाके विरुद्ध, बरबस जैसे हो पाप कराती है, तब भगवान् गुरु उत्तर देते है कि वह काम है और उसका साथी क्रोध, रजोगुणकी सतान, जो ऐसा कराते है, और यह जो काम है यही आत्माका सबसे बडा शत्रु है, इसे तो मार ही डालना होगा। गीता कहती है कि पापकर्मका त्याग करना तो मुक्तिकी पहली शर्त्त है और सर्वत्र ही गीताका यह आदेश है कि आत्मवशी और आत्मसयमी होओ तथा मन, इद्रिय और सपूर्ण निम्न सत्ताको अपने वशमे रखो।

इसलिये अब हमे इन दो चीजोको अलग-अलग समझ लेना होगा कि प्रकृतिमे वह कौनसी चीज है जो उसका असली स्वरूप है, उसका अपना और अनिवार्य कार्य है जिसका दमन या निग्रह् करना बिलकुल लाभकारी नही और फिर वह कौनसी चीज है जो असली नही आगतुक है, जो प्रकृतिका विक्षेप, विभ्रम और विकार है जिसे हमे अपने वशमे करना होगा। निग्रह् और सयम, इन दोनोमे भी भेद है। निग्रह प्रकृतिपर अपनी इच्छाकी जबरदस्ती है जिससे जीवकी स्वाभाविक शक्तिया अतमे अवसादको प्राप्त होती है (आत्मानमवसादयेत्), और सयम उच्चतर आत्माका निम्नतर आत्माको सयमित करना है जिससे जीवकी स्वाभाविक शक्तियोको अपना स्वभावनियत कर्म और फिर उस कर्मको करने-का परम कौशल प्राप्त होता है (योग. कर्मसु कौशलम्)। छठे अध्यायके उपोद्घातमे सयमका यह् स्वरूप बहुत ही स्पष्ट करके बताया गया है। "आत्मासे आत्माका उद्धार करे, आत्माको (भोगविलास या निग्रहके द्वारा) अवसन्न होकर नीचे न गिरने

दे; कारण आत्मा ही आत्माका मित्र है और आत्मा ही आत्मा-का शत्रु। उस मनुष्यका आत्मा उसका मित्र है जिसके (उच्च-तर) आत्माके द्वारा (निम्नतर) आत्मा जीत लिया गया है; परतु जिस मनुष्यने अपने (उच्चतर) आत्मापर अधिकार नही किया है उसका (निम्नतर) आत्मा उसके लिये शत्रु जैसा है और वह शत्रुवत् आचरण करता है।" जब कोई अपने आत्माको जीत लेता और पूर्ण आत्मजय और आत्मवत्ताकी अविचल स्थिति-को प्राप्त होता है तब उसका परम आत्मा उसकी बाह्य सचेतन मानव-सत्तामे भी स्थिर प्रतिष्ठित अर्थात् 'समाहित' होता है। दूसरे शब्दोमे निम्नतर आत्माको उच्चतर आत्मासे, प्राकृत आत्मा को आध्यात्मिक आत्मामे वशमे करना ही मनुष्यकी सिद्धि और मुक्तिका मार्ग है।

सो हम लोगोने देखा कि प्रकृतिके नियतृत्वकी पहुच कितनी है, इसके अर्थ और क्षेत्रकी व्यापकताकी ठीक-ठीक सीमा क्या है। प्रकृतिकी अधीनतामे निकलकर उसपर अधिकार करनेकी जो बात गीताने कही है वह कैसे कार्यान्वित होती है यह बहुत अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जायगा यदि प्रकृतिकी नीचेसे ऊपरतककी जो श्रेणिया है उनमे गुणोकी जो क्रिया होती है उसको हम देख ले। सबसे नीचे वे जीव है जिनमे तमोगुणका तत्त्व मुख्य है, ये वे प्राणी है जो अभी आत्मचैतन्यके प्रकाशतक नही पहुचे है और जो सर्वथा प्रकृतिके प्रवाहके द्वारा ही चालित होते है। परमाणुके अदर भी एक इच्छाशक्ति है, पर यह स्पष्ट ही देख पडता है कि यह स्वा-धीन इच्छाशक्ति नही है, क्योकि यह इच्छाशक्ति यत्रवत् है और परमाणु इसपर स्वत्व नही रखता, बल्कि खुद ही उसके अधिकार-मे होता है। बुद्धि, जो प्रकृतिके अंदर बोध और संकल्पका तत्त्व है वह यहा वास्तवमे स्पष्ट रूपसे, जैसा कि साख्यने बताया है, जड़ है, यह अभी यात्रिक यहांतक कि अचेतन तत्त्व है, और इसके अंदर सचेतन आत्माका जो प्रकाश है उसने उपरितलपर आनेके लिये

अभी कोई प्रयास नही किया है। परमाणु अपने बुद्धितत्त्वसे सचेतन नही है, वह उस तमोगुण के कब्जेमे है, जिसने रजोगुणको पकड़ रखा है, सत्त्वगुणको अपने अदर छिपा रखा है और स्वय अपने प्रभुत्वके उत्सवमे मस्त है। जीवके इस रूपको प्रकृति अद्भुत शक्तिके साथ कार्य करनेके लिये विवश करती है सही, पर स्वतत्र रूपसे कुछ नही करने देती, उसे जड यत्रवत् चलाती रहती है (यत्रारूढानि मायया)। इससे ऊपरके स्तरमे उद्भिद कोटि है, उसमें रजोगुण बाहर निकल पड़ा है, उसके साथ उसकी जीवन-शक्ति है, उमकी स्नायवीय प्रतिक्रियाओकी क्षमता है और ये प्रतिक्रियाएं वे ही है जो हमारे अदर सुख-दु खके रूपमे प्रकट होती है; पर अभी भी सत्त्वगुण बिलकुल दबा हुआ है, उसने अभी बाहर निकलकर सचेतन बुद्धिके प्रकाशको नही जगाया है, अभी भी यह सब जड़, अवचेतन या अर्द्धचेतन ही है जिसमे रजकी अपेक्षा तमकी प्रबलता है और रज तम, दोनो मिलकर सत्त्वको कैद किये हुए है।

इससे ऊपरके स्तरमे, अर्थात् पशुकोटिमें, है तो तमकी ही प्रबलता और इसे भी हम 'तामस सर्ग' के अनर्गत ही कह सकते है, फिर भी यहा तमोगुणके विरुद्ध रजोगुणका पहलेकी अपेक्षा अधिक जोर है और इसलिये यहा कुछ उन्नत प्रकारकी जीवनशक्ति, इच्छा, उमंग, प्राणावेग और सुख-दु ख भी होते है; सत्त्वगुण भी यहा प्रकट तो हो रहा है पर अभी भी वह निम्न क्रियाके ही अधीन है फिर भी उसने सचेतन मनके प्रथम प्रकाशको, यात्रिक अहबोधको, सचेतन स्मृतिको, एक प्रकारकी चिताशक्तिको, विशेषत: पशुसुलभ सहजप्रेरणा और सहजस्फुरणाके चमत्कारको इस पशुकोटिमें अपनी ओरसे दे दिया है। परंतु यहांतक भी बुद्धिने चेतनाका पूर्ण विकास नही किया है, अतएव पशुओको उनके कर्मोका जिम्मेवार नही ठहराया जा सकता। सो, परमाणुको उसकी अंध गतिके लिये, आगको जलाने और खाक कर देनेके

लिये या आधी-तूफानको बरबादीके लिये जितना दोष दिया जा सकता है उससे अधिक दोष प्राणियोको मारने और खा जानेके लिये शेरको नही दिया जा सकता। यदि शेर हमारे प्रश्नका जवाब दे सका होता तो मनुष्यकी तरह ही उसने यह कहा होता कि मै जो कुछ करता हू अपनी स्वाधीन इच्छासे करता हू; कर्त्तापनका भाव वह रखना चाहता और कहता, "मै मारता हू, मै खाता हू"। पर हम लोग तो यह स्पष्ट ही देख सकते है कि मारने-खानेकी क्रिया करनेवाला शेर नही बल्कि उसके अदर रही हुई प्रकृति है जो मारती और खाती है; और यदि कभी शेर नही मारता या नही खाता तो पेट भरा होनेमे, डरसे या आलस्यमे ही ऐसा करता है जो प्रकृतिके ही एक और गुणका कर्म है जिसे तमोगुण कहते है। जैसे पशुके अदरकी प्रकृतिने मारनेकी क्रिया की, वैसे ही उसने मारनेसे रुकनेकी भी क्रिया की। उसके अदर आत्मा किसी भी रूपमे हो पर वह स्वय प्रकृतिके कर्मका केवल निष्क्रिय अनुमता ही है, वह प्रकृतिके कामक्रोधके वेग और कर्ममे उतना ही निष्क्रिय है जितना कि उसके आलस्य या अकर्ममे। परमाणुके समान ही पशु भी अपनी प्रकृतिकी यान्त्रिकताके अनुसार ही चलता है, और किसी तरह नही, "सदृश चेष्टते स्वस्या प्रकृते", जैसे कोई "मायाके द्वारा यत्रपर चढाया हुआ हो (यत्रारूढो मायया)।"

ठीक है, पर कम-से-कम मनुष्यमे तो अन्य प्रकारकी क्रिया है, उसमे एक स्वतत्र आत्मा है, एक स्वाधीन इच्छा है, एक दायित्व-बोध है, एक वास्तविक कर्त्ता है जो प्रकृतिसे भिन्न है, मायाकी यान्त्रिकतासे भिन्न है? यह ऐसा मालूम तो होता है क्योकि मनुष्यमे सचेतन बुद्धि है और इस बुद्धिमे साक्षी पुरुषका प्रकाश भरपूर है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुरुष उस बुद्धिके द्वारा देखता, समझता, सम्मति या असम्मति देता, अनुमति या निषेध करता है; अंतमे यहां तो ऐसा मालूम होता ही है कि मनुष्य-कोटि-मे आकर पुरुष अपनी प्रकृतिका प्रभु बनना आरंभ कर देता है।

मनुष्य, शेर या आग या आंधी-तूफानके समान तो नही है। वह खून करके यह सफाई तो नही दे सकता कि, "मै अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करता हू," और वह ऐसा कर भी नही सकता, क्योकि उसका वह स्वभाव नही और इसलिये वह स्वधर्म भी नही जो शेर, आग या आधी-तूफानका है। उसमे सचेतन बुद्धि है और सब काम वह सचेतन बुद्धिसे विचार कर ही करेगा। यदि वह ऐसा नही करता और अपने आवेशों और प्राणावेगोके अनुसार अधा होकर कर्म करता है तो उसका धर्म 'सु-अनुष्ठित' नही है, उसका आचरण उसके मनुष्यत्वके अनुकूल नही, बल्कि पशुवत् ही है। यह सही है कि रजोगुण अथवा तमोगुण उसकी बुद्धिको अपने कब्जेमे कर लेता है और उससे, उसके द्वारा हो रहे प्रत्येक कर्मके करने या किसी भी कर्मके न करनेका समर्थन करा लेता है, परतु यहा भी, कर्म करनेके पहले या पीछे, बुद्धिसे समर्थन कराना या कम-से-कम उससे पूछ लेना तो पड़ता ही है। इसके अतिरिक्त, मनुष्यके अदर सत्त्वगुण जागृत है और यह केवल बुद्धिके रूपमे और बुद्धिपूर्वक संकल्प करनेके रूपमे ही काम नही करता, बल्कि प्रकाश, सत्यज्ञान और उस ज्ञानके अनुसार सत्य-कर्मके अन्वेषणके रूपमे, तथा दूसरो-के जीवन और दावोको सहानुभूतिपूर्ण रीतिसे अनुभव करनेके रूप-में, अपने निजी स्वभावके उच्चतर धर्मको (जिसकी सृष्टि यह सत्वगुण ही उसके अदर करता है) जानने और मानकर चलनेके प्रयासके रूपमे तथा पुण्य ज्ञान और सहानुभूति जिस महत्तर शाति और सुखको ले आते है उसे बोध करनेके रूपमें भी, काम करता है। मनुष्य थोडा या बहुत यह जानता ही है कि उसे अपनी राज-सिक और तामसिक प्रकृतिपर अपनी सात्विक प्रकृतिके द्वारा शासन करना है, और यही उसकी सामान्य मनुष्यताकी सिद्धिका मार्ग है।

परंतु क्या स्वभावमें सत्त्वगुणकी प्रधानता स्वाधीनताका लक्षण है और क्या मनुष्यके अदर यह जो इच्छा है वह स्वाधीन इच्छा है?

गीता इस बातको उच्चतर चैतन्यकी दृष्टिसे अस्वीकार करती है, क्योकि सच्ची स्वाधीनता तो उच्चतर चैतन्यमे ही है। बुद्धि, फिर भी, प्रकृतिका ही एक उपकरण है और इसका जो कर्म होता है, वह चाहे अत्यत सात्विक ही हो, होता है प्रकृतिके द्वारा ही और पुरुष यंत्रारूढवत् चालित होता है मायाके द्वारा ही। किसी भी तरहसे देखिये, हमारी इस तत्कथित स्वाधीन इच्छाका नवदशांश स्पष्ट ही मिथ्या कल्पना है; यह इच्छा किसी नियत कालमे अपनी निजी स्वत:स्थित क्रियाके द्वारा उत्पन्न और निर्द्धारित नही होती, बल्कि इसकी उत्पत्ति और इसका निर्द्धारण होता है हमारे भूतकालके द्वारा, हमारे वशानुक्रमके द्वारा, हमारी शिक्षा-दीक्षाके द्वारा, हमारी परिस्थितिके द्वारा और हमारे पीछे यह जो दारुण जटिल चीज लगी हुई है, जिसे हम कर्म कहते है उसके द्वारा। यह कर्म क्या है? यह हमपर और जगत्पर अतीत कालमे प्रकृतिकी जो क्रिया हो चुकी है उसका समूह है जो हरएक व्यक्तिके अंदर केंद्रीभूत होता रहता है, और वह व्यक्ति जैसा है तथा किसी विशिष्ट कालमे उस व्यक्तिकी क्या इच्छा होगी और, जहातक विश्लेषण-द्वारा देखा जा सकता है वहातक, उस विशिष्ट कालमे उसकी क्रिया-तक क्या होगी, इसका निर्द्धारण भी यह कर्म ही करता है। प्रकृति-की इस क्रियाके साथ अहकार शामिल हो जाता और कहता है कि 'मैंने अमुक काम किया,' 'मै अमुक इच्छा कर रहा हूं,' 'मै अमुक दु:ख भोग रहा हूं,' कितु यदि वह अपने-आपको देखे और यह जाने कि वह कैसे बना है तो उसे, क्या मनुष्य-शरीरमे और क्या पशु-शरीरमें, यही कहना पड़ेगा कि 'प्रकृतिने मेरे अंदर यह काम किया, प्रकृति मेरे अंदर यह इच्छा कर रही है' और यदि इस प्रकृतिको वह 'अपनी प्रकृति' कहे तो इसका अर्थ यही है कि यह वही प्रकृति है जो उस व्यष्टि-प्राणीमे यह रूप धारण किये हुए है। जीवनके इस पहलूका बड़ा तीव्र अनुभव होनेसे ही बौद्धोंको यह कहना पड़ा कि सब कुछ कर्म ही है और यह कि जीवनमें कोई आत्मसत्ता नहीं,

आत्माकी भावना तो अहंबुद्धिका केवल एक भ्रम है। अहकार जब यह सोचता है कि "मै इस पुण्य कर्मको चुन लेता और इसका सकल्प करता हू, उस पाप कर्मका नही," तब वह इसके सिवाय और कुछ नही करता होता कि वह सत्त्वगुणकी किसी प्रधान लहर या सुसगठित धाराके साथ, जिसके द्वारा प्रकृति बुद्धिको अपना उपकरण बनाकर किसी एक प्रकारके कर्ममे किसी दूसरे प्रकारके कर्मको चुनना ही अधिक पसद करती है, अपने-आपको शामिल कर लेता है, जैसे कि किसी घूमते हुए पहियेपर बैठी हुई वह मक्खी जो यह समझती है कि यह मै ही घूम रही हू या किसी कल-पुरजेका एक दात या एक हिस्सा जो यदि उसको होश होता तो यही समझता कि यह मै ही तो घूम रहा हू। साम्य सिद्धातके अनुसार प्रकृति स्वय हमारे अदर गठित होती और हमारे अदर इच्छा करती है अकर्त्ता साक्षी पुरुषको प्रसन्न करनेके लिये।

परन्तु यद्यपि इस आत्यतिक वर्णनका सशोधन कर लेना आवश्यक है और आगे चलकर हम देखेगे कि इसे किस तरह करना होगा, तो भी हमारी इच्छाकी स्वाधीनता (यदि हम उसे स्वाधीनता कहना ही पसद करे) बहुत ही सापेक्षिक और अणुप्रमाण है, क्योकि इसके साथ बहुतसे नियामक तत्त्व मिले हुए है। इसकी जो प्रबलतम शक्ति है उसे भी हम प्रभुता तो नही ही कह सकते। इसका यह भरोसा तो नही ही किया जा सकता कि यह प्रत्येक घटनाके तीव्र वेगको या किसी दूसरेकी प्रकृतिके वेगको थाम सकेगी, जो उसे दबा देता या किसी प्रकार बदल देता अथवा उसमे मिल जाता है, और कुछ नही तो कम-से-कम छिपे-छिपे ही उसे धोखा देता या ठग लेता है। अत्यंत सात्विक बुद्धि भी राजस या तामस गुणोसे इतनी दब जाती या उनमें मिल जाती या उनके द्वारा ठगी जाती है कि उसमे सत्त्वका अंश केवल थोडासा ही रह जाता है और इसीसे एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है कि जिसमे मनुष्य अपने-आपको जबरदस्त धोखा दे बैठता है, इच्छाके न होते हुए भी और सर्वथा

निर्दोष रहते हुए भी कुछ-का-कुछ मान बैठना है और अपने-आपमे ही चीजोको छिपाने लगता है, जिस बातको मनोविज्ञानवेत्ताकी निर्मम दृष्टि मनुष्यके अच्छे-से-अच्छे काममे भी ढूढ निकालती है। जब हम यह सोचते है कि हम तो सर्वथा स्वच्छदतापूर्वक काम कर रहे है तब यथार्थमे हमारे कामके पीछे ऐसी शक्तिया छिपी हुई होती है जिन्हे अत्यत सावधानीसे आत्म-निरीक्षण करते हुए भी हम नही देख पाते, जब हम यह सोचते है कि हम अहकारसे मुक्त है, उस समय भी वहा जैसे असाधुके मनमे, वैसे ही साधुके मनमे, अहकार छिपा हुआ रहता ही है। जब हमारी आखे अपने कर्मो और उनके मूल स्रोतोको देखनेके लिये वास्तविक रूपमे खुलती है तब गीताके इन शब्दोको हमे कहना ही पडता है कि, "गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते", प्रकृतिके गुण ही गुणोमे बरत रहे है।

इसलिये सत्त्वगुणका बहुत अधिक प्राधान्य होना भी स्वतत्रता नही है। सत्त्व भी, जैसा कि गीताने कहा है, अन्य गुणोके समान ही बधनकारक है और यह भी अन्य गुणोकी तरह काम और अहकारके द्वारा ही बाधा करता है, अवश्य ही यह काम महत्तर और यह अहकार विशुद्धतर होता है, परतु जबतक ये दोनो किसी भी रूपमे जीवको बाधे हुए रहते है तबतक स्वतत्रताकी कोई बात नही है। पुण्यात्मा और ज्ञानी पुरुषका अहकार पुण्य और ज्ञानका अहकार होता है और इसी सात्त्विक अहकारकी तृप्ति वह चाहता है, वह अपने लिये ही पुण्य और ज्ञानकी इच्छा करता है। सच्ची स्वाधीनता तो तभी होती है जब हम अहकारकी तृप्ति करना बंद कर देते है, जब हम अहकारके आसनसे, हममे जो परिच्छिन्न "मै" है उसके आसनसे चितन और सकल्प करना बंद कर देते है। दूसरे शब्दोमें, स्वतत्रताका, उच्चतम आत्म-वशित्वका आरभ तब होता है जब हम अपने इस प्राकृत जीव-भावके ऊपर उस परम आत्माको देखे और पकड़े रहें जिसके और हमारे बीचमें यह अहंकार एक बाधक आवरण और आंखोंके आगे अंधेरा कर देनेवाली

एक छाया है। और यह तभी हो सकता है जब हम उस एक आत्माको अपने अंदर देखें जो प्रकृतिके ऊपर बैठा हुआ है और अपने व्यक्तिगत जीवकी सत्ता और चेतनाको उस परम आत्माकी सत्ता और चेतनाके साथ एक कर ले तथा अपनी व्यक्तिगत कार्य-करी प्रकृतिको उस अद्वितीय परम सकल्पशक्तिका एक यत्र बना लें जिसकी इच्छा ही एकमात्र स्वाधीन इच्छा है। इसके लिये हमें त्रिगुणके ऊपर उठना होगा, त्रिगुणातीत होना होगा, कारण यह आत्मा सत्त्वगुणके भी परे है। वहांतककी चढाई सत्त्वगुणसे होकर ही पूरी करनी होगी, पर हम पहुचेगे उसके निकट तभी जब हम सत्त्वगुणको पार कर जायंगे, हम अहकारमेसे ही उसकी ओर जायगे, पर उसके पास पहुंचेंगे तभी जब हम अहकारको छोड देगे। इच्छाओमें सबमे ऊंची, सबसे वेगवती, सबसे प्रबल और सबसे अधिक उल्लासमय इच्छा ही हमे उसकी ओर ले जायगी, पर उसमे हमारा स्थिर निश्चित वास होगा तभी जब सारी इच्छाए हममेसे झड़कर गिर जायंगी। एक अवस्था वह आयेगी जब हमे मुक्ति-की इच्छासे भी मुक्त होना होगा।

त्रैगुणातीत्य

मो, प्रकृतिके नियतृत्वकी व्याप्ति यहातक है और इसका साराश यही है कि जिस अहकारसे हमारे सारे कर्म होते है वह अहकार स्वयं ही प्रकृतिके कर्मका एक करण है और इसलिये वह प्रकृतिके नियत्रण-से मुक्त रह ही नही सकता; अहकारकी इच्छा प्रकृतिद्वारा निर्द्धारित इच्छा ही है, यह उस प्रकृतिका ही एक अग है जैसी कि वह अपने पूर्व कर्मों और परिवर्तनोके द्वारा हमारे अदर गठित हुई है और इस प्रकार गठित हममे जो प्रकृति है और उसके अदर जो इच्छा है वही हमारे वर्त्तमान कर्मका भी निर्द्धारण करती है। किसी-किसीने कहा है कि हमारे कर्मका मूलारभ तो सर्वथा हमारी स्वाधीन पसदसे ही होता है, पीछे जो कुछ हो वह भले ही उस कर्मके द्वारा निश्चित क्यो न होता हो, और हममे कर्मारभ करनेकी जो यह शक्ति है तथा इस प्रकार किये गये कर्मका हमारे भविष्यपर जो असर होता है वही हमे हमारे कर्मोंके लिये जिम्मेवार ठहराता है। परतु प्रकृतिके कर्मका वह मूलारभ ही कौनसा है जिसका नियंता कोई पूर्व कर्म न हो, हमारी प्रकृतिकी वह कौनसी वर्त्तमान अवस्था है जो समस्त रूपमे और ब्योरेवार भी हमारी पूर्व प्रकृतिके कर्मका परिणाम न हो? किसी स्वाधीन कर्मारभको हम इसलिये मान लेते है कि हम प्रतिक्षण अपनी वर्त्तमान अवस्थासे भविष्यकी अवस्थाकी ओर देखकर ही अपना जीवन बिताते है और सदा अपनी वर्त्तमान अवस्थासे अपने भूतकालकी अवस्थामे नही लौटते, इसलिये हमारे मनोमे वर्त्तमान और उसके परिणाम ही स्पष्ट रूपसे प्रतीत होते है, पर हमारा जो वर्त्तमान है, जो सर्वथा हमारे भूतकालका ही परिणाम है, इस बातकी हमें बहुत ही अस्पष्ट धारणा रहती है। भूतकालको तो हम लोग ऐसा समझते है कि वह तो मर गया, अब उससे क्या मत-

लब ! हम लोग बोलते और करते ऐसा ही है मानो इस विशुद्ध और अछूते क्षणमे हम अपने साथ जो चाहें करनेके लिये स्वाधीन है और ऐसा करते हुए हम अपनी पसदगीकी आतरिक स्वाधीनता-का ही पूर्ण उपयोग करते है। परन्तु इस तरहकी कोई पूर्ण स्वतत्रता नही है, हमारी पसदके लिये ऐसी कोई स्वाधीनता नही है।

अवश्य ही, हमारे अदर जो इच्छा है उसे सदा ही कतिपय सभा-वनाओमेसे कुछका चुनाव कर लेना पडता है क्योकि प्रकृतिके काम करनेका यही तरीका है, यहातक कि हमारी निश्चेष्टता, किसी प्रकारकी इच्छा करनेसे इनकार करना भी एक चुनाव ही है, प्रकृति-की हममे जो इच्छाशक्ति है उसका एक कर्म ही है; परमाणुके अदर भी एक इच्छाशक्ति सदा काम करती रहती है। अतर केवल इसी बातका है कि कौन कहातक प्रकृतिकी इस इच्छाशक्तिके साथ अपने-आपको जोड लेता है। जब हम अपने-आपको उसके साथ जोड लेते है तब हम यह सोचने लगते है कि यह इच्छा हमारी है और यह कहने लगते है कि यह एक स्वाधीन इच्छा है तथा यह कि हम ही तो कर्त्ता है। और यह चाहे भूल हो या न हो, भ्रम हो या न हो, 'अपनी' इच्छा, 'अपने' कर्मकी यह जो भावना है यह सर्वथा निरर्थक या निरुपयोगी नही है, क्योकि प्रकृतिके अदर जो कुछ भी है उस सबकी एक सार्थकता है, एक उपयोगिता है। यह हमारी सचेतन सत्ताकी ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हमारे अदर जो प्रकृति है वह अपने अन:स्थित निगूढ पुरुषकी अवस्थितिको अधिका-धिक जान लेती और उसके अनुकूल हो लेती है और इस ज्ञानवृद्धिके द्वारा कर्मकी एक महत्तर सभावनाकी ओर उद्घाटित होती है, इस अहभाव और व्यष्टिगत इच्छाकी सहायतासे ही यह अपनी उच्चतर संभावनाओकी ओर अपने-आपको ऊपर उठाती है, तामसी प्रकृतिकी नितांत या प्रबल निश्चेष्टतासे निकलकर राजसी प्रकृतिके आवेग और सघर्षको प्राप्त होती है और फिर राजसी प्रकृतिके आवेग और सघर्षसे निकलकर सात्विक प्रकृतिके महत्तर प्रकाश, सुख और

पावित्र्यको प्राप्त होती है। प्राकृत मनुष्य जो सापेक्षिक आत्म-वशित्व लाभ करता है वह उसकी प्रकृतिकी ही उच्चतर सभावनाओका निम्नतर सभावनाओके ऊपर आधिपत्य है और यह उसके अदर तब होता है जब निम्नतर गुणपर प्रभुता पानेके लिये, उसे अपने अधिकारमे करनेके लिये उच्चतर गुणकी जो चेष्टा होती है उसके साथ वह अपने-आपको जोड लेता है। स्वाधीन इच्छाका बोध चाहे भ्रम हो या नही, पर है वह प्रकृतिके कर्मका एक आवश्यक यत्र, और मनुष्यकी प्रगतिके कालमे इसका होना उसके लिये आवश्यक है तथा इसमे उच्चतर सत्यको ग्रहण करनेके लिये प्रस्तुत होनेके पूर्व ही इसे खो देना उसके लिये घातक होगा। यदि यह कहा जाय, जैसा कि कहा जा चुका है, कि प्रकृति अपने विधानोको पूरा करनेके लिये मनुष्यको भ्रममे डाला करती है और इस प्रकारके भ्रमोमे व्यष्टिगत इच्छाकी भावना सबसे जबरदस्त भ्रम है, तो इसके साथ यह भी कहना होगा कि यह भ्रम उसके भलेके लिये है और इसके बिना वह अपनी पूर्ण सभावनाओके उत्कर्षको नही प्राप्त हो सकता।

परतु यह निरा भ्रम नही है, केवल इतनी ही भूल है कि इसे ठीक तरहसे नही देखा जाता और इसको इसका उचित स्थान नही दिया जाता। अहंकार यह समझता है कि मै ही वास्तविक आत्मा हू और इस तरह कर्म करता है मानो कर्मका वास्तविक केद्र वही हो और सब कुछ मानो उसीके लिये हो, और यहीपर वह ठीक तरहसे नही देखनेकी तथा चीजोको उनका उचित स्थान नही देनेकी भूल करता है। यह सोचना गलत नही है कि हमारे अदर, हमारी प्रकृतिके इस कर्मके अंदर कोई चीज या कोई पुरुष ऐसा है जो हमारी प्रकृतिके कर्मका वास्तविक केद्र है और सब कुछ उसीके लिये है; परंतु वह यह अहंकार नही, बल्कि हृद्देशस्थित निगूढ ईश्वर है और वह जीव है जो अहंकारसे पृथक् है, जो ईश्वरकी सत्ताका ही एक अंश है। अहकारका स्वत्व-प्रकाश हमारे मनके अदर पड़ी हुई उस सत्यकी ही एक भग्न और विकृत छाया है जो यह बतलाता है

कि हमारे अंदर एक सदात्मा है जो सबका स्वामी है और जिसके लिये तथा जिसके आदेशसे ही प्रकृति अपने कर्ममें लगी रहती है। इसी प्रकार अहंकारकी अपनी स्वाधीन इच्छा होनेकी जो कल्पना है वह भी उस सत्यका ही एक विकृत और अस्थानन्यस्त भाव है जो यह बतलाता है कि हमारे अंदर एक स्वाधीन आत्मा है और प्रकृतिकी इच्छा उसीकी इच्छाका परिवर्तित और आंशिक प्रतिबिब है, परिवर्तित और आशिक इसलिये कि यह इच्छा क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाले कालके अदर रहती और सतत नये-नये ऐसे रूप धारण करके काम करती है जो अपने पूर्व रूपोको बहुत कुछ भूले रहते और खास अपने ही परिणामो और लक्ष्योको पूरा-पूरा नही जानते। परंतु जो इच्छाशक्ति अदर है, जो क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाले कालके परे है, वह इन सबको जानती है, और प्रकृतिका जो कर्म हमारे अदर होता है वह, यह कह सकते है कि, इसी बातका प्रयास है कि अत:स्थित इच्छाशक्ति और ज्ञानके द्वारा पूर्ण विज्ञानमय प्रकाशमे जो कुछ पहलेमे देखा जा चुका है उसीको, यह प्राकृत और अहभावापन्न अज्ञानकी बडी कठिन अवस्थाओमेसे होकर, कार्य-रूपमे परिणत किया जाय।

परंतु हमारी प्रगतिके अदर एक समय निश्चय ही ऐसा आयेगा जब हम इसके लिये तैयार होगे कि हम अपनी आखोको अपनी सत्ताके वास्तविक सत्यको देखनेके लिये खोले और तब अहंभावापन्न स्वाधीन इच्छाका जो भ्रम हममे है वह अवश्य ही दूर हो जायगा। अहंभावापन्न स्वाधीन इच्छाकी भावनाके त्यागका अर्थ यह नहीं है कि कर्म बंद हो जायगा, क्योकि कर्म करनेवाली तो प्रकृति है और वह इस अहंभावापन्न इच्छारूपी यंत्रको हटा देनेपर भी अपना कर्म वैसे ही करती रहेगी जैसे कि वह उस समय करती थी जब प्रकृतिके विकासक्रमकी प्रक्रियामें यह यंत्र उपयोगमें नंही लाया गया था। यही नही बल्कि प्रकृतिके लिये यह भी संभव हो सकता है कि जिस मनुष्यने इस यत्रका परित्याग कर दिया हो उसके अंदर वह

और भी महत्तर कर्मका विकास कर सके; क्योकि ऐसे मनुष्यका मन इस बातको और अच्छी तरहसे जान सकेगा कि उसकी प्रकृति अपने ही कर्मके फलस्वरूप इस समय कैसी बनी है, उसमे यह जाननेकी अधिक क्षमता होगी कि जो शक्तिया उसके इर्द-गिर्द है उनमें कौन उसके विकासमे साधक और कौन बाधक है, तथा वह इस बातसे भी अधिक अवगत होगा कि कौन-कौनसी महत्तर सभावनाए उसकी प्रकृतिके अदर छिपी पडी है जो अभी अव्यक्त है, लेकिन व्यक्त होनेकी ताकत रखती है; और यह मन जिन महत्तर सभावनाओको देखता है उन्हे कार्यमे परिणत करनेके लिये पुरुषकी अनुमतिको प्राप्त करनेका एक अधिक खुला हुआ स्रोतमार्ग बन सकता है तथा प्रकृतिको इस अनुमतिके अनुगत कर लेनेका एक अबाध यंत्र, और इससे यह होना है कि प्रकृति इन सभावनाओको विकसित और सिद्ध करनेमे लग जाती है। परतु स्वाधीन इच्छाका त्याग, अपने वास्तविक आत्माका किसी रूपमे आभास पाये बिना, केवल अदृष्ट-वादको मानकर या प्रकृतिके नियतृत्वको मानकर ही, नही होना चाहिये; क्योकि तब तो अहकारको ही हम अपना आत्मा जानते रहेगे और अहंकार सर्वदा ही प्रकृतिका करण होनेसे हम अहकारसे ही कर्म करते रहेगे और हमारी इच्छा प्रकृतिका एक यत्रमात्र बनी रहेगी, इससे हमारे अदर कोई वास्तविक परिवर्तन न होगा, केवल हमारे बौद्धिक भावमे कुछ फेर-फार हो जायगा। तब हमने अपनी अहमात्मक सत्ता और कर्मका प्रकृतिद्वारा नियत्रित किये जानेका जो व्यावहारिक सत्य है उसे तो स्वीकार कर लिया होगा, अपनी अधीनताको भी देख लिया होगा, कितु अपने अदर जो हमारा अज आत्मा है, जो गुणोके कर्मसे परे है, उसे नही देख पाया होगा, हमने यह नही देख पाया होगा कि हमारी मुक्तिका द्वार कहां है। प्रकृति और अहंकार ही हमारी संपूर्ण सत्ता नही है, मुक्त पुरुष भी है।

परंतु पुरुषकी इस स्वाधीनताका स्वरूप क्या है? प्रचलित सांख्य दर्शनके अनुसार पुरुष अपनी मूल सत्तामें स्वाधीन है, कितु इस

स्वाधीनताका कारण यह है कि वह अकर्त्ता है; वह अपने अकर्तृ-स्वरूपपर प्रकृतिके कर्मकी जो छाया पडने देता है उसीसे वह त्रिगुणके कर्मोद्वारा बाह्यतः बध जाता है और अपनी स्वाधीनताको फिरमे तब ही पा सकता है जब वह प्रकृतिमे अपना सबध तोड दे और उसके फलस्वरूप प्रकृतिके कर्म बद हो जायं। इस तरह यदि कोई अपने चित्तमे इस विचारको हटा दे कि मै कर्त्ता हू या ये मेरे कर्म है और गीताके उपदेशानुसार अपने-आपको अकर्त्ता जाने (आत्मान अकर्त्तारम्) तथा सब कर्मोको अपने नही बल्कि प्रकृतिके जाने, उन्हे उसके गुणोके खेलके रूपमे देखे और इसी बुद्धिमे स्थित हो जाय, तो क्या इसका परिणाम वैसा ही नही होगा? साख्यका पुरुष अनुमंता है, पर उसकी अनुमति निष्क्रिय है, कर्म सारा प्रकृतिका है; यह पुरुष साररूपसे केवल साक्षी और भर्त्ता है, जगदीश्वरका नियामक सक्रिय चैतन्य नही। यह वह पुरुष है जो देखता और ग्रहण करता है, जैसे कोई दर्शक अपने सामने होनेवाले अभिनय-को देखता और ग्रहण करता है, वह पुरुष नही जिसने उस अभि-नयको तैयार किया, अपनी सत्ताके अदर ही खेला और फिर उस-का साथ-साथ संचालन भी करता है और दर्शक बनकर देखता भी है। इसलिये यदि यह पुरुष प्रकृतिके कर्मसे अपनी अनुमति हटा लेता है, यदि उस मिथ्या कर्तृत्वाभिमानको त्याग देता है जिससे प्रकृतिका यह सारा खेल जारी रहता है, तो वह उसका भर्त्ता भी नही रह जाता और कर्म बंद हो जाता है, क्योकि साक्षी चैतन्य पुरुषकी प्रसन्नताके लिये ही प्रकृति यह खेल खेलती और उसीका आश्रय पाकर ही उसे जारी रख सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुरुष-प्रकृति-संबधके विषयमे गीताकी जो धारणा है वह वही नही है जो साख्यकी है, कारण एक ही साधनमे दोनोमे दो परस्पर सर्वथा भिन्न परिणाम होते है; साख्यके अनुसार पुरुषके मुक्त होते ही कर्म बंद हो जाता है और गीताके अनुसार पुरुषकी मुक्तिका अर्थ है किसी महान्, किसी निःस्वार्थ, किसी दिव्य कर्मका होना।

सांख्य सिद्धांतमें पुरुष और प्रकृति दो भिन्न सत्ताएं है, गीतामे ये दोनों एक ही स्वत.सिद्ध सत्ताके दो पहलू है, दो शक्तिया है; पुरुष यहा केवल अनुमता ही नही है, बल्कि प्रकृतिका ईश्वर है और प्रकृतिके द्वारा वह जगत्-लीलाको भोगता है, प्रकृतिके द्वारा दिव्य सकल्प और ज्ञानको जगत्‌की उस योजनाके अदर क्रियान्वित करता है जिसको वह अपनी अनुमतिद्वारा धारण किये रहता है और जो उसीकी सर्वव्यापी अवस्थितिमे उसीकी सत्तामे स्थित है, जो उसीकी सत्ताके विधानसे तथा उसमे जो सचेतन सकल्प है उससे सचालित है। इस पुरुषकी दिव्य सत्ता और स्वभावको जानना, उसके अनुकूल होना और उसमे रहना ही अहकार और उसके कर्म-से निवृत्त होनेका हेतु है। इससे मनुष्य त्रिगुणकी निम्न प्रकृतिसे ऊपर उठकर उच्चतर दिव्य प्रकृतिको प्राप्त होता है।

यह ऊपर उठना जिस क्रियाके द्वारा नियत्रित होता है वह प्रकृति-के साथ पुरुषका जो सबंध है उसमें पुरुषकी जो जटिल स्थिति है उससे पैदा होती है, त्रिविध पुरुषका गीतोक्त सिद्धात ही इसका आधार है। जो पुरुष प्रकृतिकी क्रियाको, उसके परिवर्तनोको, उसके आनुक्रमिक भूतभावोको सीधा अनुप्राणित करता है वह क्षर पुरुष है, वह जो प्रकृतिके परिवर्तनोके साथ परिवर्तित होतासा और प्रकृतिकी गतिके साथ चलतासा मालूम होता है, यह वह व्यष्टि पुरुष है जो प्रकृतिके सतत कर्म-प्रवाहसे अपने व्यक्तित्वमे होनेवाले परिवर्तनोके साथ तदाकार हुआ चलता है। यहा प्रकृति क्षर है, जो कालके अदर सतत प्रवाहित और परिवर्तित होती रहती है, उसका सदा उद्‌भव होता रहता है। परतु यह प्रकृति पुरुषकी ही केवल कार्यकारिणी शक्ति है; क्योकि पुरुष जो कुछ है उसीसे प्रकृतिका भूतभाव बन सकता है, उसकी संभूतिकी सभावनाओंके अनुसार ही वह कर्म कर सकती है, यह उसकी सत्ताके भूतभावको ही कार्यान्वित करती है। उसका कर्म स्व-भावद्वारा, पुरुषकी आत्म-संभूतिके विधानद्वारा, नियत्रित होता है, यद्यपि, चूकि

प्रकृति पुरुषके भूतभावको व्यक्त करनेवाली कार्यकारिणी शक्ति है इसलिये प्रायः ऐसा दीखता है कि कर्म ही स्वभावको नियत करता है। जो कुछ हम है उसीके अनुसार हम कर्म करते है, और अपने कर्मके द्वारा हम विकसित होते तथा जो कुछ हम है उसे सिद्ध करते है। प्रकृति कर्म है, परिवर्तन है, भूतभाव है और वह शक्ति है जो इन सबको कार्यमे परिणत करती है, परतु पुरुष वह चित्स्वरूप सत् है जिससे यह शक्ति निःसृत होती है, जिसकी प्रकाशमान चेतनासे ही उसने यह इच्छा पायी है जो परिवर्तित होती रहती है और जो अपने परिवर्तनोको उस प्रकृति-के कर्मोमे अभिव्यक्त करती रहती है। और यह पुरुष एक है और अनेक भी, यही वह एक प्राणसत्ता है जिसमेसे सारा जीवन बनता है और यही सब प्राणी भी है, यही विश्व-सत्ता है और यही 'सर्वभूतानि' है, क्योकि ये सब है 'एक' ही, ये सब जो असख्य पुरुष है, है अपने मूल स्वरूपमें एकमेव अद्वितीय पुरुष ही। परतु प्रकृतिके अदर अहंभावका यह जो यत्र है, जो प्रकृतिके कर्मका ही एक अग है, वह मनको इस बातके लिये प्रवृत्त कर लेता है कि वह पुरुषकी चेतनाको तात्कालिक परिच्छिन्न भूतभावके साथ, देश-काल-मर्यादित किसी विशिष्ट क्षेत्रमे प्रकृतिकी जो सक्रिय चेतना है उसके साथ, प्रकृतिका जो पूर्व-कर्म-समूह है उसके क्षण-क्षणपर होनेवाले फल के साथ, तदाकार कर ले। एक तरहसे यह संभव है कि इन समस्त जीवोकी एकताको स्वय प्रकृतिके अदर ही अनुभव किया जा सके और विश्वप्रकृतिके अखिल कर्मके अदर व्यक्त जो विराट् पुरुष है उसको जाना जा सके, यह जाना जा सके कि प्रकृति पुरुषको अभिव्यक्त करती है और पुरुष ही प्रकृति बनता है। परंतु यह अनुभव करना और जानना विराट् भूतभावको ही जानना है, जो कोई मिथ्या या असत् भाव नही है, किंतु केवल इसी ज्ञानसे हमें आत्माका सच्चा ज्ञान नही मिलता; क्योंकि हमारा जो वास्तविक आत्मा है

वह सदा ही इससे भी कुछ अधिक है और इसके परे है।

कारण, प्रकृतिमे व्यक्त और उसके कर्ममे बद्ध जो पुरुष है उसके परे पुरुषकी एक और स्थिति है, जो केवल एक स्थितिशील अवस्था है, वहा कर्म बिलकुल नही है; वह पुरुषकी नीरव निश्चल, सर्वगत, स्वत स्थित, अचल, अक्षर आत्मसत्ता है, भूतभाव नही। क्षरभावमे पुरुष प्रकृतिके कर्ममें फसा है, इसलिये वह कालके मुहूर्त्तोंमे, भूतभावकी तरगोमे केद्रीभूत है, मानो अपने-आपको खो बैठा है, पर यह खो बैठना वास्तविक नही, यह केवल ऐसा दिखायी ही देता है और चूकि यहां पुरुष भूतभावके प्रवाहका अनुसरण करता ह इसीलिये ऐसा जान पड़ता है। अक्षरभावमे प्रकृति पुरुषके अदर शाति और विश्रातिको प्राप्त होती है, इस कारण पुरुष अपने अक्षर स्वरूपको जान जाता है। क्षर सांख्योक्त पुरुषकी वह अवस्था है जब वह प्रकृतिके गुणोके नानाविध कर्मोंको प्रतिबिबित करता और अपने-आपको सगुण, व्यष्टि-पुरुष जानता है; अक्षर सांख्योक्त पुरुषकी वह अवस्था है जब ये गुण साम्यावस्थाको प्राप्त होते है और वह अपने-आपको निर्गुण, नैर्व्यक्तिक पुरुष जानता है। इसलिये क्षर पुरुषकी जहा यह अवस्था है कि वह प्रकृतिके कर्मके साथ युक्त होकर कर्त्ता भासित होता है वहां अक्षर पुरुष गुण-कर्मोंसे सर्वथा अलग, निष्क्रिय, अकर्त्ता और साक्षीमात्र रहता है। मनुष्यका आत्मा जब क्षरभावमे आता है तब वह व्यक्तित्वके खेलके साथ एक हो जाता और प्रकृतिगत अहंभावसे अपने स्वरूपज्ञानको ढक लेता है और इस तरह वह अपने-आपको कर्मोंका कर्त्ता समझने लगता है; और जब यह आत्मा अक्षर भावमें आता है तब वह अपने-आपको नैर्व्यक्तिक भावके साथ एक कर लेता और यह जान लेता है कि कर्त्री प्रकृति है, हम तो निष्क्रिय अकर्त्ता साक्षी पुरुष है। मनुष्यके मनको इन दो भावोंमेंसे किसी एक भावकी ओर झुकना पड़ता है, मन इन दो भावोको यह समझकर ग्रहण

करता है कि ये सर्वथा अलग-अलग है—या तो वह गुण और व्यक्तित्वके क्षरभावमय कर्ममे जाकर प्रकृतिके द्वारा बध जाता है, नही तो अक्षर नैर्व्यक्तित्वमे जाकर प्रकृतिकी क्रियाओमे मुक्त हो जाता है।

परतु यथार्थमे पुरुषका आत्मपद और अक्षरत्व तथा प्रकृतिके अंदर उसका कर्म और क्षरत्व, ये दोनो एक साथ ही रहा करते है। और ये जो दो परस्पर-विरोधी बाते है इनके समाधानके लिये या तो मायावाद जैसे किसी वादका ही आश्रय करना पडता या आत्मा-को उभयविध और विभक्त ही मान लेना पडता यदि आत्माका कोई परम भाव नही होता, जिसके ही ये दो विपरीत पहलू है, पर जो स्वय इनमेंसे किसीसे सीमित नही है। हमने यह देखा है कि इस परम भावको गीता पुरुषोत्तमकी भावनामे पाती है। वे परम पुरुष ईश्वर है, भगवान् है, 'सर्वभूतमहेश्वर' है। ये परम पुरुष अपनी प्रकृतिको—गीताके शब्दोमे 'स्वा प्रकृति' को—अपने अंदरसे बाहर निकालते है जो जीवमे प्रकट होती है और जो क्रिया-न्वित की जाती है प्रत्येक जीवके स्वभावके द्वारा—यह जीव अपने अन्तःस्थित भागवत सत्ताके धर्मके अनुसार बरतेगा और उसका यह काम होगा कि इस धर्मकी महान् धाराओका अनुसरण करे। भगवान्की यह शक्ति अहभावापन्न प्रकृतिमे भी गुणोके एक दूसरे-पर हो रहे भ्रामक खेलके द्वारा क्रियान्वित होती है (गुणागुणेषु वर्तन्ते)। यह त्रैगुण्यमयी माया है जिसे पार करना मनुष्यके लिये बडा ही कठिन है (दुरत्यया), फिर भी त्रिगुणको पार कर इसके परे पहुचा जा सकता है। क्योकि ईश्वर जब क्षरभावके अदर अपनी प्रकृति-शक्तिके द्वारा यह सब कर रहे होते है, तब भी वे अपने अक्षर-भावमे इस सबसे अलिप्त और उदासीन रहते है, वे सबको समदृष्टिसे देखते है, सबके अंदर प्रसारित है, और फिर भी सबके परे रहते है। तीनो अवस्थाओमे वे ही स्वामी है; उत्तम भावमें वे परमेश्वर है, अक्षर भावमें सबके अध्यक्ष (प्रभु) और

सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म (विभु) है, और क्षर भावमें सर्वव्यापी भगवत्सकल्प और सर्वत्र विद्यमान सक्रिय ईश्वर है। वे अपने व्यक्तित्वका खेल खेलते हुए भी अपने निर्गुण स्वरूपमे नित्यमुक्त है, वे न तो केवल निर्गुण है न केवल सगुण ही, बल्कि सगुण और निर्गुण उस एक ही सत्ताके दो पहलू है, उपनिषद्ने इनको 'निर्गुणो गुणी' कहा है। किसी घटनाके घटनेसे पहले ही उन्होने उसका सकल्प किया हुआ होता है—तभी तो वे अभी भी जीते-जागते धार्त्त-राष्ट्रोके सबधमे कहते है कि "मयैव निहिता पूर्वमेव" (मै उन्हे पहले ही मार चुका हू)—और प्रकृति जिस किसी कामका सपादन करती है वह केवल उन्हीके सकल्पका परिणाममात्र होता है; फिर भी चूकि उनके व्यष्टि-स्वरूपके पीछे उनका नैर्व्यक्तिक स्वरूप रहता है इसलिये वे अपने कर्मोसे नही बधते (कर्त्तारम् अकर्त्तारम्)।

परतु कर्म और भूतभावके साथ अपनेको अज्ञानवश तादात्म्य कर लेनेके कारण मनुष्य अहंकार-विमूढ हो जाता ह, वह कर्म और भूतभावको ही अपना समग्र आत्मा जानने लगता है, उसे यह ज्ञान नही रहता कि ये उसकी आत्माकी ही वह शक्ति है जो उसकी आत्मासे ही नि.सृत होती है। वह सोचता है कि सब कुछ हम और दूसरे-दूसरे लोग ही तो कर रहे है और वह यह नही देख पाता कि सारा कर्म प्रकृति कर रही है और अज्ञान तथा आसक्ति-के कारण प्रकृतिके कर्मोको वह गलत समझता और विकृत ही करता है। गुणोने उसको अपना गुलाम बना रखा है, कभी तमो-गुण उसे जडतामे धर दबाता है, कभी रजोगुणकी जोरदार आधी उसे उड़ा ले जाती है तो कभी सत्त्वगुणका आशिक प्रकाश उसे बाध रखता है और वह यह नही देख पाता कि वह अपने प्राकृत मनसे अलग चीज है और गुणोके द्वारा जो फेर-फार होता है वह तो केवल प्राकृत मनका ही होता है। इसीलिये सुख और दुःख, हर्ष और शोक, काम और क्रोध, आसक्ति और जुगुप्सा उसे अपने वशमे कर लेते है, उसे जरा भी स्वाधीनता नही रहती।

मुक्त होनेके लिये उसे प्रकृतिके कर्मसे लौटकर अक्षर पुरुषकी स्थितिमें आ जाना होगा; तब वह त्रिगुणातीत होगा। अपने-आपको अक्षर, अविकार्य, अपरिवर्तनीय पुरुष जानकर वह अपने-आपको अक्षर, निर्गुण आत्मा जानेगा और प्रकृतिके कर्मको स्थिर शांतिके साथ देखेगा तथा उसे निष्पक्षभावसे सहारा देगा, पर खुद स्थिर, उदासीन, अलिप्त, अचल, विशुद्ध तथा सब प्राणियोके साथ उनके आत्मामें एकीभूत रहेगा, प्रकृति और उसके कर्मके साथ नही। यह आत्मा यद्यपि अपनी उपस्थितिसे प्रकृतिको कर्म करनेका अधिकार देता है, यद्यपि अपनी सर्वव्यापी सत्ताद्वारा प्रकृतिके कर्मोको सहारा देता है, उन्हें अनुमति देता है, अर्थात् यद्यपि यह प्रभु है विभु है, फिर भी यह कर्म या कर्त्तृत्व या कर्मफलसयोगका सृजन नही करता, बल्कि क्षरभावमे प्रकृतिके द्वारा होनेवाले इन सब कर्मोको केवल देखता रहता है*; इस जन्मके अदर आये हुए किसी भी प्राणीके पाप और पुण्यको अपना मानकर उन्हें यह अपने सिरपर नही ओढता "नादत्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृत विभुः;" यह अपनी आध्यात्मिक विशुद्ध दिव्य स्थितिमे बना रहता है। अज्ञानसे विमूढ़ अहंकार ही इन सब चीजोको अपनी मान लेता है क्योकि यह कर्त्तापनकी जिम्मेवारीको अपने ऊपर ओढ़ लेता है और अपनेको उसी रूपमे देखना पसद करता है, न कि अपने असली रूपमें जिसमे यह किसी महत्तर शक्तिका एक यंत्रमात्र है, "अज्ञानेनावृतं ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तवः।" निर्गुण, नैर्व्यक्तिक आत्मस्थितिमें लौटकर जीव महत्तर आत्म-ज्ञानको फिरसे पा जाता और प्रकृतिके कर्मबंधनसे मुक्त हो जाता है, प्रकृतिके गुण तब उसे स्पर्श नही करते, उसके शुभाशुभ और सुख-दुःखके दृश्योंसे वह अलिप्त रहता है। प्राकृत सत्ता, मन-प्राण-शरीर अभी भी रहते

*न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

है, प्रकृति अब भी कर्म करती है; पर आतरिक सत्ता अपने-आपको इनके साथ तदाकार नही करती, न यह उस समय सुखी या दुखी ही होती है जब कि प्राकृत सत्तामे गुणोकी क्रीडा हो रही होती है। अब वह जीव स्थिर, मुक्त, सर्वसाक्षी अक्षर ब्रह्म हो जाता है।

क्या यही परम पद, परम प्राप्तव्य, उत्तम रहस्य है? नही, यह नही हो सकता, क्योकि यह मिश्रित या विभक्त अवस्था है, पूर्ण समन्वित पद नही; यह द्विविध सत्ता है, एकीभूत स्वरूप नही, यहा आत्मामे तो मुक्ति है पर प्रकृतिमे अपूर्णता है। यह केवल एक अवस्था हो सकती है। तब इसके परे क्या है? एक समाधान उन सन्यासवादियोका है जो प्रकृतिका, कर्मका सर्वथा त्याग कर देते है, कम-से-कम कर्मका उतना त्याग कर देते है जितना कि संभव है, इसलिये कि विशुद्ध अविभक्त मुक्तस्थिति प्राप्त हो; किंतु गीता इस समाधानको स्वीकार तो करती है पर इसे उत्तम नही मानती। गीता भी कर्मोके सन्यासपर जोर देती है (सर्वकर्माणि संन्यस्य) पर यह ब्रह्मको आतरिक अर्पण है। क्षर भावमे ब्रह्म प्रकृतिके कर्मको पूरा-पूरा सहारा देता है और अक्षरभावमे ब्रह्म, कर्मको सहारा देते हुए भी उससे अलग रहता है, अपने मुक्त स्वरूपको कायम रखता है, अक्षर ब्रह्मके साथ युक्त व्यष्टि-पुरुष मुक्त और प्रकृतिसे अलग रहता है, फिर भी क्षरमें स्थित ब्रह्मके साथ युक्त रहकर वह कर्मको सहारा देता है पर उससे लिप्त नही होता। यह द्विविध भाव उत्तम प्रकारसे तब होता है जब वह यह देख लेता है कि एक पुरुषोत्तमके ही ये दो पहलू है। पुरुषोत्तम सब भूतोमे निगूढ अतर्यामी ईश्वर-रूपसे रहते हुए प्रकृतिका नियत्रण करते है और उन्हीकी इच्छासे, जो अब अहभावसे विकृत या विरूप नही है, प्रकृति स्वभाव-नियत होकर कर्मसंपादन करती है; और व्यष्टि-पुरुष दिव्यीकृत प्राकृत सत्ताको भगवत्सकल्प-साधनका एक यंत्रमात्र (निमित्तमात्र) बना देता है। वह कर्म करता हुआ भी त्रिगुणातीत, निस्त्रैगुण्य ही बना रहता है और गीताने आरंभमे ही

जो आदेश किया कि, "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" (हे अर्जुन ! तू निस्त्रैगुण्य हो जा) उसे अंतमें पूर्णतया कार्यतः सफल करता है। अभी भी वह गुणोका भोक्ता है जैसा कि ब्रह्म है अर्थात् भोक्ता होने-पर भी उनसे बद्ध नही (निर्गुणं गुणभोक्तृच) और ब्रह्मकी ही तरह अनासक्त होकर भी सबका भर्त्ता है (असक्तं सर्वभृत्) पर गुणोंकी जो क्रिया उसके अंदर होती है उसका स्वरूप बिलकुल बदल जाता है, यह क्रिया गुणोके अहमात्मक रूप और प्रतिक्रियाओसे ऊपर उठी रहती है। क्योकि उसने अपनी सपूर्ण सत्ताको पुरुषो-त्तमके अंदर एकीभूत कर लिया है, वह भागवत सत्ता और भूतभाव-की उच्चतम दिव्य प्रकृतिको (मद्भावम्) प्राप्त हो गया है, और अपने मन और चित्तको भी भगवानके साथ एक कर लिया है (मन्मना, मच्चित्तः)। यह रूपातर ही प्रकृतिका चरम विकास और दिव्य जन्मकी परम सिद्धि है, यही "उत्तम रहस्य" है। यह ससिद्धि जब प्राप्त हो चुकती है तब पुरुष अपनेको अपनी प्रकृति-का स्वामी जानता है और, भागवत ज्योतिकी ही एक ज्योति तथा भगवदिच्छाकी ही एक इच्छा बनकर अपनी प्रकृतिकी क्रियाओको दिव्य कर्ममें रूपातरित करनेमें समर्थ होता है।

निर्वाण और संसारमें कर्म

गीताकी सपूर्ण शिक्षा है अपनी समग्र सत्ताके योगके द्वारा जीवका पुरुषोत्तमके साथ एक हो जाना। यह केवल अक्षर पुरुषके साथ एक हो जाना नही है, जैसा कि उस सकीर्णतर सिद्धातमे बतलाया गया है जो मात्र ज्ञानमार्गका अनुसरण करता है। यही कारण है कि ज्ञान और कर्मका समन्वय साधनेके पश्चात् गीताने कर्म और ज्ञानसे युक्त प्रेम और भक्तिकी भावनाका विकास करके यह बतलाया है कि जिस मार्गके द्वारा उत्तम रहस्यतक पहुचा जा सकता है उस मार्गकी सर्वोच्च भूमि यही है। यदि अक्षर ब्रह्मके साथ एक हो जाना ही एकमात्र रहस्य या परम रहस्य होता तो कर्म और ज्ञानसे युक्त प्रेम और भक्तिका साधन सभव न होता क्योकि तब साधनामे एक ऐसी अवस्था आ ही जाती जब प्रेम और भक्तिके लिये जो हमारा आतरिक आधार है वह कर्मके आतरिक आधारके समान ही चूर-चूर होकर ढह जाता। केवल अक्षर पुरुषके साथ सपूर्ण और अनन्य एकताका अर्थ होता है क्षर पुरुषके दृष्टिबिदुको सर्वथा नष्ट कर देना। यह, हीनतर कर्ममे जो क्षर पुरुषकी सत्ता है केवल उस दृष्टिबिदुको नष्ट करना ही नही है, बल्कि स्वय उसके मूलको भी, जो कुछ उसकी सत्ताको संभव बनाता है उस सबका भी, इनकार करना है, यह केवल उसकी अज्ञानावस्थाके कर्मका ही नही, प्रत्युत् उसकी ज्ञानावस्थाके कर्मका भी इनकार करना है। इसका अर्थ है मानवजीवकी और भगवान्की चेतना तथा कर्मण्यतामें जो भेद है, जिसके कारण ही क्षरभावकी लीला सभव होती है, उसको नष्ट कर देना; कारण तब क्षर पुरुषका कर्ममात्र केवल अज्ञानका खेल रह जायगा और उसके मूलमे या उसके आधारस्वरूप कोई भागवत

सद्वस्तु नही रहेगी। इसके विपरीत, योगके द्वारा पुरुषोत्तमके साथ एक होनेका अर्थ होता है अपनी स्वत.स्थित सत्तामे तो उनके साथ एकत्वका ज्ञान और आस्वादन तथा अपनी क्रियाशील सत्ता-मे उनके साथ एक विशेष प्रकारके भेदभावका ज्ञान और आस्वा-दन। दिव्य प्रेमकी प्रेरक-शक्तिद्वारा परिचालित और मसिद्ध दिव्य प्रकृतिद्वारा अनुष्ठित दिव्य कर्मोकी लीलामें सक्रिय सत्ता और पुरुषोत्तमके बीच उपर्युक्त विशेष प्रकारके भेदभावका बना रहना तथा आत्माके अंदर भगवान्‌की उपलब्धिके स्वरमे मिला हुआ जगत्‌के अदर भगवान्‌का दर्शन होना, इन दो कारणोसे ही मुक्त पुरुषके लिये कर्म और भक्ति करना सभव होता है, केवल सभव ही नही, बल्कि उसके सिद्ध स्वभावके लिये अपरिहार्य होता है।

परतु पुरुषोत्तमके साथ एकता स्थापित करनेका सीधा रास्ता अक्षर ब्रह्मकी सुदृढ अनुभूतिमेसे होकर ही है, और इस बातपर गीताने जो बहुत जोर दिया है और यह कहा है कि ऐसा करना जीवकी पहली आवश्यकता है,—और इसको प्राप्त कर लेनेके बाद ही कर्म और भक्ति अपने परम दिव्यार्थको प्राप्त होगे—इसीसे यह होता है कि हम गीताके आशयको समझनेमे भूल कर जाते है। कारण यदि हम केवल उन्ही श्लोकोको देखे जिनमे इस आवश्य-कतापर जोरदार आग्रह किया गया है और गीताकी विचारधारा-के पूर्वापरका पूर्ण विचार न करे तो हम अनायास ही इसी निर्णय-पर पहुंचेगे कि गीता वास्तवमे यह शिक्षा देती है कि कर्महीन लय ही जीवकी परम गति है और कर्म, अविचल अक्षर पुरुषमे जाकर शांत हो जानेका प्राथमिक साधनमात्र है। पाचवे अध्यायके अतमें और छठे अध्यायमे सर्वत्र यही आग्रह अत्यत प्रबल और व्यापक है। वहा एक ऐसे योगका वर्णन है जो पहली नजरमें कर्ममार्गसे विसंगत ही प्रतीत होगा और वहां बार-बार, योगी जिस पदको प्राप्त होता है उसकी सूचना 'निर्वाण' शब्दसे ही की गयी है।

इस पदका लक्षण है निर्वाणकी परम शांति (शांति निर्वाण परमा) और शायद इस बातको स्पष्ट करनेके लिये ही कि यह निर्वाण बौद्धोंका शून्य निर्वाण नहीं है बल्कि यह आंशिक सत्ताका पूर्ण सत्तामें वैदांतिक लय है, गीताने सदा ही ब्रह्म-निर्वाण शब्दका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है ब्रह्ममें विलीन होना, और यहां 'ब्रह्म' शब्दसे अवश्य ही अभिप्राय है अक्षर ब्रह्मका, कम-से-कम मुख्यतः उस अंतःस्थ कालातीत आत्माका जो बाह्य प्रकृतिमें व्यापक होते हुए भी सक्रिय रूपमें उसमें कोई भाग नहीं लेता। इसलिये हमें यह देखना होगा कि यहां गीताका आशय क्या है, विशेषकर यह कि यह शांति क्या पूर्ण नैष्कर्म्यकी शांति ही है और क्या अक्षर ब्रह्ममें निर्वाण होनेका अभिप्राय क्षरके संपूर्ण ज्ञान और चैतन्यका तथा क्षरमें होनेवाले संपूर्ण कर्मका सर्वथा परिहार ही है? हम लोगोंको कुछ ऐसा अभ्यास पड़ा हुआ है कि हम लोग निर्वाण और किसी प्रकारके जगत्जीवन और कर्मको एक दूसरेसे सर्वथा विसंगत मानते हैं और हम लोग यहांतक भी कह डालना चाहते हैं कि 'निर्वाण' शब्दका प्रयोग स्वयं ही इस प्रश्नका निर्णय और पूर्ण उत्तर है। परन्तु यदि हम बौद्ध मतका ही सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करें तो हमको भी संदेह होगा कि क्या यह विरोध बौद्धोंके यहां भी यथार्थतः था; और यदि हम गीताको अच्छी तरह देखें तो यह देख पड़ेगा कि यह विरोध वेदांतकी परम शिक्षाके अंदर नहीं है।

ब्रह्मकी चेतनामें जो ऊपर उठ चुका है ऐसे ब्रह्मवेत्ताकी (ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः) पूर्ण समताकी चर्चा करनेके बाद उसके परवर्त्ती नौ श्लोकोंमें गीताने ब्रह्मयोग और ब्रह्मनिर्वाणसंबंधी अपनी भावनाको विस्तारके साथ कहा है। उसने अपना कथन यों आरंभ किया है, "जब बाह्य पदार्थोंमें जीवकी कोई आसक्ति नहीं रह जाती तब उस मनुष्यको वह सुख मिलता है जो आत्मामें है; ऐसा व्यक्ति अक्षय सुख भोग करता है, क्योंकि उसका आत्मा ब्रह्म-

के साथ योगके द्वारा युक्त है।" गीता कहती है कि अनासक्त होना अत्यावश्यक है, इसलिये कि काम-क्रोध-लोभ-मोहसे छुटकारा मिले, इस छुटकारेके बिना सच्चे सुखका मिलना सभव नही है। यह सुख और यह समत्व मनुष्यको शरीरमे रहते हुए ही पूर्ण रूपसे प्राप्त करने होगे, निम्न विक्षुब्ध प्रकृतिके दासत्वके कारण वह जो यह समझता था कि पूर्ण मुक्ति शरीरको छोडनेके बाद ही प्राप्त होगी, इस दासत्वका लेशमात्र भी उसके अंदर नही रह जाना चाहिये; पूर्ण आध्यात्मिक स्वातंत्र्य लाभ करना और भोगना होगा इसी जगत्मे, इसी मानव-जीवनके अदर, अर्थात् देह त्याग करनेसे पहले ही (प्राक् शरीर विमोक्षणात्)। इसके आगे गीता कहती है कि "जो अतःसुख है, अतराराम है और अंतर्ज्योति है वही योगी ब्रह्मभूत होकर ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है।" यहां निर्वाणका अर्थ स्पष्ट ही उस परम आत्मस्वरूपमे अहकारका लोप होना है जो सदा देशकालातीत, कार्यकारणबंधनातीत तथा क्षरण-शील जगत्के परिवर्तनोके अतीत है और जो सदा आत्मानंदमय, आत्मप्रकाशमय और शातिमय है। वह योगी अब अहकारस्व-रूप नही रह जाता, वह छोटासा व्यक्तित्व नही रह जाता जो मन और शरीरसे सीमित रहता है; वह ब्रह्म हो जाता है, उसकी चेतना शाश्वत पुरुषकी उस अक्षर दिव्यताके साथ एक हो जाती है जो उसकी प्राकृत सत्तामे व्याप्त है।

परतु क्या यह जगत्चैतन्यसे दूर, समाधिकी किसी गभीर निद्रा-मे सो जाना है अथवा क्या यह प्राकृत सत्ता तथा व्यष्टिपुरुषके किसी ऐसे निरपेक्ष ब्रह्ममें लय हो जाने या मोक्षको पानेकी तैयारी है जो ब्रह्म सर्वथा और सदा प्रकृति और उसके कर्मोंके परे है? क्या निर्वाणको प्राप्त होनेके पहले विश्व-चैतन्यसे अलग हो जाना आव-श्यक है अथवा क्या निर्वाण, जैसा कि उस प्रकरणसे मालूम होता है, एक ऐसी अवस्था है जो जगत्चैतन्यके साथ-साथ रह सकती और अपने ही तरीकेसे उसका अपने अंदर समावेश भी कर सकती

है ? यह पिछले प्रकारकी अवस्था ही स्पष्ट रूपसे गीताको अभिप्रेत मालूम होती है, क्योकि इसके बादके ही श्लोकमे गीताने कहा है कि "वे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण लाभ करते है जिनके पापके दाग सब धुल गये है और जिनकी संशय-ग्रंथिका छेदन हो चुका है, जो अपने-आपको वशमे कर चुके है और जो सब भूतोके कल्याणमे रत है (सर्वभूतहिते रताः) ।" इसका तो प्रायः यही अभिप्राय मालूम होता है कि इस प्रकारका होना ही निर्वाणको प्राप्त होना है। परतु इसके बादका श्लोक बिलकुल ही स्पष्ट और निश्चयात्मक है, "यती, (अर्थात् जो लोग योग और तपके द्वारा आत्मवशी होनेका अभ्यास करते है) जो काम और क्रोधसे मुक्त हो चुके है और जिन्होने आत्मवशित्व लाभ कर लिया है उनके लिये ब्रह्मनिर्वाण उनके चारों ओर ही रहता है वह उन्हें घेरे हुए रहता है, वे उसीमे रहते है, क्योकि आत्मज्ञान उन्हे प्राप्त है।" अर्थात् आत्माका ज्ञान होना और आत्मवान् होना ही निर्वाणमे रहना है। यह स्पष्ट ही निर्वाणकी भावनाका एक व्यापक रूप है। कामक्रोधादि दोषोके कल्मषसे सर्वथा मुक्त होना और यह मुक्ति जिस समत्वबुद्धिके आत्मवशित्वपर अपना आधार रखती है उस आत्मवशित्वका होना, सब भूतोके प्रति समत्वका होना, सबके प्रति कल्याणकारी प्रेमका होना, अज्ञानजनित जो सशय और अंधकार सर्वैक्यसाधक भगवान्से और हमारे अंदर और सबके अदर जो 'एक' आत्मा है उसके ज्ञानसे हमको अलग करके रखते है उनका सर्वथा नाश हो जाना, ये सब स्पष्ट ही निर्वाणकी अवस्थाएं है जो गीताके इन श्लोकोमे बतलायी गयी है, इन्हीसे निर्वाण पद सिद्ध होता है और ये ही उसके आध्यात्मिक तत्त्व है।

इस प्रकार निर्वाण स्पष्ट ही जगत्-चतन्य और ससारमे कर्मके साथ विसंगत नही है। कारण जो ऋषि निर्वाणको प्राप्त है वे इस क्षर जगत्मे भगवान्को प्रत्यक्ष अनुभव करते है और कर्मोंके द्वारा उनके साथ अति निकट संबंध बनाये रहते है; वे

सब भूतोंके कल्याणमें लगे रहते है (सर्वभूतहिते रताः)। क्षर पुरुषकी अनुभूतियोंको उन्होंने त्याग नही दिया है, बल्कि उन्हें दिव्य बना लिया है; कारण, गीता कहती है कि क्षर पुरुष ही 'सर्वभूतानि' है, और सब भूतोका कल्याण करना प्रकृतिकी क्षरताके अदर एक भागवत कर्म है। संसारमे जो यह कर्म है वह ब्राह्मी-स्थितिसे विसंगत नही है, बल्कि यह उस अवस्थाकी अपरिहार्य शर्त्त और बाह्य परिणाम है, क्योकि जिस ब्रह्ममे निर्वाण लाभ किया जाता है वह ब्रह्म, जिस आत्मचैतन्यमे हमारा पृथकात्मक अहंभाव विलीन हो जाता है वह आत्मचैतन्य केवल हमारे अदर ही नही है, बल्कि इन सब भूत प्राणियोके अदर भी है, इन सब जगत्-प्रपचोसे वह केवल पृथक् और इनके ऊपर ही नही है, बल्कि इन सबमें व्याप्त है, इन्हे धारण किये हुए है और इनमे प्रसारित है। इसलिये ब्रह्मनिर्वाण पदका अर्थ उसी सीमित पृथक्कारी चेतनाका ही नाश या निर्वाण समझना होगा जो सारे भ्रम और भेदभावका कारण है और जो जीवनके बाह्य स्तरपर त्रिगुणात्मिका निम्नतर मायाकी ही एक रचनामात्र है। और इस निर्वाण पदमे जो प्रवेश है वह उस एकत्वसाधक परम सच्चैतन्यकी प्राप्तिका रास्ता है जो समस्त सृष्टिका हृदय और आधार है, और जो उसका सर्वसमाहारक, सर्वसहायक, समग्र मूल सनातन परम सत्य है। जब हम निर्वाण लाभ करते और उसमे प्रवेश करते है तब वह निर्वाण केवल हमारे अदर नही रहता, बल्कि हमारे चारो ओर रहता है (अभितो वर्त्तते), क्योंकि यह केवल वह ब्रह्म-चैतन्य नही है जो हमारे अंदर गुप्त रूपसे रहता है, बल्कि यह वह ब्रह्म-चैतन्य है जिसमें हम सब रहते है। यह वह आत्मा है जो हम अपने अतःस्वरूपमें है—हमारी व्यष्टि-सत्ताका परम आत्मा; पर साथ ही यह वह आत्मा भी है जो हम बाह्य रूपमें है, यह समस्त विश्व-ब्रह्मांडका परम आत्मा है, सब भूतोंका आत्मा है। इस आत्मामे रहते हुए हम सबके अंदर रहते हैं, और अब केवल अपनी अहंभावापन्न पृथक्

सत्तामें ही नही रहते; इस आत्माके साथ एकत्व लाभ करनेसे जगत्‌मे जो-जो कुछ है उसके साथ निरतर एकत्व हमारी सत्ताका स्वभाव, हमारे क्रियाशील चैतन्यका मूल पद और हमारे सब कर्मोका मूल प्रेरक-भाव बन जाता है।

परतु इसके बाद ही फिर दो श्लोक ऐसे आते है जो इस निर्णयमें बाधकसे प्रतीत होते है। "बाह्य स्पर्शोको अपने अदरसे बाहर करके, भ्रूमध्यमे अपनी दृष्टिको स्थिर करके और नासाभ्यतरचारी प्राण तथा अपानको सम करके, इद्रिय मन और बुद्धिको वशमे किये हुआ मोक्ष-परायण मुनि, जिसके काम क्रोध भय दूर हो गये है, सदा ही मुक्त रहता है।" यहा इस योग-प्रणालीमे एक दूसरी ही बात आती है जो कर्मयोगसे भिन्न है और उस विशुद्ध ज्ञानयोगसे भी भिन्न है जो विवेक और ध्यानसे साधित होता है, इसके सब विशिष्ट लक्षण कायिक-मानसिक तप.साध्य राजयोगके लक्षण है। चित्त-वृत्तिनिरोध, प्राणायाम, प्रत्याहार आदिका ही यह वर्णन है। ये सब मन समाधिकी ओर ले जानेवाली प्रक्रियाए है, इन सबका लक्ष्य मोक्ष है और सामान्य व्यवहारकी भाषामे मोक्ष कहते है केवल पृथक्कारी अह-चैनन्यके ही त्यागको नही, बल्कि सपूर्ण कर्म-चैतन्य-के त्यागको, परब्रह्ममे अपनी सत्ताके सपूर्ण अस्तित्वको लय कर देनेको। तब क्या हम यह समझे कि गीताने यहा इसका विधान इस अभिप्रायसे किया है कि इसी लयको मुक्तिका चरम उपाय मान-कर ग्रहण किया जाय या इस अभिप्रायसे कि यह बहिर्मुख मनको वशमे करनेका केवल एक विशेष उपाय या शक्तिशाली साधनमात्र है? क्या यही आखिरी बात, परम वचन या महावाक्य है? हम इसे दोनो ही मान सकते है, एक विशेष उपाय, एक विशिष्ट साधन भी और चरम गतिका अतत: एक द्वार भी; इस चरम गतिका साधन अवश्य ही लय हो जाना नही है बल्कि एक विश्वातीत सत्तामें ऊपर उठ जाना है। कारण यहा इस श्लोकमें भी जो कुछ कहा गया है वह आखिरी बात नही है; महावाक्य, आखिरी बात, परम

वचन तो इसके बादके श्लोकमें आता है जो इस अध्यायका अंतिम श्लोक है। वह श्लोक है—"भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ गी० ५-२९॥" अर्थात्' 'जब मनुष्य मुझे सब यज्ञों और तपोंका भोक्ता, सब लोकोंका महेश्वर, सब प्राणियोंका सुहृद जानता है तब वह शांतिको प्राप्त होता है।" यहां कर्मयोगकी शक्ति ही फिरसे आ जाती है; यहां इस बातपर आग्रह किया गया है कि ब्रह्मनिर्वाणकी शांतिके लिये यह आवश्यक है कि जीवको सक्रिय ब्रह्मका, विराट् पुरुषका ज्ञान भी हो।

गीताका परम प्रतिपाद्य विषय, पुरुषोत्तमकी भावना यहां फिर सामने आती है। यह नाम आया तो है गीताके उपसंहारके ही कुछ पहले, तथापि गीतामें आदिसे अंततक जहां-जहां श्रीकृष्ण "अहं" "माम्" इत्यादि पदोंका प्रयोग करते हैं वहां-वहां उनका अभिप्राय उन्हीं भगवान्‌से है जो हमारी कालातीत अक्षर सत्तामें हमारे एकमेवाद्वितीय आत्मस्वरूपमें हैं, जो जगत्‌में भी अवस्थित हैं, सब भूतोंमें सब कर्मोंमें विद्यमान् हैं, जो निश्चल-नीरवता और शांतिके अधीश्वर हैं, जो शक्ति और कर्मके स्वामी हैं, जो इस महायुद्धमें पार्थसारथीरूपसे अवतीर्ण हैं, जो परात्पर पुरुष हैं, परमात्मा हैं, सर्वमिदं हैं, प्रत्येक जीवके ईश्वर हैं। सब यज्ञों और तपोंके वे भोक्ता हैं, इसलिये मुक्तिकामी पुरुष सब कर्मोंको यज्ञ और तपरूपसे करे; वे सर्वलोकमहेश्वर हैं, और इस प्रकृति तथा सब प्राणियोंमें प्रकट हैं, इसलिये मुक्त पुरुष मुक्त होनेपरभी, लोक-संग्रहार्थ कर्म करे, अर्थात् जगत्‌में ये जो लोग हैं इनका समुचित नियंत्रण करे और इन्हें सन्मार्ग दिखावे; वे सबके सुहृद हैं, इसलिये वही मुनि है जिसने अपने अंदर और अपनी चारों ओर (अभितः) निर्वाण लाभ किया है, फिर भी सब भूतोंके कल्याणमें सदा रत रहता है—जैसे बौद्धोंके महायान पंथमें भी निर्वाणका परम लक्षण जगत्‌के सब प्राणियोंके प्रति करुणामय कर्म ही समझा जाता है।

इसीलिये अपने कालातीत अक्षर आत्मस्वरूपमें भगवान्के साथ एक होनेपर भी वह मनुष्यसे दिव्य प्रेम कर सकता है क्योकि उसके अदर प्रकृतिकी क्रीडाके सबध भी समाविष्ट है, और साथ ही भगवान्की भक्ति भी कर सकता है।

गीताके इन श्लोकोका यही तात्पर्य है, यह बात छठे अध्यायके आशयकी तहमे पहुचनेपर और भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। छठे अध्यायमे पाचवे अध्यायके इन्ही अतिम श्लोकोके भावका विशदीकरण और पूर्ण विकास किया गया है—और इससे यह पता चलता है कि गीता इन श्लोकोको कितना महत्त्व देती है। इसलिये अब हम लोग इसी छठे अध्यायके सार-मर्मका अति सक्षिप्त रूपसे पर्यवेक्षण करेगे। सबमे पहले भगवान् गुरु अपनी बारबार दोहरायी गयी सन्यासके मूलतत्त्वकी घोषणापर जोर देते और उस बातको फिरसे कहते है कि असली सन्यास आतरिक है न कि बाह्य। "जो कोई कर्मफलका आश्रय किये बिना कर्त्तव्य कर्म करता है वही सन्यासी है, वही योगी है, वह नही जो निरग्नि हो और जो अक्रिय हो। जिसे लोग सन्यास कहते है उसे तू योग समझ; क्योकि जिसने अपने मनके वासनामूलक सकल्पोका त्याग नही किया वह योगी नही हो सकता।" कर्म करने होगे, पर किस उद्देश्यसे, किस क्रमसे ? पहले योग-पर्वतकी चढाई चढते हुए करने होगे, क्योकि वहा कर्म 'कारण' है। कारण किसके ? आत्मससिद्धिके, मुक्तिके, ब्रह्म-निर्वाणके, क्योकि आतरिक सन्यासके निरतर अभ्यासके साथ कर्म करनेसे यह ससिद्धि, यह मुक्ति, वासनात्मक मन और आरुरुक्षकी जीवदशा और निम्न प्रकृतिपर यह विजय अनायास प्राप्त होती है।

पर जब कोई चोटीपर पहुच जाता है तब ? तब कर्म कारण नही रह जाते, कर्मके द्वारा आत्मवशित्व और आत्मवत्ताकी जो शाति प्राप्त होती है, वही यहा कारण बनती है। कारण किस चीजकी ? आत्मस्वरूपमे, ब्रह्मचैतन्यमे स्थित बने रहने और उस पूर्ण समत्व-

को बनाये रखनेका कारण बनती है जिसमे स्थित रहते हुए मुक्त पुरुषके दिव्य कर्म होते है। कारण, "जब कोई इंद्रियोके अर्थोमे और कर्मोमे आसक्त नही होता और मनके सब वासनात्मक सकल्पोको त्याग चुका होता है तब उसे योग शिखरपर आरूढ़ कहते है।" इसी भावके साथ ही, हम यह जान चुके है कि, मुक्त पुरुषके सब कर्म होते है, वह कर्मोको कामनारहित, आसक्तिरहित होकर करता है, उसमे कोई अहभावापन्न व्यक्तिगत इच्छा नही होती, वासनाका जनक जो मनोगत स्वार्थ है वह उसमे नही होता। उसका निम्नतर आत्मा उसके वशमे होता है, वह उस परा शातिको पहुचा हुआ होता है जहा उसका परम आत्मा उसके सामने प्रकट रहता है—वह परम आत्मा जो सदा अपनी ही सत्तामे 'समाहित' है, समाधिस्थ है, केवल अपनी चेतनाकी अतर्मुखीन अवस्थामे ही नही बल्कि सदा ही, मनकी जाग्रत अवस्थामे भी, जब वासना और अशातिके कारण मौजूद हो तब भी, शीतोष्ण सुखदु.ख तथा मानापमानादि द्वद्वोके प्रत्यक्ष प्रसंगोंमे भी (शीतोष्णसुखदु:खेषु तथा मानापमानयो:)। यह उच्चतर आत्मा कूटस्थ अक्षर पुरुष है जो प्राकृत पुरुषके सब प्रकारके परिवर्तनो और विक्षोभोके ऊपर रहता है, और योगी उसके साथ योगयुक्त तब कहा जाता है जब वह भी उसके समान कूटस्थ होता, जब वह सब प्रकारके बाह्य दृश्यों और परिवर्तनोके ऊपर उठ जाता है, जब वह आत्मज्ञानमे परितृप्त हो जाता है और जब वह सब पदार्थो, घटनाओ और व्यक्तियोके प्रति समचित्त हो जाता है।

परतु इस योगको प्राप्त करना कोई सुगम बात नही है, जैसा कि अर्जुन वास्तवमें आगे चलकर सूचित करता है, क्योंकि यह चंचल मन सदा ही बाह्य पदार्थोके आक्रमणोके कारण इस उच्च अवस्थासे नीचे खिच आता और फिरसे शोक आवेश और वैषम्यके जोरदार कब्जेमें पड़ जाता है। इसीलिये, ऐसा मालूम होता है कि, गीता-में ज्ञान और कर्मकी अपनी साधारण पद्धतिके साथ-साथ राजयोग-

की विशिष्ट ध्यान-प्रक्रिया भी बतायी गयी है, जो एक शक्तिशाली अभ्यास है, मन और उसकी सब वृत्तियोके पूर्ण निरोधका एक बलवान् साधन है। इस प्रक्रियामे यह बतलाया गया है कि, योगी आत्मासे युक्त रहनेका सतत अभ्यास करे, जिससे कि अभ्यास करते-करते यह अवस्था उसकी साधारण चेतना बन जाय। उसे काम-क्रोधादि सब विकारोको मनसे निकालकर सबसे अलग किसी एकात स्थानमे जाकर बैठ जाना होगा और अपनी समग्र सत्ता और चेतनापर आत्म-वशित्व ले आना होगा—"वह शुचिदेशमे अपना स्थिर आसन लगावे, आसन बहुत ऊचा न हो न बहुत नीचा और वह कुशाका हो, उसपर मृगचर्म और मृगचर्मके ऊपर वस्त्र बिछा हो और ऐसे आसनपर बैठकर मनको एकाग्र तथा मन और इद्रियोकी सब वृत्तियोको वशमे कर आत्मविशुद्धिके लिये योगाभ्यास करे।" वह ऐसा आसन जमावे कि उसका शरीर अचल और सीधा तना रहे जैसा कि राजयोगके अभ्यासमे बताया गया है; उसकी दृष्टि एकाग्र हो जाय और भ्रूमध्यमे स्थिर रहे," दिशाओकी ओर दृष्टि न जाय।" मनको स्थिर और निर्भय रखे और ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे, इस प्रकार सयत समग्र चित्तवृत्तिको भगवान्मे ऐसे लगावे कि चैतन्यकी निम्नतर क्रिया उच्चतर शातिमे निमज्जित हो जाय। कारण इस साधनाका लक्ष्य निर्वाणकी निष्क्रिय शातिको प्राप्त होना है। "इस प्रकार नियतमानस होकर सतत योगमे लगा हुआ योगी निर्वाणकी उस परम शातिको प्राप्त होता है जिसकी नीव मेरे अदर है (शाति निर्वाण परमा मत्सस्थामधिगच्छति)।"

निर्वाणकी यह परम शांति तब प्राप्त होती है जब चित्त पूर्णतया संयत और कामनामुक्त होकर आत्मामें स्थित रहता है, जब वह निर्वात स्थानमे स्थित दीपशिखाके समान अचल होकर अपने चंचल कर्म करना बद कर देता, अपनी बहिर्मुख वृत्तियोसे खिचा हुआ रहता है और जब मनके निश्चल-नीरव हो जानेके कारण अंतरमें

आत्माका दर्शन होने लगता है, मनमे आत्माका विकृत भान नही, बल्कि आत्मामें ही आत्माका साक्षात्कार होता है, मनके द्वारा अ-यथार्थ या आशिक रूपमे नही, अहंकारसे होकर प्रतिभात होनेवाले रूपमे नही, बल्कि स्वप्रकाशरूपमे। तब जीव तृप्त होता और अपने वास्तविक परमसुखको अनुभव करता है, वह अशांत सुख नही जो मन और इद्रियोको प्राप्त है, बल्कि वह आतरिक और प्रशात आनन्द जिसमे मनका कोई विक्षोभ नही, जिसमे स्थित होने-पर पुरुष अपनी सत्ताके आध्यात्मिक सत्यसे कभी च्युत नही होता। मानसिक दुःखका अति प्रचड आक्रमण भी उसे विचलित नही कर सकता; कारण मानसिक दुःख हमारे पास बाहरसे आता है, वह बाह्यस्पर्शोकी प्रतिक्रियाओका ही फल होता है और यह है उन लोगो-का आतरिक स्वतःसिद्ध आनंद जिन्हे बाह्य स्पर्शोकी चचल मानसिक प्रतिक्रियाओका दासत्व अब गवारा नही है। यह दुःखके साथ संबंध विच्छेद कर लेना है, मनका उसे तलाक दे देना है (दु.खसयोग-वियोगम्)। इसी अविच्छेद्य आध्यात्मिक आनदकी सुदृढ़ प्राप्तिका नाम ही योग, अर्थात् भगवान्से ऐक्य है; यही लाभोमे सबसे बड़ा लाभ है, यह वह धन है जिसके सामने अन्य सब संपत्तियोका कोई मूल्य नही रह जाता। इसलिये पूर्ण निश्चयके साथ, कठिनाई या विफलता जिस हतोत्साहको ले आते है उसके अधीन हुए बिना इस योगको तबतक किये जाना चाहिये जबतक मुक्ति न मिले, ब्रह्म-निर्वाणका आनन्द सदाके लिये प्राप्त न हो जाय।

यहा मुख्यतया चित्तके, काममूलक मनके और इन्द्रियोके निरोध-पर ही जोर है, क्योकि ये ही बाह्य स्पर्शोको ग्रहण करते और हमारी अभ्यस्त भावावेगमय प्रतिक्रियाओके द्वारा उनका प्रत्युत्तर देते है; परंतु इसके साथ ही मानसिक विचारको भी स्वतःस्थित आत्म-सत्ताकी शांतिमें ले जाकर निश्चेष्ट करना होगा। पहले सब कामनाओंको, जो वासनामूलक संकल्पसे उठती है, एकदम त्याग देना होगा और मनके द्वारा इंद्रियोंको इतना वशमें कर लेना होगा

कि वे अपनी हमेशाकी अव्यवस्थित और चचल आदतके कारण चारो ओर दौडती न फिरा करे; परंतु इसके बाद मनको ही बुद्धिसे पकडकर अतर्मुख करना होगा। धृतिमे गृहीत बुद्धिके द्वारा मानस कर्म करना धीरे-धीरे बद कर देना होगा और मनको आत्मामें स्थित करके किसी बारेमे कुछ भी न सोचना होगा। जब-जब चचल अस्थिर मन निकल भागे तब-तब उसका नियमन करके उसे पकडकर आत्माके अधीन ले आना होगा। जब मन पूर्ण रूपसे शात हो जाता है तब योगीको ब्रह्मभूत आत्माका उच्चतम, निष्कलंक, निर्विकार परमानन्द प्राप्त होता है। "इस प्रकार विगतकल्मष होकर और योगमे लगे रहकर योगी अनायास और सुखपूर्वक ब्रह्म-सस्पर्शरूप आत्यतिक आनदको प्राप्त होता है।"

फिर भी, जबतक यह शरीर है तबतक इस अवस्थाका फल निर्वाण नही है, क्योकि निर्वाण ससारमे कर्म करनेकी हरएक स-भावनाको, ससारके प्राणियोके साथ हरएक सबधको दूर कर देता है। पहले तो यही मालूम होता है कि यह निर्वाण ही होना चाहिये। कारण जब सब वासनाए और सब विकार बद हो गये, जब मनको विचार करनेकी अब इजाजत नही रही, जब इसी मौन और ऐकातिक योगका अभ्यास ही नियम हो गया, तब कर्म करना, बाह्य सस्पर्शोंवाले इस जगत् और अनित्य ससारसे किसी प्रकारका सबध रखना संभव ही कहा? निःसंदेह योगी फिर भी कुछ कालतक इस शरीरमें रहेगा, पर अब तो गिरि-गुहा, जगल या पर्वतशिखरपर ही उसके रहनेकी जगह होगी और सतत बाह्य चेतनाशून्य समाधि ही उसकी एकमात्र सुखस्थिति और जीवनचर्या होगी। परतु पहली बात तो यह है कि गीता यह नही कहती कि जब इस ऐकातिक योगका अभ्यास किया जाय तब अन्य सब कर्मोका त्याग कर देना होगा। यह योग, गीता कहती है कि, उस मनुष्यके लिये नही है जो आहार, विहार, निद्रा और कर्म छोड़ दे न उसके लिये है जो इन सब चीजोमे बेहद रमा करे; बल्कि निद्रा, जागरण, आहार, विहार और कर्म-प्रयास

सब 'युक्त' होना चाहिये। इसका अर्थ प्राय: यह लगाया जाता है कि यह सब परिमित, नियमित और उपयुक्त मात्रामे होना चाहिये, और इसका यह आशय हो भी सकता है। परतु जो भी हो, जब योग प्राप्त हो चुका हो तब इस सबको एक दूसरे ही अर्थमे 'युक्त' होना होगा, उस अर्थमे जो इस शब्दका साधारण अर्थ है और जिस अर्थमें ही यह शब्द गीताके अन्य सब स्थानोमे व्यवहृत हुआ है। खाते-पीते, सोते-जागते और कर्म करते, अर्थात् सब अवस्थाओंमे योगी तब भगवान्के साथ 'युक्त' रहेगा और वह जो कुछ करेगा वह भगवान्को ही अपना आत्मा और सर्वमिद तथा अपने जीवन और कर्मका आश्रय तथा आधार जानकर करेगा। वासना-कामना, अहंकार, व्यक्तिगत सकल्प और मनके विचार केवल निम्न प्रकृतिमे ही कर्मके प्रेरक होते है, परतु जब अहकार नष्ट हो जाता है और योगी ब्रह्म हो जाता है, जब वह परात्पर चैतन्य और विश्व-चैतन्यमे ही रहता और स्वय वही बन भी जाता है, तब कर्म उसीमेसे स्वत: निकलता है, उसीमेसे वह ज्योतिर्मय ज्ञान निकलता है जो मनके विचारसे ऊपरकी चीज है, उसीमेसे वह शक्ति निकलती है, जो व्यक्तिगत संकल्पमे विलक्षण और बहुत अधिक बलवती है और जो उसके लिये कर्म करती और उसके फलको लाती है, व्यक्तिगत कर्म फिर नही रह जाता, सब कर्म ब्रह्ममे ले लिया जाता और भगवान्के द्वारा धारण कर लिया जाता है (मयि संन्यस्य कर्माणि)।

कारण इस आत्म-साक्षात्कार और पृथक्कारी अहंभावापन्न मन और उसके विचार अनुभव और कर्मके प्रेरक भावको ब्राह्मी चेतनामे निर्वाण करनेसे योगका जो फल* प्राप्त होता है, इस विषयका जो गीताका वर्णन है उसके अंदर विश्वचैतन्यका समावेश है, यद्यपि यहां उसे एक नवीन ज्ञानालोकमें उठा लिया गया है। "जिस पुरुष-का आत्मा योगयुक्त है वह आत्माको सब भूतोंमें देखता और सब

---

*योगक्षेमं वहाम्यहम्।

भूतोंको आत्मामें देखता है, वह सर्वत्र समदर्शी होता है।" जो कुछ भी वह देखता है उसके लिये वह आत्मा है, सब कुछ उसका आत्मा है, सब भगवान् है। परंतु यदि वह क्षरकी क्षरतामे रहे तो क्या यह खतरा नही है कि वह इस कठिन योगके समस्त फलोको खो दे, वह आत्माको खो दे और फिरसे मनके अंदर जा गिरे, भगवान् उसको खो दे और वह जगत्का हो जाय तथा वह भी भगवान्को खो दे और उनकी जगह फिरसे पावे अहंकारको तथा निम्न प्रकृतिको ? गीता उत्तर देती है कि नही, "जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मेरे अदर देखता है वह मुझसे खो नही जाता न मै उससे खो जाता हू।" क्योकि निर्वाणकी यह परम शाति यद्यपि अक्षरसे प्राप्त होती है, पर है वह पुरुषोत्तमकी सत्तापर ही प्रतिष्ठित (मत्सस्थाम्) और यह सत्ता व्यापक है; भगवान्, ब्रह्म, प्राणियोके इस जगत्मे भी परिव्याप्त है और यद्यपि वे इस जगत्के अतीत है, कितु वे अपनी अतीतावस्थासे बंधे हुए नही है। मनुष्यको सब कुछको भगवद्रूप देखना होगा और इसी साक्षात्कारमे निवास करना होगा और इसी भावके साथ कर्म करना होगा; यही योगका परम फल है।

पर कर्म क्यो करना ? क्या यह अधिक निरापद नही है कि अपने एकातमे बैठा रहे और यदि इच्छा हो तो जगत्की ओर एक निगाह देख भी ले, देखे उसे ब्रह्ममे, भगवान्मे पर उसमे कोई भाग न ले, उसमें चले-फिरे नही, उसमें रहे नही, उसमें कर्म न करे और साधारणतया अपनी आंतरिक समाधिमें ही रहे ? इस उच्चतम आध्यात्मिक अवस्थाका क्या यही धर्म, यही विधान, यही नियम नहीं होना चाहिये ? गीता फिर कहती है कि नहीं, मुक्त योगीके लिये एकमात्र धर्म, एकमात्र विधान, एकमात्र नियम तो बस यही है कि वह भगवान्में रहे, भगवान्से प्रेम करे और सब प्राणियोके साथ एक हो जाय; उसका जो स्वातंत्र्य है वह निरपेक्ष है, किसी अन्यका आश्रित नहीं, वह स्वतःसिद्ध है, किसी आचार, धर्म या मर्यादासे

बंधा नहीं। योगकी किसी साधनासे अब उसका कुछ प्रयोजन नही, क्योकि अब वह सतत योगमें ही प्रतिष्ठित है। भगवान् कहते है, "जो योगी एकत्वमें स्थित है और सब भूतोंमें मुझको भजता है, वह चाहे जैसे और सब प्रकारसे रहता और कर्म करता हुआ भी मुझमे ही रहता और कर्म करता है।" संसार-प्रेम तब आध्यात्मिक प्रेममें परिवर्तित होकर इंद्रियानुभवसे आत्मानुभव हो जाता है और वह ईश्वर-प्रेमकी नीवपर प्रतिष्ठित रहता है और तब उस प्रेममे कोई भय, कोई दोष नही होता। निम्न प्रकृतिसे पीछे हटनेके लिये संसारसे भय और जुगुप्सा प्राय. आवश्यक हो सकते है, क्योकि वास्तवमे यह हमारा अपने अहंकारसे ही भीत और जुगुप्सित होना है जो अपने-आप जाकर जगत्मे प्रतिबिंबित होता है। परतु ईश्वरको जगत्मे देखना निर्भय होना है, यह सब कुछका ईश्वरकी सत्तामें आलिंगन करना है, सब कुछ भगवद्रूपमे देखना है, किसी पदार्थका करना या किसीसे घृणा करना नही, बल्कि जगत्मे भगवान्से और भगवान्मे जगत्से प्रेम करना है।

परंतु कम-से-कम निम्न प्रकृतिके उन विषयोंका तो परिहार करना और उनसे डरना ही होगा जिनसे ऊपर उठनेके लिये योगीने इतनी कड़ी साधना की? नही, यह भी नही, आत्मदर्शनकी समतामें सब कुछका आलिंगन किया जाता है। भगवान् कहते है, "हे अर्जुन, जो कोई सब कुछको आत्माकी ही तरह समभावसे देखता है चाहे वह दुःख हो या सुख, उसे मै परम योगी मानता हू।" और इससे यह अभिप्रेत नही है कि योगी स्वय ही, दूसरोंके दुःखमें ही क्यों न हो, अपने दुःखरहित आत्मानदसे गिर जायगा और फिरसे सासारिक दुःख अनुभव करेगा, बल्कि यह कि दूसरोके अदर उन द्वंद्वोंके खेलको निहारकर, जिन्हे वह स्वय छोड़कर उनसे ऊपर उठ चुका है, वह अब भी देखेगा सब कुछ आत्मवत्, सबमें अपने आत्माको, सबमें ईश्वरको और इन चीजोंके बाह्य रूपोंसे क्षुब्ध या मुग्ध न होकर केवल करुणासे उनकी मदद करने, उनका दुःख दूर करने, सब प्राणियोंके

कल्याणमे अपने-आपको लगानेमें, लोगोको आध्यात्मिक आनंदकी ओर ले जानेमे, जगत्को भगवान्की ओर अग्रसर करनेके काममे प्रवृत्त होकर जितने दिन उसे इस जगत्मे जीना है उतने दिन वह अपने जीवनको दिव्य जीवन बनाकर रहेगा। जो भगवत्प्रेमी ऐसा कर सकता है, इस प्रकार सब कुछका भगवान्के अदर आलिगन कर सकता है, निम्न प्रकृति और त्रिगुणात्मिका मायाके सब कर्मोंकी ओर स्थिर होकर देख सकता और बिना क्षुब्ध हुए तथा आध्यात्मिक ऐक्यकी ऊचाईसे मुग्ध या च्युत हुए, भगवान्की अपनी दृष्टिकी विशालतामे स्वतत्र भावसे रहते हुए, भागवत प्रकृतिकी शक्तिसे मधुर, महान् और प्रकाशमय होकर उन कर्मोके अदर और उन कर्मोंपर क्रिया कर सकता है, उसको नि.संकोच परम योगी कहा जा सकता है। यथार्थमे उसीने सृष्टिको जीता है (जितः सर्ग.)।

गीताने जैसे सर्वत्र वैसे ही यहा भी भक्तिको ही योगकी पराकाष्ठा कहा है, "सर्वभूतस्थित यो मा भजत्येकत्वमास्थित"। गीताकी शिक्षाका यही सपूर्ण सार-सर्वस्व कहा जा सकता है–जो कोई सबमे स्थित भगवान्से प्रेम करता है और जिसका आत्मा भगवदैक्यभावमे प्रतिष्ठित है, वह चाहे कैसे भी रहता और कर्म करता हो, पर भगवान्मे ही रहता और कर्म करता है। और जब अर्जुनने प्रश्न किया कि ऐसा कठिन काम योग मनुष्यके चंचल मनके लिये कैसे सभव हो सकता है तब भगवान् गुरु उसी बातपर विशेष जोर देनेके लिये उसीका प्रसंग फिरसे चलाते है और अतमे यही कहते है, "योगी तपस्वीसे श्रेष्ठ है, ज्ञानीसे श्रेष्ठ है, कर्मीसे श्रेष्ठ है; इसलिये हे अर्जुन, तू योगी बन।" योगी वह जो कर्मसे, ज्ञानसे, तपसे अथवा और चाहे जिस तरहसे केवल आत्मज्ञानके लिये आत्मज्ञान, केवल शक्तिके लिये शक्ति या केवल किसी चीजके लिये कोई चीज नही बल्कि एक भगवान्के साथ ऐक्य ही ढूंढ़ता और पाता है; उसी ऐक्यमे और सब कुछ आ जाता तथा

सब कुछ अपने रूपसे ऊपर उठकर परम भागवत अर्थको प्राप्त हो जाता है। परंतु योगियोंमें भी भक्त ही सबसे श्रेष्ठ होता है। "सब योगियोमे वह योगी जो अपने अंतरात्माको मुझे सौप देता और श्रद्धा और प्रीतिसे मेरा भजन करता है, उसे मै अपने साथ योगमें सबसे अधिक युक्त समझता हूं।" गीताके प्रथम षट्कका यही अंतिम वचन है और इसीमे बाकी जो कुछ अभी नही कहा गया है और जो कही भी पूर्णतया नही कहा गया है उसका बीज मौजूद है। परम आध्यात्मिक रहस्य और भागवत रहस्य सदा रहस्य ही है और उसका कुछ-न-कुछ रहस्य सदा बना ही रहता है।

कर्मयोगका सारतत्त्व

गीताके प्रथम छः अध्यायोमे गीताकी शिक्षा एक तरहसे मूल रूपमें आ गयी है, बाकीके बारह अध्यायोमे इस प्रथम षट्कमें जो कुछ सकेत रूपसे और अधूरे तौरपर कहा गया है उसीको विशद किया गया है, पर ये सकेत इतने अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इनका खुलासा बाकीके दो षट्कोमे करना पडा है। गीता-ग्रथ यदि एक ऐसा लिखित शास्त्र न होता जिसे सपूर्ण करना ही होगा, यदि यह ग्रथ वास्तवमे किसी शिष्यको दिया हुआ किसी जीवित गुरुका उपदेश होता, जिस उपदेशको शिष्य जब आगेके सत्यको ग्रहण करनेके लिये तैयार हो जाय तब यथासमय फिरसे आरभ किया जा सकता हो तब तो यह धारणा बाधी जा सकती थी कि इस छठे अध्यायके अतमे गुरु यही रुक जाते और शिष्यसे कहते कि "पहले इसे अपने आचरणमे ले आ, यहातक जो कुछ कहा गया है उसे अनुभवमे ले आनेके लिये तुझे अभी बहुत कुछ करना है और तुझे इसके लिये अत्यत विशाल आधार-क्षेत्र दे दिया गया है, आगे जैसे-जैसे जो कठिनाइया उत्पन्न होगी वे आप ही हल होती जायगी या मै उन्हें तेरे लिये हल कर दूगा। अभी तो जो कुछ मैने कहा है इसीको अपने जीवनमें ले आ; इसीके भावमे स्थिर होकर कर्म कर।" अवश्य ही इसमे बहुतसी ऐसी बाते हैं जो आगे इनपर जो कुछ कहा जायगा उसके बिना ठीक तरहसे समझमे नही आ सकती। प्रथम षट्कमे ही उपस्थित होनेवाली कुछ शकाओं-का समाधान करनेके लिये तथा अन्यथा उत्पन्न होनेवाले भ्रमको दूर करनेके लिये, स्वयं मुझे भी बहुतसी बातें पहले ही कह देनी पड़ी है, उदाहरणार्थ पुरुषोत्तम-तत्त्वकी भावनाको पहले ही बार-बार कहना पड़ा है क्योंकि ऐसा किये बिना आत्मा और कर्म और

कर्मके अधीश्वर भगवान्के बारेमें जो कुछ अस्पष्टता है वह दूर नहीं हो सकती थी। गीताने इन बातोंको जान-बूझकर ही प्रथम षट्कमें विशद इसलिये नही किया है कि जो बातें मानव-शिष्य-की अभीकी बुद्धिके लिये बहुत बड़ी है उन्हें उसकी अपरिपक्व दशा-में पहले ही कह देना उसकी प्राथमिक साधनाकी दृढताको विच-लित कर सकता है।

गुरु यदि अपना उपदेश यहीं समाप्त कर देते तो अर्जुन स्वयं ही यह शंका भली प्रकारसे उपस्थित कर सकता था कि, "आपने काम और संगका नाश, समत्व, इद्रियोका दमन और मनका शमन, निष्काम निरहकार कर्म, कर्मोका यज्ञरूपसे उत्सर्ग, बाह्य संन्यास-से आंतर संन्यासका श्रेष्ठत्व, इन सबके बारेमे तो बहुत कुछ कहा और मै इन सब बातोको विचारसे तो समझता हू, चाहे आचार-में इन्हे ले आना मुझे कितना ही कठिन मालूम होता हो। परंतु आपने कर्म करते हुए गुणोके ऊपर उठनेकी बात भी कही है और यह नही बताया कि गुण कैसे कार्य करते है, और जबतक मै यह न जान लूं तबतक गुणोका पता लगाना और उनके ऊपर उठना मेरे लिये कठिन होगा। इसके अतिरिक्त आपने यह भी कहा है कि योगका सबसे प्रधान अंग भक्ति है, फिर भी आपने कर्म और ज्ञानकी तो खूब प्रशसा की है, पर भक्तिके बारेमे प्रायः कुछ भी नहीं कहा। और फिर यह भक्ति, जो सबसे बड़ी चीज है, किस-को अर्पण की जायगी ? अवश्य ही शांत निर्गुण ब्रह्मको नही, बल्कि आपको, ईश्वरको। इसलिये अब आप मुझे यह बता-इये कि आप क्या है, कौन है, क्योकि जैसे भक्ति इस आत्मज्ञानसे भी बड़ी चीज है वैसे ही आप उस अक्षर ब्रह्मसे बड़े है जो अक्षर ब्रह्म क्षर प्रकृति और कर्ममय संसारसे वैसे ही बड़ा है जैसे ज्ञान कर्मसे बड़ा है। इन तीनों वस्तुओंमें परस्पर क्या संबंध है ? कर्म, ज्ञान और भगवद्भक्तिमें परस्पर क्या संबंध है ? प्रकृति-स्थ पुरुष, अक्षर पुरुष और वह जो सबका अव्यय आत्मा होनेके

साथ-साथ समस्त ज्ञान, भक्ति और कर्मका प्रभु है, परमेश्वर है, जो यहां इस महायुद्ध और भीषण रक्तपातमे मेरे साथ है, इस घोर भयानक कर्मके रथमे मेरा सारथी है इन तीनोमे परस्पर क्या संबंध है ?" इन्हीं प्रश्नोका उत्तर देनेके लिये गीताके शेष अध्याय लिखे गये है और विचारद्वारा इनकी पूर्ण मीमासा जहा अभिप्रेत ह वहां तुरत ही इनका विचार और समाधान करना ही होगा। परतु प्रकृत साधनक्षेत्रमे क्रम-क्रमसे ही आगे बढ़ना होता है और बहुतसी बातोको, यहातक कि बड़ी-से-बडी बातोको भी पीछे अपने समयसे आप ही आने और यथाप्राप्त आध्यात्मिक अनुभव-से आप ही सुलझने देनेके लिये छोड़ रखना पड़ता है। एक हद-तक गीताने अनुभवकी इस वर्तुल गतिका अनुसरण किया है और पहले कर्म और ज्ञानकी एक विशाल प्राथमिक भित्ति निर्माण कर उसमें एक ऐसी चीज रख दी है जो भक्तितक और महत्तर ज्ञान-की ओर ले जाती है, पर अभी वहांतक पहुंची नही है। प्रथम छः अध्याय हमे इसी भित्तिपर ला छोडते है।

अब यहापर हम लोग जरा रुक जायं और इस बातपर विचार करे कि जिस मूल प्रश्नको लेकर गीताका उपक्रम हुआ उसका समा-धान इन अध्यायोंमे कहातक हुआ है। यहां फिर यह कह देना अच्छा रहेगा कि स्वय प्रश्नमे कोई ऐसी बात नही थी जिसके लिये संपूर्ण विश्वके स्वरूपका और सामान्य जीवनके स्थानमें आध्या-त्मिक जीवनकी प्रतिष्ठाका विचार आवश्यक ही होता। उपस्थित प्रश्नका विचार व्यावहारिक या नैतिक रूपसे या बौद्धिक दृष्टिसे अथवा आदर्शवादकी दृष्टिसे या इन सब दृष्टियोसे एक साथ ही किया जा सकता था; और यदि ऐसा किया जाता तो यह प्रश्नका विचार करनेकी जो आधुनिक पद्धति है उसके अनुकूल ही पड़ता। यह प्रश्न अपने-आपमें तो सबसे पहले यही सवाल उपस्थित करता है कि अर्जुन किस विधानके द्वारा अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्द्धा-रण करे ? क्या वह नैतिक भावनाके अनुसार चले और समझे

कि जनसंहार तो पाप ही है अथवा क्या वह अपने सार्वजनिक और सामाजिक कर्तव्यकी भावनाके अनुसार चले—और यह भी उसी तरहकी एक नैतिक भावना ही है—न्यायकी रक्षा करे तथा वह करे जो सभी महान् स्वभाववाले मनुष्योंसे उनकी विवेक-बुद्धि आशा रखती है, अर्थात् अन्याय और अत्याचारका पक्ष लेनेवाले सशस्त्र बलका विरोध करे ? यही प्रश्न इस समय, इस घड़ी हम लोगोके सामने भी उठा है और इसका समाधान हम लोग अनेकानेक प्रकारों-से कर सकते है और कर ही रहे है, किंतु ये सब समाधान होगे हमारे साधारण जीवन और हमारे साधारण मानव-मनके दृष्टिबिंदुसे ही। यह कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा सवाल है जिसमें परस्पर-भिन्न दृष्टिकोण उपस्थित होते है, जैसे कि हम अपनी विवेक-बुद्धिकी आवाज सुनें या समाज और राज्यके प्रति हमारा जो कर्तव्य है उसका पालन करे, हम अपने आदर्शकी रक्षा करे या व्यावहारिक नीतिकी; हम आत्मबलपर विश्वास करे या इस कड़वी बातको मानें कि जीवन अभी आत्मरूप नही हो गया है और इसलिये न्यायका पक्ष लेकर भौतिक संघर्षमे अस्त्र धारण करना कभी-कभी अनिवार्य होता है। जो भी हो, ये सब समाधान होंगे अपनी-अपनी बुद्धि, स्वभाव और हृदयके अनुरूप ही, ये निर्भर करेंगे हमारे वैयक्तिक दृष्टिकोणपर और इनका अधिक-से-अधिक यही लाभ होगा कि हम अपने ही तरीकेसे अपने सामने आयी हुई कठिनाईका मुकाबला करेंगे, अपने ही तरीकेसे इसलिये कि ये हमारे स्वभावके तथा हमारे नैतिक और बौद्धिक विकासकी अव-स्थाके अनुरूप होगे, और हमें जो प्रकाश अभी प्राप्त है उसमे हम लोग इससे अधिक और कुछ न देख सकते है न कर सकते है—पर इससे अंतिम समाधान नही होगा। इसका कारण यह है कि यह सब हमारे साधारण मनका समाधानमात्र होगा, उस मनका जो हमारी सत्ताकी विविध वृत्तियोंका एक गोरखधंधा है और जो इन विविध वृत्तियोमेंसे किसी-किसीको चुन लेता या उन सबको

मिला-जुलाकर अपना काम चला भर सकता है; हमारी युक्ति, हमारी नैतिक सत्ता, हमारी सक्रिय प्रकृतिकी आवश्यकताएं, हमारी सहज प्राणवृत्तियां, हमारी भावावेगमय सत्ता और वे बिरली वृत्तिया भी जिन्हे हम अंतरात्माकी सहज स्फुरणा या हृत्पुरुषकी तरजीह कह सकते है उनके बीच एक कामचलाऊ मेल बैठा सकता है। गीताकी यह मान्यता है कि इस तरहसे कोई परम निरपेक्ष समाधान नही हो सकता, हो सकता है केवल तात्कालिक, व्यावहारिक समाधान। अर्जुनके सामने उस कालके उच्चतम आदर्शके अनुसार ऐसा ही एक व्यावहारिक समाधान पेश किया गया था, पर उसकी चित्तवृत्ति उसे स्वीकार करनेके अनुकूल नही थी और वास्तवमे भगवान् यह चाहते भी नही थे कि वह उसको स्वीकार कर ले। अत· गीता इस प्रश्नका समाधान बिलकुल दूसरे ही दृष्टिकोणसे करती है और इसका बिलकुल दूसरा ही हल निकालती है।

गीताका समाधान यही है कि अपने प्राकृत जीवभाव और साधारण मनोभावसे ऊपर उठो, अपने बौद्धिक और नैतिक भ्रम-जालोके ऊपर उठो और उस चिद्भावमे आ जाओ जहाका जीवन-विधान कुछ दूसरा ही है और इसलिये जहा कर्मका विचार एक दूसरी ही दृष्टिसे किया जाता है, वहा कर्मके चालक वैयक्तिक काम और भावावेग नही होते; वहा द्वंद्व दूर हो जाते है, वहा कर्म हमारे अपने नही रह जाते और इसलिये हम वैयक्तिक पाप और पुण्यको अतिक्रम कर जाते है, वहा विराट् नैर्व्यक्तिक भागवत सत्ता हमारे द्वारा जगत्मे अपने हेतुको क्रियान्वित करती है; वहां हम स्वय एक दिव्य नवजन्मके द्वारा उसी सत्के सत्, उसी चित्-के चित्, उसी आनदके आनंद हो जाते है और तब हम अपनी इस निम्न प्रकृतिके अदर नही रह जाते, हमारे लिये अपना कोई कर्म नही रह जाता, अपना कोई वैयक्तिक हेतु नही रह जाता और यदि हम कोई कर्म करते हैं—और यही तो एकमात्र समस्या और कठि-

नाई बाकी रह जाती है—तो हम केवल भागवत कर्मको करते हैं और यहां बाह्य प्रकृति उस कर्मका कारण नही, प्रेरक नही, केवल एक अबाध शांत उपकरणमात्र होती है, क्योंकि प्रेरक-शक्ति तो हमारे कर्मोंके अधीश्वरकी इच्छामे हमारे ऊपर रहती है। और गीताने इसीको सच्चे समाधानके रूपमें सामने रखा है, क्योंकि यह हमें हमारी सत्ताके वास्तविक सत्यमें ले जाता है और अपनी सत्ताके वास्तविक सत्यके अनुसार रहना ही स्पष्टतया हमारे जीवनके प्रश्नोका सर्वोत्कृष्ट एकमात्र और संपूर्ण रूपसे सत्य समाधान है। हमारा जो मनोमय और प्राणमय व्यक्तित्व है वह हमारे प्राकृत जीवनका सत्य है, पर यह सत्य अज्ञानगत सत्य है और जो कुछ भी उससे संबद्ध है वह उसी कोटिका सत्य है जो अज्ञानगत कर्मोंके लिये व्यवहारतः उपयोगी तो है, पर जब हम अपनी सत्ताके वास्तविक सत्यमें लौट आते है तब यह सत्य उपयोगी नही रह जाता। परंतु इस बातका हमको पूर्ण निश्चय कैसे हो कि यही सत्य है? पूर्ण निश्चय तबतक नही हो सकता जबतक हम अपने मनके सामान्य अनुभवोसे ही संतुष्ट है; कारण हमारे सामान्य मानस अनुभव सर्वथा इसी निम्न प्रकृतिके है जो अज्ञानसे भरी पड़ी है। हम उस महत्सत्यको उसमे निवास करके ही जान सकते है, अर्थात् योगके द्वारा मन-बुद्धिको पार कर आध्यात्मिक अनुभवमें पहुंचनेसे ही हम इसे जान सकते है। कारण आध्यात्मिक अनुभूतिमें तबतक बसे रहना जबतक मनुष्य मानसभावसे छूटकर आत्मभावमे प्रतिष्ठित न हो जाय, जबतक वह अपनी वर्तमान प्रकृतिके दोषोंसे मुक्त होकर अपनी सत्य भागवत सत्तामें पूर्ण रूपसे रहने न लग जाय—यही वह अंतिम भाव है जिसे हम योग कहते है।

हमारी सत्ताका केंद्र इस तरह ऊर्ध्वमें उठे और उससे हमारा संपूर्ण जीवन तथा हमारी चेतना रूपांतरित हो, और इसके फलस्वरूप हमारे कर्मका बाह्य रूप बहुधा वैसा ही बना रहनेपर भी

उसका सारा आंतरिक भाव और हेतु ही परिवर्तित हो जाय, यही गीताके कर्मयोगका सारतत्त्व है। अपनी सत्ताको रूपांतरित करो, आत्मस्वरूपमे नया जन्म लो और उस नवीन जन्मसे उस कर्ममें लगो जिसके लिये तुम्हारे अंतःस्थित आत्माने तुमको नियुक्त किया है, यही गीताके सदेशका मर्म कहा जा सकता है। अथवा दूसरी तरहसे, अधिक गभीर और अधिक आध्यात्मिक आशयके साथ यो कहे कि, जो कर्म तुम्हे यहां करना पड़ता है उसे अपने आतर आध्यात्मिक नवजन्मका साधन बना लो, अपने दिव्य जन्मका साधन बना लो, और दिव्य होकर, भगवान्‌के उपकरण बनकर लोकसंग्रहके लिये अब भी दिव्य कर्म करो। यहां दो बातें है जिन्हें स्पष्ट रूपसे सामने रखना और समझना होगा, एक है इस परिवर्तनका मार्ग, अपनी सत्ताके केंद्रको ऊर्ध्वमें उठा ले जानेका मार्ग, यह दिव्यजन्मग्रहण और दूसरी बात है कर्मका स्वभाव या यह कहिये कि वह भाव जिससे प्रेरित होकर कर्म करना होगा—क्योंकि कर्मके बाह्य रूपकी तो कोई बात ही नही है, उसका बदलना कोई जरूरी बात नही है, यद्यपि उसके हेतु और परिधि तो बिलकुल बदल ही जायंगे। परतु ये दोनो बाते कार्यतः एक ही है, क्योकि एकको समझनेसे दूसरी समझमे आ ही जाती है। हमारे कर्मके भावका उदय हमारी सत्ताका अभी जो स्वभाव है उससे तथा उसकी जो आतरिक प्रतिष्ठा अबतक हुई है उससे होता है; परतु अपनी सत्ताका यह स्वभाव स्वय ही हमारी कर्मकी धारा और उसके आध्यात्मिक प्रभावसे बदला करता है, कर्मके भावमें बहुत बड़ा परिवर्तन होनेसे हमारी सत्ताके स्वभावमे और उसकी आतरिक प्रतिष्ठामे परिवर्तन होता है; इससे उस सचेतन शक्तिका केद्र ही दूसरा हो जाता है जिससे हम कर्म करते हैं। यदि जीवन और कर्म केवल मिथ्या-माया होते, जैसा कि कुछ लोग कहा करते है, यदि आत्माका कर्म या जीवनके साथ कोई सरोकार न होता तो यह बात न होती; पर हमारे अंदर जो देही जीव है वह

जीवन और कर्मोंसे अपने-आपको विकसित किया करता है और कर्म स्वयं तो उतना नही बल्कि जीवकी कर्म करनेकी अंतःशक्ति-की क्रियाका रूप ही उसकी आत्मसत्ताके साथ उसका सबंध निर्द्धारित किया करता है। यही तो आत्मज्ञानके व्यावहारिक साधनस्वरूप कर्मयोगकी सार्थकता है।

हमारे समाधानका भवन इस नीवपर उठना आरंभ करता है कि मनुष्यका वर्तमान आंतर जीवन ही, जो अभी प्रायः उसकी प्राणप्रकृति और शरीर-प्रकृतिपर सर्वथा निर्भर करता और मानसी शक्तिकी मर्यादित क्रीडाके सहारे कुछ ही उसके ऊपर उठा रहता है, उसका संपूर्ण संभाव्य जीवन नही है न उसके वर्तमान वास्त-विक जीवनका ही सब कुछ है। उसके अदर छिपा हुआ एक आत्मा है और उसकी वर्तमान प्रकृति या तो उस आत्माका केवल एक बाह्य रूप है या उसकी कर्मशक्तिका एक आशिक फल। गीतामे अथसे इतितक सर्वत्र इस कर्मशक्तिकी वास्तविकताकी बात स्वीकृत है, कही भी ऐसा नही मालूम होता कि उसने चरम-पंथी वेदातियोका यह कठोर मत स्वीकार किया हो कि यह सत्ता केवल प्रातिभासिक है, जो मत सारे कर्म और क्रियाशक्तिकी जड़-पर ही कुठाराघात करता है। गीताने अपनी दार्शनिक विवे-चनामें इस पहलूको जिस रूपमें सामने रखा है (यह काम दूसरे रूपमे भी किया जा सकता था) वह यही है कि साख्योंका प्रकृति-पुरुष-भेद उसने मान लिया है—पुरुष अर्थात् वह ज्ञानशक्ति जो जानती, धारण करती और पदार्थमात्रको अनुप्राणित करती है और प्रकृति अर्थात् वह क्रियाशक्ति जो कर्म करती और नाना-विध उपकरणो, माध्यमों और प्रक्रियाओंको जुटाती रहती है। फर्क इतना ही है कि गीताने साख्योंका मुक्त अक्षर पुरुष ग्रहण किया है सही किंतु उसे वेदांतकी भाषामे 'एक' अक्षर सर्वव्यापक आत्मा या ब्रह्म कहा है, और यह जो प्रकृतिबद्ध दूसरा पुरुष है इस-से उसका पार्थक्य दिखाया है। यह प्रकृतिबद्ध पुरुष ही हमारा

क्षर कर्मशील पुरुष है, यही बहुपुरुष है जो समस्त वस्तुओंमें है और जो विभिन्नता और व्यक्तित्वका आधार है। परंतु तब प्रकृतिका कर्म क्या है ?

यह प्रक्रियाशक्ति है, इसीका नाम प्रकृति है और यह है तीनों गुणोकी एक दूसरेपर क्रियारूप जो क्रीडा होती है वह। और यह माध्यम क्या है ? यह है प्रकृतिके उपकरणोके क्रमविकाससे सृष्ट जीवनकी जटिल प्रणाली और ये उपकरण प्रकृतिकी क्रिया-में जीवकी अनुभूतिके अदर ज्यो-ज्यो यहा प्रतिभासित होते है त्यों-त्यो इन्हे हम यथाक्रम बुद्धि, अहकार, मन, इंद्रिया और पचमहा-भूत कह सकते है, और ये पंचमहाभूत ही प्रकृतिके रूपोके आधार है। ये सब यात्रिक है, यह एक ऐसा यत्र है जिसके अनेकों कल-पुर्जे है और अपने आधुनिक दृष्टिकोणसे हम यह कह सकते है कि ये सब-के-सब जडप्राकृतिक शक्तिमे समाये हुए है और प्रकृतिस्थ जीव जैसे-जैसे प्रत्येक यत्रके ऊर्ध्वगामी विकासके द्वारा अपने-आपको जानता है वैसे-वैसे ये प्रकृतिमे प्रकट होते है, कितु जिस क्रमसे हम इन्हे ऊपर गिना आये उससे इनके प्रकटीकरणका क्रम उलटा होता है, अर्थात् पहले जड मृष्टि प्रकट होती है, तब इंद्रिय-समूह, उसके बाद क्रमसे मन और बुद्धि और अतमे आत्मचैतन्य। बुद्धि जो पहले प्रकृतिके कार्योंमे ही लगी रहती है, पीछे इन कार्यों-के यथार्थ स्वरूपको जान सकती है, यह देख सकती है कि यह केवल त्रिगुणका खेल है जिसमे जीव फंसा हुआ है और जीवको तथा त्रि-गुणके इन कार्योंको वह अलग-अलग देख सकती है; और जब ऐसा होता है तब जीवको मौका मिलता है कि वह इस बधनसे अपने-आपको छुड़ा ले और अपने मूल मुक्त स्वरूप और अक्षर सत्तामें लौट आये। वेदांतकी परिभाषामे जीव तब आत्माको, सत्ताको देखता है; प्रकृतिके उपकरणों और कार्योंसे, उसके भूतभावसे अपने-आपको तादात्म्य कर लेना बंद कर देता है; वह अपने सदात्माके साथ, अपने सत्स्वरूपके साथ तदात्म होता और अपनी

स्वतःसिद्ध अक्षर आत्मसत्ताको फिरसे पा लेता है। तब इस आत्मस्थितिसे, गीता कहती है कि, वह मुक्त भावसे और अपनी सत्ताके ईश्वररूपसे अपने भूतभावके कर्मका आश्रय बन सकता है।

ये दार्शनिक प्रभेद जिन मनस्तात्विक तथ्योपर प्रतिष्ठित है— और दर्शनशास्त्र उस शास्त्रको कहते है जो जीवनके मनस्तात्विक तथा भौतिक तथ्योके तथा जो कोई भी परम सद्वस्तु है उसके साथ इनका क्या संबंध है इसके सारमर्मको हमे बौद्धिक रूपमे दिखा देता है—उन्हें देखते हुए हम यह कह सकते है कि हम दो तरहके जीवन बिता सकते है, एक है अपनी सक्रिय प्रकृतिके कार्योमे लीन जीवका जीवन, जिसमे जीव अपने आतरिक और बाह्य उपकरणोके साथ तदाकार, उनसे परिच्छिन्न, अपने व्यक्तित्वसे बधा, प्रकृतिके वशमे होता है; और दूसरा है आत्माका जीवन जो इन सब चीजोसे श्रेष्ठ, विशाल, नैर्व्यक्तिक, विश्वव्यापी, मुक्त, अपरिच्छिन्न, अतिवर्ती है और अपने असीम समत्वसे अपनी प्राकृत सत्ता और कर्मको धारण करता पर अपनी मुक्त स्थिति और अनत सत्तासे इनके परे रहता है। हम चाहे तो अपनी अभीकी प्राकृत सत्तामे रह सकते है अथवा चाहे तो अपने महत्तर आत्मसत्तामे रह सकते है। यही वह पहला महान् प्रभेद है जिसपर गीताका कर्मयोग प्रतिष्ठित है।

इसलिये अब सारा प्रश्न और उपाय यही है कि अंतरात्माको अपनी वर्तमान प्राकृत सत्ताकी परिच्छिन्नताओंसे मुक्त किया जाय। हमारे प्राकृत जीवनमें सर्वप्रथम मुख्य बात है हमारा जड प्रकृतिके रूपोके, पदार्थोंके बाह्य स्पर्शोके अधीन होना। ये रूप, ये स्पर्श इद्रियोंके द्वारा हमारे प्राणके सामने आते है और प्राण तुरत इंद्रियोंके द्वारा इन्हें पकड़नेके लिये दौड़ पड़ता और इनसे संबंध जोड़ता है, इनकी कामना करता, इनसे आसक्त होता और फलकी इच्छा करता है। मनके अंदर होनेवाली सब सुखदुःखवेदनाएं उसकी सब प्रतिक्रियाएं और तरंगें, ग्रहण चिंतन और

अनुभवके उसके सब अभ्यस्त तरीके इद्रियोंके कर्मका ही अनुगमन करते है; बुद्धि भी मनसे हरी जाकर इद्रियोके इस जीवनके प्रति अपने-आपको सौप देती है, यह जीवन जिसमे आतर सत्ता वस्तुओं-के बाह्य रूपोमे ही फसी रहती है और एक क्षणके लिये भी उनसे ऊपर नही उठ सकती या हमारे ऊपर होनेवाले उसके कर्मके घेरे-से अथवा हमारे अदर होनेवाले उसके मानस परिणामों और प्रति-क्रियाओके चक्करसे बाहर नही निकल सकती। इसका कारण है अहकार, प्रकृतिका वह तत्त्व जिससे बुद्धि हमारे मन, इच्छा, इद्रियसमूह ओर शरीरपर होनेवाले प्रकृतिके सपूर्ण कार्यको अन्या-न्य मनो, इच्छाओ, इद्रियो और शरीरोपर होनेवाले कार्योसे पृथक् बोध करती है, ओर हमारे लिये हमारा जीवन उतनासा ही रह जाता है जितना कि हमारे अहकारपर प्रकृतिका असर पडता और हमारा अहकार उसके स्पर्शोका प्रत्युत्तर देता है। इसके सिवाय हम और कुछ नही जानते, हम और भी कुछ है यह नही मालूम पडते, और अतरात्मा भी तब ऐसा मालूम पडता है कि मन, इच्छा, भावावेगमय और स्नायवीय प्रतिग्रह और प्रतिक्रियाका यह कोई पृथक्भूत स्तूप हो। हम अपने अहकारको विशाल बना सकते है, अपने-आपको कुल, जाति, वर्ण, देश, राष्ट्र, मनुष्यजातितक-के साथ एकीभूत कर सकते है, परतु फिर भी इन सब बहुरूपो-में अहकार ही हमारे सब कर्मोकी जड बना रहता है केवल उसे बाह्य पदार्थोके साथ उसके इन उदार व्यवहारोसे अपनी पृथक् सत्ताका एक विशेष सतोष प्राप्त होता है।

इस अवस्थामे भी हमारे अदर प्राकृत सत्ताकी इच्छा ही काम करती है जो अपने व्यक्तित्वके विभिन्न रूपोंको तृप्त करनेके लिये ही बाह्य जगत्के स्पर्शोको ग्रहण करती है, और इस प्रकार विषयों-को ग्रहण करनेवाली इच्छा सदा ही कर्म और कर्मफलके प्रति कामना, आवेश और आसक्तिमय इच्छा ही होती है; यह हमारी प्रकृतिकी ही इच्छा होती है; इसे हम अपनी इच्छा कहते है, पर

हमारा अहंभावापन्न व्यक्तित्व तो प्रकृतिकी ही एक रचना है, यह हमारा मुक्त आत्मा, हमारी स्वाधीन सत्ता नही है और न हो सकता है। यह सारा प्रकृतिके गुणोंका कर्म है। यह कर्म तामसिक हो सकता है और तब हमारा व्यक्तित्व होता है जड़वत्, वस्तुओंकी यांत्रिक धाराके वशमें और उसीसे संतुष्ट, किसी अधिक स्वाधीन कर्म और प्रभुत्वका कोई प्रबल प्रयास करनेमें सर्वथा असमर्थ। अथवा यह कर्म राजसिक हो सकता है और तब हमारा व्यक्तित्व उद्यमी और बेचैन रहता ह, जो अपने-आपको प्रकृतिपर लाद देता और उससे अपनी आवश्यकताएं और इच्छाएं पूरी कराना चाहता है, पर यह नही देख पाता कि उसका यह प्रभुत्वाभास तो एक दासत्व ही है , क्योंकि उसकी आवश्यकताए और इच्छाएं वे ही है जो प्रकृतिकी आवश्यकताएं और इच्छाएं है, और जबतक हम उनके वशमें है तबतक हमें मुक्ति नहीं मिल सकती। अथवा यह कर्म सात्विक हो सकता है और तब हमारा व्यक्तित्व प्रबुद्ध होता है, जो बुद्धिके द्वारा अपना जीवन बिताने और किसी शुभ सत्य या सुदरके ईप्सित आदर्शको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है; पर अभी यह बुद्धि प्रकृतिके रूपोके ही वशमें होती है और ये आदर्श होते है हमारे अपने ही व्यष्टिस्वरूपके परिवर्तनशील भाव जिनमे अंततोगत्वा कोई ध्रुव नियम नही मिलता न सदाके लिये कोई संतोष ही होता है। यहां भी हम परिवर्तनके चक्करपर ही घूमते रहते है और हम उस शक्तिके अधीन रहते हैं जो हमारे अदर और इस सबके अंदर है और जो हमें हमारे अहंकारके द्वारा इस तरह चक्कर दिलाया करती है, पर हम स्वयं वह शक्ति नही होते न उसके साथ हमारा योग या मेल ही होता है। यहां भी कोई मुक्तावस्था नहीं होती, कोई यथार्थ प्रभुत्व नहीं होता।

फिर भी मुक्तावस्था संभव है। उसके लिये पहले हमें, अपनी इंद्रियोंपर बाह्य संसारकी जो क्रिया होती है उससे अलग हटकर अपने-आपमें आ जाना होगा; अर्थात् हमें अंतर्मुख होकर रहना

होगा और इंद्रिया जो अपने बाह्य विषयोकी ओर स्वभावतः ही दौड़ पड़ती है, उन्हे रोक रखनेमे समर्थ होना होगा। इद्रियोको अपने वशमे रखना और इद्रिया जिन सब चीजोके लिये तरसा करती हैं उनके बिना सुखपूर्वक रहनेमे समर्थ होना, सच्चे अध्यात्मजीवनकी पहली शर्त है, जब यह हो जाता है केवल तभी हम यह अनुभव करने लगते है कि हमारे अदर कोई आत्मा हे जो बाह्य स्पर्शोसे उत्पन्न होनेवाले मनके विकारोसे सर्वथा भिन्न वस्तु है, वह आत्मा जो अपनी गभीरतर सत्तामे स्वयंभू, अक्षर, शात, आत्मवान, भव्य, स्थिर, गंभीर और महान् है, आप ही अपना प्रभु है और बाह्य प्रकृतिकी व्यग्रताभरी दौड-धूपसे सर्वथा अलिप्त है। परतु यह तबतक नही हो सकता जबतक हम कामके वशमे है। कारण हमारे सारे बाह्य जीवनका मूल तत्त्व जो यह काम है इमे इद्रियगत जीवनसे तृप्ति मिलती है और यह षड्रिपुओके खेलमे ही मस्त रहता है। इसलिये इस कामसे हमे छुटकारा पाना होगा और हमारी प्राकृत सत्ताकी इस प्रवृत्तिके नष्ट होनेपर हमारे मनोविकार, जो कामकी तरगोके परिणामभूत होते है, आप ही शात हो जायगे; क्योकि लाभ और हानिसे, सफलता और विफलतामे, प्रिय और अप्रियके स्पर्शोसे जो सुखदु ख हुआ करते है और जो ही इन मनोविकारोंका स्वागत और सत्कार करते है, हमारे अतरात्माओके अदरसे निकल जायंगे। तब स्थिर समता प्राप्त होगी। और अब भी जब हमे इस जगत्‌मे रहना और कर्म करना है और हमारा स्वभाव तो कर्म करनेमें फलकी आकांक्षा करनेवाला बना हुआ है, तब हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम इस स्वभावको बदल दे और फलासक्तिको छोड़कर कर्म करे, यदि ऐसा न करेगे तो काम और उसके सारे परिणाम बने ही रहेगे। परंतु हममें यह जो कर्मके कर्त्ताका स्वभाव है इसको हम कैसे बदल सकते है ? बदल सकते है अपने अहंकार और व्यक्तित्वसे अपने कर्मोंको अलग करके, विवेक-बुद्धिसे यह देख करके कि यह सब कुछ केवल प्रकृतिके गुणोका ही तो खेल है, और अपने

अंतरात्माको इस खेलसे अलग करके, सबसे पहले अपने अन्तरात्मको प्रकृतिके कर्मोंका साक्षी बनाके तथा उन कार्योंको उस शक्तिके हवाले करके जो वास्तवमे उनके पीछे है; यह शक्ति प्रकृतिके अदर रहनेवाली वह वस्तु ह जो हमसे बड़ी है, यह हमारा व्यक्तित्व नही बल्कि वह शक्ति है जो विश्वकी स्वामिनी है। परतु मन यह सब न होने देगा, क्योकि उसका स्वभाव इद्रियोके पीछे चलना और बुद्धि और इच्छाशक्तिको अपने साथ घसीट ले जाना ह। इसलिये मनको स्थिर करना हमे सीखना होगा। हमे वह निरपेक्ष शाति और स्थिरता प्राप्त करनी होगी जिसमें पहुंचकर हम अपने उस अतःस्थित स्थिर, अचल, आनदमय आत्माको जान सके जो सदा ही बाह्य पदार्थोंके स्पर्शोसे अक्षत, अक्षुब्ध रहता है, अपने-आपमे ही पूर्ण रहता और अपने-आपमे ही अपनी चिरतन तृप्ति लाभ करता है।

यह आत्मा ही हमारा स्वतःसिद्ध स्वरूप है। यह हमारे वैयक्तिक जीवनसे बद्ध नही। यह सब भूतोंमे एक, सबमे व्यापक, सबमें सम, अपनी अनंत सत्तासे अखिल विश्वकर्मका धारण करनेवाला है, पर देशकालकी परिच्छिन्नतासे परिच्छिन्न होनेवाला नही, प्रकृति और व्यष्टिके परिवर्तनोसे परिवर्तित होनेवाला नही। जब हमे अपने अंदर इस आत्माके दर्शन होते है, जब हमें उसकी शांति और स्थिरताका अनुभव होता ह, तब हम उसमे संवर्द्धित हो सकते है; हमारा अंतःपुरुष अभी जो प्रकृतिमे निमज्जित होकर निम्नतर अवस्थामें आसन जमाये बैठा है उसकी इस अवस्थाको बदलकर हम उसे आत्माके अंदर पुनःप्रतिष्ठित कर सकते हैं। हम यह कर सकते है इन वस्तुओंकी शक्तिसे जो हमें प्राप्त हुई है—स्थिरता, समता, निर्विकार नैर्व्यक्तिकता। क्योकि ज्यों-ज्यों हम इन चीजोंको अपने अंदर अधिकाधिक बढ़ाते है, अपने अंदर उनकी पूर्णता ले आते है और अपनी सारी प्रकृतिको उनके अधीन करने देते है त्यों-त्यों हम इस स्थिर, सम, निर्विकार, नैर्व्यक्तिक,

सर्वव्यापक आत्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। हमारी इंद्रियां उसी स्थिरतामें जा पहुंचती है और जगत्के स्पर्शोंको महती शांति-के साथ ग्रहण करती है; हमारा मन उसी स्थिरताको प्राप्त होता और शांत, विराट् साक्षी बन जाता है; हमारा अहंकार इसी नैर्व्यक्तिक सत्तामें विलीन हो जाता है। हम तब सभी चीजें इसी आत्माके अंदर देखते हैं जो आत्मा हम स्वय हो गये होते है; और हम इस आत्माको सबके अंदर देखते है; हम सब भूतोके साथ उनकी आत्मसत्तामे एकीभूत हो जाते है। इस अहंभावशून्य शाति और नैर्व्यक्तिकतामे रहते हुए हम जो कर्म करते है वे हमारे कर्म नही रह जाते, वे अब अपनी प्रतिक्रियाओसे हमे किसी भी प्रकारसे न तो बांध सकते है न कोई पीड़ा ही पहुचा सकते है। प्रकृति और उसके गुण अब भी अपने कर्मका जाल बुना करते है, पर उनसे हमारी दुःखरहित स्वतःसिद्ध शांति भग नही होती। सब कुछ उसी एक सम विराट् ब्रह्मको समर्पित होता है।

परंतु यहा दो शंकाएं उपस्थित होती हैं। एक यह कि यह शात अक्षर आत्मा और प्रकृतिके कर्म, इन दोनोके बीच एक विरोध प्रतीत होता है। जब हम इस अक्षर आत्मसत्तामें एक बार प्रवेश कर चुके तब फिर कर्मका अस्तित्व ही कैसे रह सकता है और वह जारी कैसे रह सकता है ? उसमें कर्म करनेकी वह इच्छा ही कहां है जिससे हमारी प्रकृतिका कर्म हो सके ? यदि हम साख्य-मतके अनुसार यह कहें कि इच्छा प्रकृतिमें होती है, पुरुषमें नही, तब भी प्रकृतिमें कर्मके पीछे कोई-न-कोई प्रेरक भाव तो होना ही चाहिये और उसमें वह शक्ति भी होनी ही चाहिये जिससे वह आत्माको रस, अहंकार और आसक्तिके द्वारा अपने कर्मोंमें खींच सके, और इन चीजोंका आत्मचैतन्यके अंदर प्रतिबिबित होना ही जब बद हो गया तब प्रकृतिकी वह शक्ति भी जाती रही, और उसके साथ-साथ कर्म करनेका प्रेरक भाव भी जाता रहा। परंतु गीता इस मतको स्वीकार नहीं करती, जो मत एक विराट् पुरुष-

के बजाय अनेक पुरुषोंका होना आवश्यक ठहराता है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो यह बात समझमें न आ सकेगी कि किसी पुरुषकी पृथक् आत्मानुभूति और मोक्ष कैसे संभव है जब कि अन्य लाखों-करोड़ो पुरुष बद्ध ही पड़े है। प्रकृति कोई पृथक् तत्त्व नही बल्कि परमेश्वरकी ही शक्ति है जो विश्वरचनामें प्रवृत्त होती है। परंतु परमेश्वर यदि केवल यही अक्षर पुरुष है और व्यष्टि-पुरुष केवल कोई ऐसी चीज जो उसमेंसे निकलकर उस शक्तिके साथ इस सृष्टिमे आया है, तो जिस क्षण व्यष्टि-पुरुष लौटकर आत्मामे स्थित होगा उसी क्षण सारी सृष्टिक्रिया बद हो जायगी, रह जायगी केवल परम एकता और परम निस्तब्धता। दूसरी बात यह कि यदि किसी अचित्य रूपसे कर्म अब भी जारी रहे तो भी आत्मा जब सब पदार्थोंके लिये सम है तब कर्म हो या न हो और हो तो चाहे जैसे हो, इससे कुछ भी आना-जाता नही। ऐसी अवस्थामें यह भयकर सत्यानामी कर्म क्यो, यह रथ, यह युद्ध, यह योद्धा, यह भगवान् सारथी किसलिये ?

गीता इसका उत्तर देती है यह बतलाकर कि परमेश्वर अक्षर पुरुषसे भी महान् है, अधिक व्यापक है, वे साथ-साथ यह आत्मा भी है और प्रकृतिमे जो कर्म हो रहे है उनके अधीश्वर भी। परतु वे प्रकृतिके कर्मोका संचालन करते है अक्षर ब्रह्मकी सनातनी अ-चलता, समता, कर्म और व्यष्टिभावसे अतीत श्रेष्ठतामें स्थित रहते हुए। यही, हम कह सकते है कि, उनकी सत्ताकी वह स्थिति है जिसमेंसे वे कर्मसंचालन करते है, और जैसे-जैसे हम इस स्थितिमें सवर्द्धित होते है वैसे-वैसे हम उन्हीकी सत्ता और दिव्य कर्मोकी स्थितिको प्राप्त होते है। इसी स्थितिसे वे अपनी सत्ताकी प्रकृतिगत इच्छा और शक्तिके रूपमें निकल आते है, अपने-आपको सब भूतोंमें प्रकट करते है, जगत्में मनुष्यरूपसे जन्म लेते है, सब मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करते है, अवताररूपसे अपने-आपको अभिव्यक्त करते है (यही मनुष्यके अंदर उनका

दिव्य जन्म है); और मनुष्य ज्यों-ज्यों उनकी सत्तामें संवर्द्धित होता है त्यो-त्यो वह इसी दिव्य जन्मको प्राप्त होता है। कर्म करने होंगे यज्ञके तौरपर इन्ही प्रभुके लिये जो हमारे कर्मोके अधीश्वर है, और अपने-आपको अपने आत्मस्वरूपमें उन्नत करते हुए हमें अपनी सत्ताके अदर उनके साथ एकत्व लाभ करना होगा और अपने व्यष्टिभावको इस तरह देखना होगा कि यह उन्हीका प्रकृतिमे आशिक प्राकटच है। सत्तामे उनके साथ ऐक्य लाभ करनेसे हम जगत्के सब प्राणियोके साथ एक हो जाते है और हम दिव्य कर्म करने लगते है, अपने कर्मके तौरपर नही बल्कि लोकसंरक्षण और लोकसग्रहके लिये हमारे द्वारा होनेवाली उन्हीकी क्रियाके तौरपर।

असलमे करनेकी बात यही है और एक बार जहां यह की जा सकी तहा जो कोई भी शकाए अर्जुनके सामने उपस्थित है उन सबका निरसन हो जाता है। प्रश्न फिर हमारे वैयक्तिक कर्मका नही रहता, कारण हमारा व्यक्तित्व जिससे बनता है वह चीज तो फिर केवल इस लौकिक जीवनसे सबध रखनेवाली और इसलिये गौण हो जाती है, प्रश्न तब रहता है केवल जगत्मे हमारे द्वारा भगवदिच्छाके कार्यान्वित होनेका। उसे समझनेके लिये हमें यह जानना होगा कि ये परमेश्वर स्वयं क्या है और प्रकृतिके अंदर इनका क्या स्वरूप है, प्रकृतिकी कर्मपरपरा क्या है और उसका लक्ष्य क्या है और प्रकृतिस्थ पुरुष और इन परमेश्वरके बीच आतरिक संबंध क्या है, ज्ञानयुक्त भक्ति ही जिसकी नीव है। इन्ही बातोंका स्पष्टीकरण गीताके शेष अध्यायोंका विषय है।

"भगवान् पुरुषोत्तमके अन्दर अपने सारे जीवनको ऊपर उठा ले जाना, उन्हींमें निवास करना, उनके साथ एक हो जाना, उनकी चेतनाके साथ अपनी चेतनाको एक कर देना, अपनी खंड प्रकृतिको उनकी पूर्ण प्रकृतिका प्रतिबिंब बना देना, अपने विचार और इंद्रियोंको संपूर्ण रूपसे भागवत ज्ञानके द्वारा अनुप्राणित करना, अपने संकल्पको और कर्मको सर्वथा और निर्दोषतया भागवत संकल्पके द्वारा प्रवृत करना, उन्हींके प्रेमानंदमें अपनी कामनावासनाको खो देना—यही मनुष्यकी पूर्णता है और इसीको गीताने गुह्यतम रहस्य कहा है।"

—श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द-आश्रम प्रेस, पांडीचेरी
153—47—1000